एकला चलो रे

युवाचार्य महाप्रज्ञ

एकला चलो रे

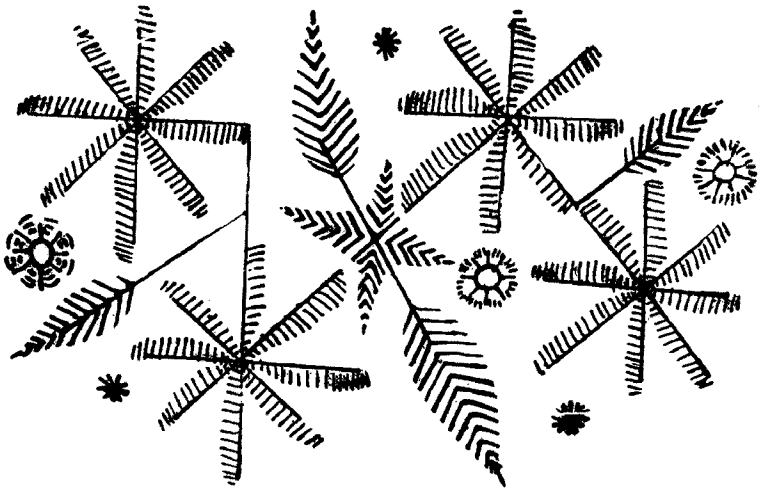

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

एकला चलो रे

संपादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन कोश ।

तृतीय संस्करण : जुलाई, १९८५

मूल्य : पन्द्रह रुपये/**प्रकाशक** : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती लाडनूं, नागौर (राजस्थान) / **मुद्रक** : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

EKLA CHALO RE

Yuvacharya Mahaprajna

Rs. 15.00

प्रस्तुति

व्यक्ति को समुदाय से भिन्न कहने में कठिनाई का अनुभव कर रहा हूं। इसलिए कि जलराशि से विलग पड़ा कण अपना अस्तित्व नहीं रख पाता।

समुदाय को व्यक्ति से भिन्न कहने में भी सरलता का अनुभव नहीं हो रहा है। इसलिए कि जलकणों से भिन्न जलराशि की अपनी कोई अस्मिता नहीं है।

व्यक्ति और समुदाय दोनों को एक कहने में भी समस्या का समाधान नहीं देख रहा हूं। इसलिए कि जलकण पर कभी जलपोत नहीं तैरते और जलराशि को कभी सिर पर नहीं उठाया जा सकता। सरल मार्ग यह है कि जलकण और जलराशि में रहे अभेद और भेद—दोनों को एक साथ देखूं।

'एकला चलो रे' ग्रन्थ में यह प्रयत्न है कि व्यक्ति समूह के बीच में रहता हुआ अपने अकेलेपन का अनुभव करे और समूह की अस्मिता की स्वीकृति व्यक्तित्व की अस्वीकृति से जन्म न ले।

मनोबल की कमी व्यक्ति को समूह में अकेला बना देती है—असहाय बना देती है। जिसका मनोबल प्रबल होता है, वह अकेले में भी समूह जैसा अनुभव करता है। भय के सन्दर्भ में अकेलेपन का अनुभव वांछनीय नहीं है। वह वांछनीय है समुदाय के संदर्भ में। प्रस्तुत कृति में उसके हस्ताक्षर पाठक को उपलब्ध है।

पुलिस ऐकेडेमी, जयपुर में (तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती तथा पुलिस एकेडेमी, राजस्थान के माध्यम से) प्रेक्षा-ध्यान के दो शिविर आयोजित हुए—एक सबके लिए और दूसरा केवल पुलिस के जवानों और अधिकारियों के लिए। उनमें जो चिन्तन-मन्थन हुआ, वह 'एकला चलो रे' इस शीर्षक में गुंफित है।

प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन का कार्य मुनि दुलहराजजी ने किया है। वे इस कार्य में दक्ष हैं। दक्षता और श्रम दोनों के योग से स्वयं सौष्ठव आ जाता है।

आचार्यश्री तुलसी की उपस्थिति ने शिविर को जो गरिमा दी, वह अपने आप में एक आह्लाद का विषय है। आचार्यवर पूरे शिविरकाल में पुलिस ऐकेडमी के समीपवर्ती 'संजय कॉलोनी' में विराजे और शिविरार्थियों को सान्निध्य देते रहे। उनकी अनुकम्पा ने प्रवचन की शृङ्खला को रसमय बनाने में योगदान किया है, उसके लिए मैं तोष की अनुभूति कर रहा हूं।

छापली (मेवाड़)
१८ नवम्बर, १९८२

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

अध्यात्म की पगडण्डियां

१. जागरूकता	१
२. मानसिक सन्तुलन	३
३. आत्म-निरीक्षण	७
४. संकल्प-शक्ति का विकास	६
५. प्रामाणिकता	५१
६. करुणा	६३
७. अनुशासन और सहिष्णुता	७४
८. सह-अस्तित्व और समन्वय	८५
९. व्यसन-मुक्ति	९६
१०. रचनात्मक दृष्टिकोण	१०६

मनोबल के सूत्र

१. अज्ञात द्वीप की खोज	११९
२. अपने प्रभु का साक्षात्कार	१३२
३. शरीर और मन का संतुलन	१४४
४. शिथिलीकरण और जागरूक	१५८
५. आहार और विचार	१६९
६. आहार, नींद और जागरण	१७५
७. एकला चलो रे	१८६
८. सूक्ष्मलोक की यात्रा	१९७
९. प्राण-ऊर्जा का संवर्धन	२०७
१०. पुरुषार्थ की नियति और नियति का पुरुषार्थ	२२०

ध्यान के सोपान

१. हम श्वास लेना सीखें	२३१
२. आध्यात्मिक स्वास्थ्य	२४१

३. सहिष्णुता के प्रयोग २५१
४. प्रश्न तीन : समाधान एक २६१
५. ध्यान : जीवन की पद्धति २७१
६. ध्यान : कठिन या सरल २८०
७. नमस्कार महामंत्र : प्रयोग और सिद्धि २८८
८. तनाव क्यों ? निवारण कैसे ? २९९

अध्यात्म की पगडंडियां

(पुलिस एकेडेमी, जयपुर : ४ मई १९८१ से १५ मई १९८१)

जागरूकता

हम साधना में प्रवेश कर रहे हैं। हम सदा यह याचना करते हैं कि हम अन्धकार से प्रकाश में जाएं, अज्ञान से ज्ञान की ओर जाएं, नश्वर से शाश्वत की ओर जाएं, मृत्यु से अमरमत्व की ओर जाएं। प्रकाश की साधना के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जागरूकता। जो व्यक्ति जागरूक नहीं होता, वह प्रकाश में प्रवेश नहीं पा सकता। नींद में रहने वाला और मूर्च्छा में रहने वाला व्यक्ति प्रकाश की साधना नहीं कर सकता। जागरूकता सफलता का सूत्र है। हम जागरूक बनें। प्रश्न होता है किसके प्रति जागरूक बनें? अपने प्रति या दूसरों के प्रति? आदमी दूसरों के प्रति जागरूक होता है। दूसरा आदमी क्या करता है इसके प्रति वह सजग रहता है। आदमी का दृष्टिकोण ही ऐसा बन गया कि वह दूसरों को देखना पसन्द करता है। दृष्टि सदा बाहर की ओर जाती है। आदमी का मस्तिष्क ऑब्जेक्टिव बन गया है। वह सदा ऑब्जेक्ट की ओर जाता है, कर्म की ओर जाता है।

व्याकरण में दो मुख्य कारक हैं—कर्त्ता और कर्म। कर्त्ता स्वतंत्र होता है और कर्म कर्त्ता के अधीन होता है। पर आज कर्त्ता परतन्त्र बन गया है और कर्म स्वतंत्र हो गया है। मनुष्य का ध्यान कर्म की ओर अधिक जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी चेतना प्रतिक्रियात्मक बन गई। आदमी क्रियात्मक चेतना का जीवन नहीं जीता। वह प्रतिक्रियात्मक चेतना का जीवन जीता है। कोई प्रशंसा करता है तब वह राजी हो जाता है। कोई गाली देता है, निन्दा करता है, तब वह नाराज हो जाता है। मन के अनुकूल कोई घटना सामने आती है, आदमी प्रसन्न हो जाता है। मन के प्रतिकूल कुछ घटित होता है, आदमी अप्रसन्न हो जाता है। सारा जीवन प्रतिक्रियात्मक बन गया है। इसीलिए परिवार में जीने वाला व्यक्ति भी परिवार के सदस्यों के साथ परस्पर संगति नहीं कर पाता, फलतः पारिवारिक संघर्ष होते हैं। जहां पांच-दस आदमी साथ रहते हैं वहां पारस्परिक संगति के बिना शांति नहीं रह सकती। भिन्न रुचि, भिन्न आचार और व्यवहार, भिन्न विचार—ये सब प्रतिक्रिया पैदा करते हैं। यह सच है कि सबकी रुचि, आचार और विचार

एक नहीं हो सकता। इनकी भिन्नता से मस्तिष्क में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। जो लोग बहुत अधिक संवेदनशील होते हैं उनमें प्रतिक्रिया की मात्रा अधिक होती हैं। वे एक छोटी-सी घटना से अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। घटना उन्हें बहुत सताती है। आदमी अपनी प्रतिक्रिया के द्वारा जितना दुःख पाता है, उतना दुःख किसी घटना से नहीं पाता। यह मानना भ्रान्ति है कि घटना दुःख देती है। घटना में दुःख देने की शक्ति नहीं है। दुःख स्वयं की वेदना का फलित है। जो व्यक्ति जितनी संवेदना करता है वह उतना ही ज्यादा दुःखी बनता है और जिस व्यक्ति में संवेदना जितनी कम होती है वह उतना ही कम दुःखी होता है। दुःख भी स्वयं की संवेदना से होता है। पदार्थ में न दुःख देने की क्षमता है और न सुख देने की क्षमता है। सुख और दुःख हमारी संवेदना में होते हैं। जब विद्युत्-प्रवाह के साथ हमारा चित्त जुड़ता है तब हमें सुख-दुःख का संवेदन होने लग जाता है। यह प्रतिक्रियात्मक चेतना इसीलिए बनती है कि हम दूसरों के प्रति अधिक जागरूक हैं।

एक अमेरिकन अभिनेता ने लिखा था—'मैंने अपने जीवन में सैकड़ों अभिनय किए। अभिनय करते-करते मेरी चेतना ऐसी बन गई कि अब मुझे पता ही नहीं है कि मैं कौन हूं। सदा अभिनय में ही अपने आपको पाता हूं। मैं स्वयं क्या हूं—इसका मुझे कोई ज्ञान ही नहीं रहा।'

अभिनेता कौन नहीं है? प्रत्येक आदमी अभिनेता है। हर आदमी एक दिन में सैकड़ों अभिनय करता है। यदि किसी व्यक्ति के प्रातःकाल से सायं-काल तक फोटो लिए जाएं तो सैकड़ों प्रकार के पोज आ सकते हैं। कभी आदमी प्रेम की मुद्रा में होता है, स्नेहिल होता है तो कभी क्रोध की मुद्रा बना लेता है, क्रूर हो जाता है। कभी भक्ति-रस में डूब जाता है तो कभी शक्ति का प्रदर्शन करने लग जाता है। व्यक्तित्व के सैकड़ों प्रकार बन जाते हैं। आदमी सैकड़ों मुद्राएं बना लेता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आदमी अभिनय करता है। वह अभिनेता है। फिल्म में काम करने वाले अभिनेता कहलाते हैं। पर हर आदमी अपने आप में एक अभिनेता है। उसके सैकड़ों रूप हैं, किन्तु यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि तुम कौन हो तो उसका उत्तर कठिन होगा। इसका कारण स्पष्ट होता है कि वह अभिनय करता है, पर अपने आपके प्रति जागरूक नहीं है।

श्वास-दर्शन प्रेक्षाध्यान का प्रथम सोपान है। श्वास हमारे जीवन की बहुत बड़ी घटना है। हमारे व्यक्तित्व के साथ उसका बहुत बड़ा संबंध है।

व्यक्तित्व में जो उतार-चढ़ाव आते हैं, वे सब श्वास के कारण आते हैं। आदमी छोटा श्वास भी लेता है और अभ्यास करके बड़ा श्वास भी लेता है। छोटे श्वास के समय व्यक्तित्व की एक स्थिति बनती है और गहरे श्वास के साथ व्यक्तित्व की दूसरी स्थिति बनती है। जब गुस्सा आता है, उत्तेजना बढ़ती है, बुरे विचार आते हैं, तब श्वास की स्थिति एक प्रकार ही बनती है और साथ ही साथ हृदय की धड़कन भी बदल जाती है श्वास और हृदय की धड़कन का गहरा संबंध है। आवेग की स्थिति में श्वास की संख्या बढ़ जाती है। श्वास की संख्या बढ़ने का अर्थ है—आयु का कम होना। श्वास की संख्या के कम होने का अर्थ है—आयु का दीर्घ होना, स्वास्थ्य का अच्छा होना और शक्ति का व्यय कम होना।

हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—श्वास। श्वास की गति के आधार पर पूरे व्यक्तित्व को मापा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक लोग अपने ढंग से व्यक्तित्व का मापन करते हैं। उनकी प्रश्नावलियां हैं। उनके आधार पर तथा अन्य कुछेक टेस्टों के आधार पर व्यक्तित्व का अंकन करते हैं। श्वास भी व्यक्तित्व के अंकन का महत्त्वपूर्ण साधन है। नाड़ी की गति, हृदय की गति, श्वास की गति—इन तीनों के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है। यह बताया जा सकता है कि व्यक्तित्व का स्वभाव कैसा है? उसका चरित्र कैसा है? वह छिछला है या गम्भीर? उसकी आदतें और रुचियां कैसी हैं? श्वास हर आवेग के साथ बदलता है। हमारे चित्त में आवेग और आवेश होते हैं, वासनाएं और कामनाएं होती हैं। जिस समय जो आवेग जागता है, मस्तिष्क में जो तरंग उठती है, उस समय श्वास भी वैसा ही बन जाता है। यदि श्वास का रासायनिक विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि प्रत्येक आवेग के साथ-साथ श्वास में कितना परिवर्तन आ जाता है।

दीर्घ श्वास एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। श्वास जितना गहरा होगा, आवेग उतना ही कम हो जाएगा। आवेग को कम करने का यह महत्वपूर्ण साधन है।

एक आदमी ने पूछा—गुस्सा बहुत आता है। उसको मिटाने का उपाय क्या है?

मैंने कहा—तुम लम्बा श्वास लेना शुरू कर दो, क्रोध कम हो जाएगा। जब लम्बे श्वास का अभ्यास होगा, तब उत्तेजना अपने आप कम हो जाएगी।

तत्काल गुस्से से छुटकारा पाने का एक उपाय है कि जब गुस्सा उतरने लगे तब एक क्षण के लिए श्वास को रोक दो, नाक बन्द कर दो। श्वास के बन्द होते ही गुस्सा शान्त हो जाएगा। दीर्घ श्वास की स्थिति में कोई आवेग आ ही नहीं सकता।

हम प्रयत्नशील हैं कि हम अपने आप को जानें, अपने आपको देखें, अपने आप से परिचित बनें, अपने प्रति जागरूक हों। इस दिशा में पहला प्रयोग है—श्वासप्रेक्षा, श्वास को देखना। जिस व्यक्ति ने श्वास को देखना शुरू कर दिया, उसने अपने व्यक्तित्व को समझना शुरू कर दिया, अपने आपको समझना शुरू कर दिया। श्वास के प्रति हमारी जागरूकता होती है, इसका गहरा अर्थ होता है कि हम अपने समूचे व्यक्तित्व के प्रति जागरूक बन जाते हैं। हर आदमी यह चाहता है कि उसका व्यक्तित्व प्रभावी बने। शक्तिशाली बने, सफल बने। कोई भी आदमी असफल रहना नहीं चाहता। कोई भी आदमी अपनी ही स्थिति में रहना नहीं चाहता। वह आगे बढ़ना चाहता है, विकास करना चाहता है। परन्तु विकास वही कर पाता है जो अपने व्यक्तित्व का प्रभावी ढंग से निर्माण कर लेता है। जो अपने व्यक्तित्व को निर्मित नहीं करता उसके आगे बढ़ने की सारी सम्भावनाएं समाप्त हो जाती हैं।

व्यक्तित्व के निर्माण का सबसे अच्छा सूत्र है—अपने प्रति जाग जाना। अपने प्रति जागने का सूत्र है—श्वास के प्रति जागरूक हो जाना। जब आदमी श्वास के प्रति जागरूक होता है तब धीरे-धीरे उसमें ऐसी चेतना का विकास होता है जिससे अनावश्यक आने वाले विचार समाप्त हो जाते हैं।

जागरूकता का एक अर्थ होता है—वर्तमान में जीना। आदमी का ज्यादा समय या तो अतीत में बीतता है या भविष्य में बीतता है। वह या तो अतीत की स्मृतियां करता रहता है या भविष्य की कल्पनाएं करता है। वह सपने संजोता रहता है, वर्तमान की ओर ध्यान ही नहीं देता। सफलता का महान सूत्र है—वर्तमान में जीना। जो व्यक्ति वर्तमान को पकड़ना जानता है, वर्तमान में जीना जानता है, वह अपनी शक्तियों का बहुत बड़ा संग्रह कर सकता है, उनका उपयोग कर सकता है। किन्तु आदमी की आदत ही ऐसी बन गई कि वह वर्तमान में जीना नहीं जानता। वह भोजन करने बैठता है पर वास्तव में वह भोजन कहां करता है! वह चिन्तन में बह जाता है, कल्पना करने लग जाता है, अतीत की स्मृतियों में उलझ जाता है, भविष्य के सपने संजोने लग जाता है। वर्तमान में उसको प्राप्त कार्य है भोजन

करना, केवल भोजन करना। पर वास्तव में कौन करता है केवल भोजन ?

एक साधक से पूछा—आप क्या साधना करते हैं ? उसने कहा—जब भूख लगती है तब खा लेता हूं और जब नींद आती है तब सो जाता हूं। यही है मेरी साधना। उसने कहा—'बड़ी सीधी बात है। यह तो मैं भी कर सकता हूं।' साधक से कहा—अच्छा, आओ, भोजन करें। दोनों भोजन करने बैठे। भोजन पूरा हुआ। साधक ने पूछा—भोजन कर लिया? हां कर लिया।

क्या खाया था ?

रोटी, शाक, चावल और मिठाई।

केवल भोजन हीं किया या कुछ स्मृति और कल्पना भी की ?

भोजन करते-करते अनेक स्मृतियां सामने आ गईं। मीठी-मीठी कल्पनाएं भी कीं। भोजन यंत्रवत् चलता रहा और मैं उन स्मृतियों और कल्पनाओं में डूबता रहा। परोसी हुई थाली खाली हो गई। हाथ धोकर उठ खड़ा हुआ। भाई ! तुमने भोजन कहां किया ? भोजन कहां खाया ? तुमने तो स्मृतियां खायी हैं, कल्पनाएं खायी हैं, विचार खाया है, रोटी और मिठाई कहां खायी ?

केवल रोटी और मिठाई खाना बहुत कठिन होता है। आदमी विचार खाता है, कल्पना खाता है। आयुर्वेद का एक सूत्र है—'तन्मना भुञ्जीत'—भोजन करते समय इसी बात का ध्यान रहे कि मैं भोजन कर रहा हूं। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से कही हुई बात है, किन्तु साधना की दृष्टि से यह और अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है। साधक जो काम करे वह उसी में तन्मय बन जाए, उस काममय बन जाए। अन्यथा शरीर एक ओर जाता है और चेतना दूसरी ओर जाती है। व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। 'डुयल पर्सनेलिटी' खतरनाक होती है। उससे जीवन सफल नहीं होता। जहां खंडित व्यक्तित्व होता है, वहां कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।

मुनि ने सेठ की पुत्रवधू से पूछा—श्वसुरजी कहां हैं ? उसने कहा—चमार की दुकान पर गये हैं। श्वसुर उस समय आराधना-कक्ष में आराधना कर रहा था। उसने सुना, तत्काल वह आया और बोला—महाराज ! मेरी पुत्रवधू ने असत्य कहा है। मैं आराधना कर रहा था। इसने जानते हुए भी असत्य कहा है। मुनि ने सेठ से कुछेक प्रश्न पूछे। पूछते-पूछते एक प्रश्न के उत्तर में सेठ ने कहा—धर्म की आराधना तो चल ही रही थी, किन्तु एक बात मन में चक्कर लगा रही थी कि आराधना पूरी होते ही मैं चमार के यहां जाकर जूते खरीदूंगा। जूते फट गए हैं, अच्छा नहीं लगता। कब आराधना

पूरी हो और कब मैं चमार के यहां जाऊं। इसी विचार से आराधना पूरी कर अब बाहर आया हूं। मुनि बोले—सेठजी ! तुम्हारी पूत्रवधू ने सत्य ही तो कहा था। तुम्हारा शरीर आराधना-कक्ष में था, पर चित्त चमार की दूकान के चक्कर लगा रहा था। बिना चित्त के आराधना कैसी ?

प्रत्येक आदमी की आज यही दशा है। उसका चित्त किसी और दिशा में जा रहा है और शरीर किसी भिन्न दिशा में है। हमारा शरीर स्नायविक क्रिया के आधार पर काम करता है। कोई भी व्यक्ति जब पहले दिन सीढ़ियों पर चढ़ता है तब सावधानी के साथ पैर रखता है। दस-बीस बार उन सीढ़ियों पर चढ़ चुकने के बाद पैर अभ्यस्त हो जाते हैं और तब उतना ध्यान देना आवश्यक नहीं होता। पैर अपने आप काम करते रहते है, चढ़ते रहते हैं। ऊंट एक बार जिस रास्ते से गुजर जाता है, फिर मालिक सोता ही रहे, वह मार्ग पर चलता हुआ गन्तव्य तक पहुंच जाता है। इसी प्रकार हमारे शारीरिक स्नायुओं को अभ्यास हो जाता है, फिर काम के साथ चित्त को जोड़ना नहीं पड़ता। काम यंत्रवत् पूरा हो जाता है। हमें पता ही नहीं चलता। इस प्रक्रिया में शक्ति का अधिक व्यय होता है। व्यक्तित्व-विकास के लिए यह जरूरी है कि शक्ति को हम सुरक्षित रखें और उसका सही उपयोग करें। उसके लिए एक सफल सूत्र है—वर्तमान में जीना। जो व्यक्ति वर्तमान में जीने का अधिकतम अभ्यास करता है उसकी शक्तियां बढ़ जाती हैं। 'जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी'—जो जागृत होता है, उसकी बुद्धि बढ़ती है। बुद्धि बढ़ने का अर्थ है—स्मृति-शक्ति का विकास, विवेक-शक्ति का विकास। ऐसे व्यक्ति का चिंतन ज्यादा काम करता है क्योंकि उसकी शक्ति कल्पनाओं में ज्यादा खर्च नहीं होती। यह सच है कि कल्पना भी आवश्यक होती है और स्मृति भी आवश्यक होती है, किन्तु अनावश्यक कल्पना और अनावश्यक स्मृति में शक्ति का दुरुपयोग होता है। इससे बचने का एक सूत्र है—वर्तमान में जीना, जागरूकता का अभ्यास करना। भविष्य और अतीत से हटकर वर्तमान में जीने का अभ्यास करना।

जागरूकता का एक सूत्र है—तन्मय हो जाना, जो काम करे उसमय बन जाना। ध्यान करते समय ध्यानमय बन जाना। रोटी खाते समय रोटीमय बन जाना और पानी पीते समय पानीमय बन जाना।

जब आदमी चलता है, तब दो अवस्थाएं होती हैं। एक होता है चलने वाला और दूसरी होती है गति। काम करने वाला और क्रिया—ये दो अव-

स्थाएं होती हैं। किन्तु सफलता के लिए यह जरूरी है कि यह भेद समाप्त हो जाए। जो इस भेद को समाप्त नहीं कर पाता वह अपने कार्य में, जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। जब तक चित्रकार और चित्त-क्रिया दोनों पृथक् होते हैं तब तक कोई भी व्यक्ति सफल चित्रकार नहीं हो सकता। अच्छा वैज्ञानिक, अच्छा इंजीनियर या अच्छा शिल्पी तभी होता है जब कर्त्ता और क्रिया का भेद समाप्त हो जाता है। कर्त्ता क्रियामय बन जाता है तब वह सफल होता है। चलने वाला स्वयं गति बन जाता है, काम करने वाला स्वयं क्रिया बन जाता है, उस स्थिति में चेतना जागती है और विशेष बातें निष्पन्न होती हैं। तन्मय होने पर सफलता अपने आप वरण करती है, सफलता के लिए प्रयत्न करने की जरूरत ही नहीं होती।

व्यक्तित्व-निर्माण का एक महत्वपूर्ण सूत्र है—छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देना। आज का आदमी बड़ी-बड़ी बातों पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किए रहता है, छोटी बातों पर ध्यान नहीं देता। इतिहास इसका साक्षी है कि आज तक जितने भी बड़े आदमी हुए हैं, उन्होंने जीवन की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान केन्द्रित किया था। बड़ी बात करने वाला काम नहीं कर सकता।

बीमार ने वैद्य से कहा—जुकाम हो गया है, दवा दें। वैद्य बोला—मेरे पास इस छोटी बीमारी का इलाज नहीं है। मैं बड़ी बीमारियों का इलाज करता हूं। निमोनिया की मेरे पास अचूक दवा है। सर्दी का मौसम है। जुकाम है। जाओ, तालाब में स्नान करो। तुम्हें निमोनिया हो जाएगा। फिर मैं तुम्हारा सफल इलाज कर दूंगा।

आदमी की मनोवृत्ति बड़ी अजीब होती है। वह छोटी बात का इलाज करना नहीं चाहता। जब बात बड़ी बन जाती है तब इलाज करता है। उस स्थिति में इलाज हो ही, यह निश्चित नहीं है। रोग बढ़ता जाता है, समस्या बढ़ती जाती है।

हम छोटी बातों पर ध्यान दें। एक अंगुली हिलती है। यह बहुत छोटी-सी बात है। आदमी बैठा है। अनावश्यक ही अंगुली को हिलाता रहता है। शरीर को हिलाता रहता है। बात तो छोटी है पर वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि शरीर को अकारण हिलाते रहने से शक्ति का अपव्यय होता है। हिलती है अंगुली और शक्ति खर्च होती है मस्तिष्क की, क्योंकि एक अंगुली के हिलाने से पूरे दिमाग को कार्यरत रहना होता है। क्रियावाही तन्तु तब हिलता है जब मस्तिष्क के पास तदनुरूप इच्छा का संदेश

पहुंचाता है—अंगुली हिलानी है। इच्छा का यह संदेश मस्तिष्क तक पहुंचेगा और वहां से जब तक फिर आदेश नहीं आ जाएगा तब तक अंगुली नहीं हिलेगी। एक अंगुली को हिलाने के लिए करोड़ों-करोड़ों न्यूट्रोन्स को सक्रिय होता पड़ता है, सारे यंत्र को क्रिया करनी पड़ती है।

जीवन की सफलता का एक सूत्र है—चपलता और स्थिरता का संतुलन, सक्रियता और निष्क्रियता का संतुलन। यह संतुलन बहुत अपेक्षित है। कोरी स्थिरता और कोरी चंचलता—दोनों से काम नहीं बनता। कोरी निष्क्रियता से भी कार्य पूरा नहीं होता और कोरी सक्रियता से भी कार्य पूरा नहीं होता। दोनों का संतुलन अपेक्षित होता है। जब हम चपल होते हैं तब स्थिर रहने का भी अभ्यास करें और जब हम स्थिर होते हैं तब चपल रहने का भी अभ्यास करें। हम चपलता से अभ्यस्त हैं। स्थिर रहना हम नहीं जानते। चपलता अत्यन्त परिचित है, स्थिरता अत्यन्त अपरिचित है। इसलिए स्थिर रहने में हमें कठिनाई होती है। यह अस्वाभाविक नहीं है। ये छोटी बातें हैं, पर हैं बहुत महत्त्वपूर्ण। ये छोटी बातें हमारे व्यक्तित्व को बड़ा बनाने में बहुत सहयोगी बनती हैं। इनसे हमारी शक्तियों का विकास होता है।

भारतीय संस्कृति में शिक्षा के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं। एक है ग्रहणात्मक शिक्षा और दूसरी है आसेवनात्मक शिक्षा। आज की भाषा में कहा जाता है—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक, थियोरेटिकल और प्रेक्टीकल। दोनों बहुत आवश्यक हैं। आज के आर्ट्स फैकल्टी में केवल सैद्धान्तिक ज्ञान कराया जाता है और विज्ञान के छात्र को सैद्धान्तिक और प्रायोगिक—दोनों का ज्ञान कराया जाता है। यह बहुत आवश्यक है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो केवल सैद्धान्तिक ज्ञान पाने वाले विद्यार्थी अधिक निकम्मेपन का अनुभव करते हैं और सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ प्रायोगिक ज्ञान पाने वाले विद्यार्थी जीवन में निकम्मेपन का अनुभव नहीं करते। वे अक्रिय रहना नहीं चाहते। इसलिए दोनों का संतुलन बहुत अपेक्षित लगता है।

आज जीवन के सम्बन्ध में जो शिक्षा मिलती है, व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो शिक्षा मिलती है, वह सैद्धान्तिक अधिक है, प्रायोगिक कम है।

साधना-शिविर में हम प्रायोगिक बात पर अधिक बल देते हैं। श्वास को देखना, श्वास के प्रति जागरूक होना, यह प्रायोगिक बात है। यह किसी धर्म या संप्रदाय की बात नहीं है। श्वास प्रत्येक व्यक्ति के पास है। वह अपना निजी होता है। उसको देखने के लिए किसी उपकरण की जरूरत नहीं होती,

किसी सामग्री की जरूरत नहीं होती। यह व्यक्तिगत प्रश्न है। अपना-अपन श्वास और अपने श्वास को जानना, देखना, अनुभव करना। यह नितांत वैयक्तिक प्रश्न है, वैयक्तिक प्रयोग है। यद्यपि यह प्रयोग समूह में हो रहा है, पर है वैयक्तिक। अपने-अपने श्वास को देखना, अनुभव करना—यह हमारी शिक्षा का प्रायोगिक रूप है। हम केवल सैद्धान्तिक शिक्षा को ही शिक्षा न मानें। सैद्धान्तिक शिक्षा के द्वारा हमारी बौद्धिक चेतना का विकास होता है और प्रायोगिक शिक्षा के द्वारा हमारी अनुभव की चेतना का विकास होता है।

शिक्षा के बाधक तत्त्व पांच हैं—अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य। व्यक्ति में अहंकार होता है। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो अहंकार से मुक्त हो। अहंकार की ग्रन्थि और ममकार की ग्रन्थि—इन दो ग्रन्थियों में प्रत्येक व्यक्ति बन्धा हुआ है। व्यक्ति अहंकार के कारण सोचता है—यह क्यों करूं ? यह प्रयोग क्यों करूं ? प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है ? अहंकार बहुत बड़ी बाधा है। व्यक्ति में अहंकार की भावना के साथ हीनता की ग्रंथि भी सघन होती है। ये दोनों ग्रंथियां विकास में बाधक बनती हैं। हमें इन ग्रन्थियों की सीमा को पार करना है। हमारा व्यक्तित्व ग्रहणशील बने। प्रत्येक कल्याणकारी बात को हम ग्रहण करने के लिए तैयार रहें। हर आदमी को इतना विनम्र विद्यार्थी रहना जरूरी है, पूरे जीवन भर विद्यार्थी रहना जरूरी है, जिससे उसकी ग्रहणशीलता प्रतिदिन बढ़ती रहे। कहीं प्रतिरोध न आए। अहंकार बहुत बड़ी बाधा है।

दूसरी बाधा है—क्रोध। जब क्रोध उभरता है तब शिक्षा का ग्रहण नहीं हो सकता। उत्तेजना की स्थिति में कोई किसी बात को स्वीकार नहीं कर सकता। शांत स्थिति में ही कोई बात स्वीकृत होती है।

तीसरी बाधा है—प्रमाद। प्रमाद का अर्थ है—मूर्च्छा की चेतना। हर बात में मूर्च्छा आती है। नशीली वस्तुओं का सेवन करना ही प्रमाद नहीं होता। बिना मादक वस्तुओं के सेवन से भी हमारी चेतना में मूर्च्छा की स्थिति होती है। प्रमाद का एक अर्थ है—भूल जाना। आदमी भूल जाता है। उसमें तब समय का बोध नहीं रहता कि उस समय क्या करना है क्या नहीं करना है। कर्तव्य का बोध विस्मृत हो जाता है। स्मृति और विस्मृति—दोनों साथ-साथ चलती हैं। स्मृति हमारे जीवन के लिए आवश्यक है तो विस्मृति भी हमारे जीवन के लिए आवश्यक है। कोरी स्मृति ही हो तो आदमी तनाव से भर जाता है। कोरी विस्मृति ही हो तो आदमी का व्यवहार नहीं चल सकता। स्मृति और एक विस्मृति दोनों का सन्तुलन अपेक्षित

है। कुछेक व्यक्तियों में विस्मृति की बड़ी मात्रा होती है। व्यंग्य है। वह हमारी चेतना की स्थिति को बहुत स्पष्ट करता है। व्यंग्य तीखा है।

दो बहनें मिलीं। परस्पर बात चल पड़ी। एक स्त्री ने कहा—मेरा पति बहुत भुलक्कड़ है। एक दिन बाज़ार में गया सब्जी लाने के लिए। थैला हाथ में लिए चला। बाजार में घूम-घामकर घर लौटा। आते ही पूछा—अरे! मैं बाजार गया था, पर याद नहीं रहा कि मैं बाजार क्यों गया हूं? कितना भुलक्कड़!

दूसरी स्त्री बोली—अरे! बस इतना ही भुलक्कड़! मेरा पति इससे बहुत आगे है। यदि उसके भुलक्कड़पन की बात सुनोगी तो आश्चर्यचकित रह जाओगी। एक दिन की बात है। वह अपने मित्रों के साथ बाजार में घूम रहा था। अकस्मात् ऐसा योग मिल गया कि मैं उधर से निकली। मुझे देखते ही उसने कहा—बहनजी! नमस्ते। आपको कहीं देखा है। आपकी सूरत परिचित-सी लगती है। कितनी विस्मृति!

विस्मृति एक व्यापक बीमारी है। कुछेक लोग इसके शिकार हो जाते हैं। उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

जीवन में स्मृति और विस्मृति का सन्तुलन होना चाहिए। हम याद भी रख सकें और भूल भी सकें। याद रखना ही पर्याप्त नहीं होता, भूलना भी आवश्यक होता है। जीवन की अनेक घटनाएं ऐसी होती हैं जिनको भूल जाना ही श्रेयस्कर होता है। कुछ प्रिय घटनाएं भी भूलने योग्य होती हैं और अप्रिय घटनाएं भी भूलने योग्य होती हैं। यदि उनका भार ढोते ही जायें तो दुःख का कहीं अन्त नहीं होगा। हम आवश्यक बातों को याद रखें और अनावश्यक बातों को भूलते चले जायें।

अपने कर्तव्य की विस्मृति शिक्षा की बहुत बड़ी बाधा है।

चौथी बाधा है—रोग। शारीरिक रोग भी शिक्षा में बाधा उपस्थित करता है। रुग्ण शरीर से उतना प्रयत्न नहीं किया जा सकता जितना शिक्षा के लिए आवश्यक होता है।

पांचवी बाधा है—आलस्य। यह सबसे बड़ी बाधा है। आदमी अलसाया हुआ रहता है। उससे स्वतन्त्र चेतना का विकास नहीं होता। जहां आदमी को यह अनुभूति होती है कि यह काम करना पड़ रहा है, वहां आदमी अलसायेगा, बहाना निकालने का प्रयत्न करेगा। जहां आदमी अपनी स्वतन्त्र इच्छा और स्वतन्त्र चेतना से काम करता है, वहां आलस्य नहीं सताएगा।

शिक्षा के विकास में आलस्य बहुत बड़ी बाधा है।

चाहे भौगोलिक वातावरण एक कारण हो, चाहे कोई दूसरा कारण हो, भारतीय व्यक्ति में आलस्य की मात्रा अधिक है। जयप्रकाश नारायण एक घटना सुनाते थे—

एक बार वे जापानी मित्रों के साथ यात्रा कर रहे थे। जी०टी० रोड पर यात्रा चल रही थी। आसपास के गांव दिख रहे थे। जापानी मित्रों ने जयप्रकाश जी से कहा—अरे! हमने तो सुना था कि भारत बहुत गरीब देश है, पर हमें तो लगता है कि यह बहुत समृद्ध देश है, क्योंकि हमने देखा कि स्थान-स्थान पर लोग एकत्रित होकर बैठे हैं, तम्बाकू पी रहे हैं, गप्पें कर रहे हैं। गरीब देश के लोगों के पास इतना समय ही कहां रहता है कि वे परस्पर गप्पें करते रहें। वे तो निरन्तर श्रम करते रहते हैं। इस स्थिति से तो यह ज्ञात होता है कि यहां के लोग समृद्ध हैं। गरीब देश का आदमी इतना कर्मठ और श्रमशील होता है कि उसके पास निकम्मा समय ही नहीं होता है।

भारत के लोगों में आलस्य अधिक है। इसका कारण भौगोलिक भी हो सकता है। यह गरम देश है। गरम देश में आलस्य ज्यादा होता है। गरमी में हमारे हृदय की धड़कन तेज हो जाती है। गरिष्ठ भोजन करने से भी हृदय की धड़कन बढ़ती है और आवेश में भी हृदय की धड़कन बढ़ती है। रक्त की क्रिया में भी अन्तर आ जाता है और आलस्य की मात्रा भी बढ़ जाती है।

इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में ये पांच बाधाएं हैं—अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।

जागरूकता का विकास अपेक्षित लगता है, पर उन लोगों में जागरूकता कम मिलती है जिनका जीवन केवल यांत्रिक होता है, कोरा अनुशासनात्मक होता है। भारतीय संस्कृति का यह प्रखर स्वर रहा है कि बाहरी अनुशासन के साथ-साथ भीतरी अनुशासन भी रहे। परानुशासन के साथ-साथ आत्मानुशासन भी जागे। जहां केवल परानुशासन होता है और आत्मानुशासन नहीं होता, वहां व्यक्तित्व का विकास नहीं होता। उससे केवल यांत्रिक विकास हो सकता है।

पुलिस, सेना, मजदूर आदि-आदि में प्रतिबद्ध अनुशासन होता है। वहां आत्मानुशासन नहीं होता। जहां आत्मानुशासन नहीं होता, वहां जागरूकता का विकास नहीं हो सकता।

आज भारतीय जीवन के पूरे घटकों में कमियां और खामियां महसूस हो

रहीं हैं। कोई भी घटक पूर्ण स्वस्थ नहीं है। इसलिए लोग चाहते हैं कि जीवन का क्रम बदले, पद्धति बदले। यह तभी संभव है जब आत्मानुशासन और आरोपित अनुशासन में संतुलन स्थापित हो। कोरे बाहरी नियंत्रण से चेतना यांत्रिक बन जाती है। उससे स्वतंत्र चेतना का विकास नहीं हो सकता।

ध्यान का पूरा प्रयोग आत्मानुशासन को जगाने का प्रयोग है। यह आरोपित अनुशासन के लिए नहीं है। ध्यान का अभ्यास करने वाले साधक इसका संकल्प करें कि वे आरोपित अनुशासन को छोड़ देंगे। वे स्वतंत्र चेतना से काम करें। जहां प्रतिबद्ध अनुशासन होता है, वहां अनेक घटनाएं घटित होती हैं, जो अवांछित होती हैं। जहां आत्मानुशासन की चेतना जागती है, स्वतंत्र चेतना की अनुभूति होती है, तब जिस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण होता है वह अनोखा और विशिष्ट होता है। जागरूकता का अभ्यास आत्मानुशासन को जगाने का प्रयत्न है। इस प्रयत्न में प्रयोग कराने वाला और प्रयोग करने वाला—दो भूमिका पर नहीं होते। वे दोनों एक ही भूमिका पर होते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में भूमिकाएं समाप्त हो जाती हैं। वहां प्रयोग करानेवाला भी वैसा ही है और प्रयोग करने वाला भी वैसा ही है। वहां न कोई आदेश देने वाला होता है और न कोई आदेश मानने वाला होता है। वहां आदेश की भाषा समाप्त हो जाती है, केवल चेतना का सम्बन्ध जुड़ता है, केवल मैत्री का सम्बन्ध जुड़ता है, केवल आत्मा से आत्मा का सम्बन्ध जुड़ता है। इस भूमिका में स्वतंत्र चेतना का अनुभव होता है। बतलाने वाला भी चेतन होता है और करने वाला भी चेतन होता है। दोनों चेतन होते हैं। जहां चेतना की भूमिका समाप्त होती है वहां भेद समाप्त हो जाते हैं। अध्यात्म की ही भूमिका ऐसी है, जहां केवल चेतना बसती है, आदमी भी समाप्त हो जाता है, समुदाय और मान्यताएं समाप्त हो जाती हैं। धारणाएं भी नहीं बचती। केवल चेतना बचती है। हम चेतनावान् हैं। हमारे में ज्ञान की शक्ति है, बस यह बचता है। यही व्यक्ति की स्वतंत्रता का बोधक है। पदार्थ में चेतना नहीं होती, तो वहां स्वतंत्रता भी नहीं होती। मनुष्य में चेतना होती है तो उसमें स्वतन्त्रता भी है। एक चींटी रेल की पटरी पर चल सकती है और इच्छा के अनुसार नीचे भी उतर सकती है। वह स्वतंत्र है। एक गाड़ी पटरी पर चलती है तो जब चाहे वह नीचे नहीं उतर सकती। वह परतंत्र है। उसमें कोरा यंत्र है। उसमें चेतना नहीं है। जिसमें चेतना होती है उसी में इच्छा होती है।

हम इच्छाशक्ति का प्रयोग करें। जब स्वतंत्र चेतना का विकास होगा, तब जागरूकता बढ़ेगी। इसके साथ ही साथ जीवन की सफलता भी घटित होगी।

मानसिक संतुलन

एक ही प्रकार की जीवन-पद्धति रहे, यह अच्छा नहीं होता। हमारी दुनिया में शाश्वत और अशाश्वत दोनों बातें होती हैं। कुछ बातें शाश्वत होती हैं, कुछ बातें परिवर्तनशील होती हैं। परिवर्तनशील यदि न बदले तो वह अच्छा नहीं होता। एक समय ऐसा था जब मनुष्य का आदि समाज था, आदि युग था और आज बहुत विकसित युग हो गया है। आदमी प्रस्तरयुग से अणुयुग तक पहुंच गया है। अगर प्रस्तरयुग की भावनाएं, वृत्तियां और प्रवृत्तियां इस युग में रहें तो यह उचित नहीं होता।

एक समय था कि मनुष्य बहुत जल्दी तनाव में आ जाता, बहुत जल्दी आवेश में आ जाता और बहुत जल्दी आक्रामक बन जाता। तत्काल तलवारें निकल जातीं और शस्त्र चल जाते। किन्तु आज के अणुयुग में जैसे तलवारें तत्काल निकल जातीं वैसे अणु-अस्त्र भी तत्काल काम में आ जाये तो संसार की क्या दशा हो सकती है, इसे हम सब जानते हैं। आज मनुष्य के लिए संतुलन बहुत ज्यादा जरूरी है, संयम बहुत ज्यादा जरूरी है। कुछेक लोगों का असंतुलन सारे संसार को संहार की स्थिति में ले जा सकता है। इसलिए आज के लोग उतने असंतुलित नहीं हैं और असंयत भी नहीं हैं, इस अर्थ में। पुराने जमाने की बात तो हम सुनते है कि बात-बात में तलवारें निकल जातीं, लाठियां चल पड़तीं। मैं यह नहीं कहता कि आज आवेश कम हो गया है। आज भी मनुष्य में काफी आवेश है, काफी तनाव है। फिर भी जो अधिक जिम्मेवार लोग हैं वे अपने आवेश को क्रियान्वित नहीं करते।

असंतुलन का एक बड़ा कारण है—तनाव। तीन प्रकार का तनाव होता है—शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक। इन तीनों प्रकार के तनावों में सबसे ज्यादा खतरनाक होता है भावनात्मक तनाव। यह वैयक्तिक है। व्यक्ति में अपनी भावनाएं होती हैं, अपने आवेश और आवेग होते हैं। उन आवेगों पर यदि नियन्त्रण रखने का अभ्यास नहीं किया जाता है तो वे आवेग बढ़ते चले जाते हैं और बढ़ते-बढ़ते इतने खतरनाक बन जाते हैं कि व्यक्ति को सीमा से बाहर ले जा सकते हैं। भारी असंतुलन पैदा हो जाता है। यदि

हम अपने आवेगों पर नियन्त्रण करना सीखें तो मानसिक संतुलन अपने आप सध जाता है।

क्रोध आना और क्रोध को क्रियान्वित करना—ये दो बातें हैं। क्रोध आया, अपने तक सीमित रहा। बुराई तो है, हानि भी है, परिणाम भी अपने लिए अच्छे नहीं होते, स्वास्थ्य के लिए अच्छा परिणाम नहीं होता, किन्तु सामाजिक संपर्कों में कोई अन्तर नहीं आता। व्यक्ति को स्वयं भुगतान पड़ता है, सामाजिक सम्पर्क उनसे नहीं बिगड़ते। किन्तु क्रोध जब क्रियान्वित हो जाता है, तब सामाजिक सम्पर्कों में भी अन्तर आ जाता है। पुराने जमाने की एक घटना है कि एक राजपूत के भाई को किसी ने मार डाला। उसके मन में प्रतिक्रिया हुई। यह स्वाभाविक है। हर आदमी में प्रतिक्रिया होती है। उसने सोचा—मैं अपने भाई का बदला लूं। बहुत प्रयत्न किया। जो हत्यारा था, उसका बदला लेने का काफी प्रयत्न किया। काफी परिश्रम के बाद वर्षों बाद उसे वह पकड़ सका। पकड़कर घर पर लाया और मारने की तैयारी कर रहा था। अपराधी ने सोचा—बचने का कोई उपाय नहीं है। मरना ही होगा। तत्काल एक बात उसे सूझी। तिनका पड़ा था, तिनका उठाया और मुंह में डाल लिया। उसने कहा—मैं तेरी गाय हूं। बड़ा विकराल गुस्सा। मां सामने बैठी थी। मां ने कहा—बेटा! अब क्रोध को सफल नहीं किया जा सकता। जब यह तेरी गाय बन गया, अब क्रोध को सफल नहीं किया जा सकता। सब जगह क्रोध को सफल नहीं करना चाहिए। कहीं-कहीं क्रोध को विफल भी करना होता है। तलवार रख दी और बिलकुल शान्त हो गया। क्रोध आना एक बात है, और उसकी क्रियान्विति दूसरी बात है।

प्रत्येक आवेग के लिए दो बातें होती हैं—आवेग का उत्पन्न होना और आवेग का क्रियान्वयन करना। आना भी अच्छा नहीं। अपने लिए प्रत्येक आवेग हानिकारक होता है। किन्तु उसका क्रियान्वयन तो सारे सामाजिक सम्पर्कों को ही बिगाड़ देता है। सारे सम्बन्धों को बिगाड़ देता है। इसलिए हर आदमी के लिए, चाहे वह छोटा आदमी हो, चाहे बड़ा आदमी हो, चाहे शासन करने वाला हो, चाहे शासित हो, कोई भी व्यक्ति हो, प्रत्येक के लिए आवेग पर नियन्त्रण पाना बहुत आवश्यक है। प्राचीन काल में राजा के लिए नियम बनाये गये। महामंत्री कौटिल्य ने, भृगुजी ने, और भी हिन्दुस्तान में राजनीति के विद्वान् हुए हैं, उन्होंने राजा के लिए पूरी आचार-संहिता बनाई। उन्होंने कहा कि राजा को 'स्ववशी' होना चाहिए। उसे अपने पर नियन्त्रण

रखना चाहिए। यदि राजा नियन्त्रण खो देता है तो सारी प्रजा नष्ट हो जाती है। राजा के लिए बहुत आवश्यक था कि वह इन्द्रियजयी बने, आवेगों पर नियन्त्रण करने वाला बने। क्यों आवश्यक था ? जो शासक अपने आवेगों पर नियन्त्रण नहीं कर पाता, वह परिस्थिति को सही ढंग से समझ नहीं सकता। आवेगशील आदमी कभी परिस्थिति का सही अंकन नहीं कर सकता। दूसरी बात है कि वह सही निर्णय नहीं ले सकता। आवेश और तनाव में आया हुआ आदमी कोई सही निर्णय नहीं ले सकता। और सही निर्णय नहीं होता, उस स्थिति के परिणाम का बोध समाप्त हो जाता है।

हमारे सामने दो स्थितियां होती हैं। एक है प्रवृत्ति की स्थिति और दूसरी है परिणाम की स्थिति। आदमी प्रवृत्ति पर ही सारा निर्णय ले तो बहुत गलत हो जाता है। हमारे निर्णय होने चाहिए परिणाम पर। प्रवृत्ति-काल में एक बात अच्छी लगती है किन्तु परिणाम जब अच्छा नहीं होता तो प्रवृत्ति में अच्छा लगने का अर्थ नहीं होता। एक बीमार आदमी है। पेट की बीमारी है। वह पूरा पचा नहीं सकता। अब खाने में गरिष्ट वस्तु सामने आ गई। मिठाई आ गई। बहुत भारी-भरकम चीज है। खाने में बहुत अच्छी लगती है। जीभ पर इसका स्वाद है। किन्तु परिणाम को न सोचे और खा जाये तो क्या परिणाम होगा ? अपच की बीमारी बढ़ेगी और मरणासन्न हो जाएगा।

निर्णय और परिणाम—ये हमारे सामने जुड़े हुए रहने चाहिए। हम किसी भी वस्तु को काम में लें तो केवल प्रवृत्तिकाल को न देख, परिणामकाल को भी देखें। यह सोचें—इसका परिणाम क्या होगा ? आवेश में चांटा भी लगाया जा सकता है। लाठी भी उठाई जा सकती है। गोली भी चलाई जा सकती है। और कुछ भी किया जा सकता है। वह तो आवेश की स्थिति है। आदमी के आवेश में सब कुछ संभव हो सकता है। प्रवृत्ति के आधार पर निर्णय भी लिया जा सकता है। किन्तु इस बात को सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा ? जब परिणाम का चिन्तन हमारे सामने स्पष्ट होता है तो स्थिति बदल जाती है। परिणाम को नहीं सोचते तो स्थिति उलझ जाती है। भारतीय दर्शन ने प्रवृत्ति को बहुत महत्त्व नहीं दिया। हमारा दर्शन परिणामवादी रहा है। परिणाम में अच्छा होता है—वह अच्छा है और परिणाम में बुरा होता है—वह बुरा है। अच्छाई और बुराई का मानदण्ड प्रवृत्ति को नहीं माना गया, किन्तु परिणाम को माना गया। यह परिणाम की स्थिति

लुप्त हो जाती है। आवेग के क्षणों और आवेश की स्थिति में मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। प्रत्येक शासक के लिए यह आवश्यक है कि वह आवेगों पर नियन्त्रण पाये।

असंतुलन के तीन मुख्य कारण हैं—तनाव, आवेग और अपने प्रति एक निराशा की भावना। जब निराशा की भावना होती है तो हर बात में संतुलन बिगड़ जाता है।

चौथा कारण है—बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव। हम बहुत जल्दी प्रभावित होते हैं। एक है मनःस्थिति और दूसरी है परिस्थिति। परिस्थिति के अनुकूल हमारी मनःस्थिति बन जाती है। यद्यपि हमारी चेतना की स्थिति है मनःस्थिति, वह स्वतन्त्र होनी चाहिए। किन्तु परिस्थिति जैसी होती है, आदमी वैसा ही बन जाता है। बहुत कम लोग अपनी मनःस्थिति को परिस्थिति से मुक्त रख पाते हैं। और जो परिस्थिति से मुक्त रख पाते हैं वे ही लोग अच्छा निर्णय ले सकते हैं और अच्छा काम कर सकते हैं।

एक घटना है ढाई हजार वर्षों पहले की। प्रसेनजित मगध का राजा था। उसने सोचा—मुझे अपने उत्तराधिकारी को नियुक्त करना है। पुरानी परम्परा थी कि जो बड़ा लड़का होता, वह राजा का उत्तराधिकारी बन जाता। किन्तु प्रसेनजित ने सोचा कि मैं ऐसा नहीं करूंगा।

कभी-कभी ऐसा होता है इतिहास में कि कोई आदमी स्वतन्त्रता से काम करना चाहता है। बहुत सारे लोग तो लकीर के फकीर होते हैं, परम्परा के अनुसार चलते हैं, किन्तु कुछ लोग परम्परा से हटकर भी अपना काम करते हैं। और परम्परा से हटने वाले लोगों ने ही नया-नया विकास किया है। केवल रूढ़ि पर चलना, परम्परा पर चलना कोई नयी बात नहीं हो सकती और उसमें कोई नया विकास नहीं हो सकता।

महाराजा प्रसेनजित ने सोचा कि मैं इस बात को नहीं मानता और मैं इस परम्परा को तोड़कर, मेरे सौ पुत्र हैं, उनमें से जो योग्यतम होगा उसे उत्तराधिकारी बनाऊंगा। उन्होंने उपाय सोचा कि कसौटी करूं, परीक्षा करूं, योग्यता को परखूं। अपने सारे अधिकारियों को सारी व्यवस्था, सारी योजना बता दी, समझा दिया और सौ राजकुमारों को भोजन के लिए एक पंक्ति में बैठा दिया। सौ थाल परोस दिए गये। भोजन की तैयारी होने वाली है। महाराज ऊपर बैठे हैं झरोखे में। सब देख रहे हैं। जैसे ही भोजन की तैयारी हुई, आदेश था कि जैसे ही सूचना मिले सबको भोजन शुरू करना

है। इधर भोजन की सूचना मिली और उधर दरवाजे खुले। चारों तरफ से शिकारी कुत्ते झपट पड़े। बड़े खूंखार कुत्ते! भगदड़ मच गई। सभी राजकुमार प्रभावित हो गए। मनःस्थिति का सन्तुलन समाप्त हो गया। भोजन छोड़-छोड़कर वे भागने लगे। सारे राजकुमार भाग गये। केवल एक बचा, जो सबसे छोटा था। उसका नाम था श्रेणिक। वह बैठा रहा, भागा नहीं। भोजन कर लिया, पूरा भोजन किया। भोजन के बाद उठा और चला गया। दूसरा दिन हुआ। राजसभा जुड़ी। सौ राजकुमार सामने बैठे हैं। पूरी मंत्री परिषद्, अधिकारी, संसद के और नगर के कुछ प्रतिष्ठित लोग बैठे हैं। राजा ने कहा कि मैं आज अपने उत्तराधिकारी की घोषणा करना चाहता हूं। लोगों को आश्चर्य हुआ। घोषणा की कौन-सी बात है। बड़ा राजकुमार ही तो होगा। राजा ने और स्पष्ट करते हुए कहा—मैं इस परम्परा को तोड़ना चाहता हूं। मैं उसे अपना उत्तराधिकारी बनाऊंगा जो सबसे योग्य होगा। मैंने योग्यता की कसौटी कर ली है। वह कसौटी अब आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूं। सारे राजकुमार भी चौकने हो गये। हर व्यक्ति सोचने लगा कि किसका नाम आयेगा। शायद यही सोचने लगे कि मेरा नाम आएगा। व्यक्ति के मन में एक भावना होती है, आकांक्षा होती है। सब अपने-अपने मुंह की ओर देखने लगे। लोगों में भी बड़ा कुतूहल पैदा हो गया, सबमें जिज्ञासा जाग गई। बड़ी उत्कण्ठा पैदा हो गई कि क्या होगा? राजा ने कहा—तुम लोग कल भोजन करने बैठे। भोजन किया? सब-के-सब एक साथ बोले—'महाराज! भोजन कैसे करते? आपके अधिकारी बिलकुल व्यवस्था को जानते ही नहीं। व्यवस्था का कोई पता नहीं। इतने गैरजिम्मेवार हैं कि अपना दायित्व भी नहीं निभाते। हम तो भोजन करने बैठे और उधर से शिकारी कुत्ते भीतर आ गये। उन्होंने कोई व्यवस्था ही नहीं की, कैसे भोजन करते?

क्या किसी ने भोजन नहीं किया?

श्रेणिक बोला—महाराज! मैंने किया। राजा बोला—तुम मूर्ख हो। ये सारे समझदार हैं। शिकारी कुत्ते आये। भोजन छोड़-छोड़कर भाग गये। तुम वहां कैसे रहे? कुत्ते काट खाते तो क्या होता? श्रेणिक बोला—मैं मूर्ख नहीं। जो अकेला खाना चाहता है, कुत्ते उसे काटते हैं। जो दूसरों को खिलाना जानता है, कुत्ते उसे कभी नहीं काटते। मेरे सामने सौ थाल पड़े थे। कुत्ते आते गये, थाल सरकाता रहा। वे भी खाते रहे, मैं भी खाता

रहा। अकेला खाता है, उसे कुत्ते काटते हैं। दूसरों को खिलाना जानता है, उसे कुत्ते कभी नहीं काटते।

उसे उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। वह प्रभावित नहीं हुआ परिस्थिति से, वह अप्रभावित रहा। समझदारी से काम लिया। जो व्यक्ति परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता, जो नहीं डरता, जो भय नहीं करता, जो अपने संतुलन को नहीं खोता और ठीक निर्णय लेता है अपनी मानसिक संतुलन की दिशा के कारण, वह पराजित नहीं होता, परास्त नहीं होता।

प्रायः यह होता है कि हमारी मनःस्थिति परिस्थिति के अनुकूल बन जाती है। विकास का सूत्र है—मनःस्थिति परिस्थिति के अनुकूल न बने किन्तु परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे। एक गति होती है अनुस्रोत में और दूसरी गति होती है प्रतिस्रोत में। ये दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—अनुस्रोत और प्रतिस्रोत। स्रोत के पीछे चलना और स्रोत के प्रतिरोध में चलना। अनुस्रोतगामी वह होता है जो स्रोत के साथ-साथ चलता है। प्रतिस्रोतगामी वह होता है जो स्रोत के प्रतिकूल चलता है। स्रोत में बह जाना, स्रोत के साथ चलना कोई बड़ी बात नहीं है। वह तो जीवन की एक सामान्य घटना है। विशेष घटना वह होती है जो स्रोत के प्रतिकूल चलता है। ध्यान का अभ्यास और मानसिक संतुलन का अभ्यास प्रतिस्रोत-गामी अभ्यास है।

जी चाहता है कि मन खूब भटके। चंचल बना रहे। अब उस मन को स्थिर बनाना, अस्थिर से स्थिर करना, यह प्रतिस्रोत में चलना है। आदमी चाहता है कि श्वास का पता ही न चले। श्वास के प्रति भला ध्यान देने की क्या जरूरत है? यह तो बेचारा ऐसा है कि बिना ध्यान दिये आता है और हमारी यह मनोवृत्ति है कि बिना ध्यान दिये आये उसकी उपेक्षा करना हमारा पहला धर्म है। हम उस व्यक्ति की सबसे ज्यादा उपेक्षा करते हैं जो उपेक्षा करने पर भी अपना काम करता चला जाता है। श्वास की आप कितनी ही उपेक्षा करें किन्तु आता है तब तक आता ही रहेगा। चाहे आप सोये रहें, चाहे जागते रहें। चलते रहें, चाहे बैठे रहें। कुछ भी करें। यह एक ऐसा बेचारा है कि दुनिया में इससे बढ़कर कोई बेचारा नहीं। यह हर स्थिति में आपका साथ देता है पर इतना खतरनाक भी है कि जिस दिन साथ देना छोड़ता है उस दिन बस, सब कुछ समाप्त। फिर भी हम श्वास की बड़ी उपेक्षा करते हैं। कभी भी ध्यान दिया? यह भी कोई ध्यान देने

जैसी बात है ? कभी ध्यान नहीं देते। जबकि श्वास हमारे सारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मानदंण्ड बना हुआ है, एक सूत्रधार बना हुआ है, जिसके आधार पर हमारे जीवन की सारी गतिविधियां बदलती हैं, उसके आधार पर हमारे जीवन की सफलता और असफलता को जाना जा सकता है। मानसिक संतुलन तब तक नहीं हो सकता जब तक श्वास का संतुलन नहीं होता। हम दीर्घ श्वास-प्रेक्षा का प्रयोग कर रहे हैं। बहुत छोटा लगता है। आप पुलिस-वालों को यह छोटी बात लगती होगी कि हम तो इतने-इतने बड़े अभ्यास कर चुके। परेड ग्राउन्ड में न जाने क्या-क्या कर चुके और इतने बड़े हो गये, पढ़े-लिखे भी हैं, इतना काम किया है और अब हमें बताया जा रहा है कि दीर्घ श्वास लें। बड़ी छोटी-सी बात लगती है। अटपटी बात लगती होगी कि यह क्या ? क्या हम बच्चे हैं कि इस प्रकार की बातें बतलाई जाएं। सहज ही प्रश्न पैदा हो सकते हैं, पर मैं यह मानता हूं कि आज हिन्दुस्तान की लगभग ७० करोड़ जनता यदि सही ढंग से श्वास लेने लग जाये तो शायद एक नयी पीढ़ी का निर्माण हो सकता है। नया चिन्तन, नया जीवन और जीवन की नयी पद्धति का निर्माण हो सकता है। हमारी गलत श्वास पद्धति के कारण इस प्रकार की मनोविकृतियां पैदा होती हैं कि आने वाली पीढ़ी भी इससे बच नहीं पाती। श्वास का इतना प्रभाव होता है हमारे जीवन पर। आवेगों पर तब तक नियन्त्रण नहीं किया जा सकता, जब तक सही ढंग से श्वास नहीं लिया जाये। सही ढंग से श्वास लेना बड़ी अद्भुत बात है।

जयपुर में दूसरा प्रशिक्षण शिविर चल रहा था। डॉ० कासलीवाल, जो मेडिकल साइन्स विशेषज्ञ हैं, उपस्थित थे। मैंने कहा—श्वास लेते समय पेट फूलना चाहिए और छोड़ते समय पेट सिकुड़ना चाहिए। उन्होंने कहा—यह कैसे होगा ? बड़ा आश्चर्य हुआ उनको। कुछ विद्यार्थी कहते हैं कि हमें तो पुस्तकों में यही पढ़ाया जाता है कि सीना फूलना चाहिए; पेट फूलने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि हम श्वास लेते हैं तो श्वास फेफड़े से आगे नहीं जाता। पेट और फेफड़े के बीच में एक मांसपेशी होती है—डायाफ्राम। तनुपट कहा जाता है हिन्दी में जिसे। वह एक मांसपेशी होती है तो श्वास इसके नीचे जाता नहीं। ठीक बात है, श्वास उसके नीचे नहीं जाता किन्तु जब डायाफ्राम नहीं सरकता, जब तक मांसपेशी नीचे नहीं सरकती तो पेट को अच्छा व्यायाम नहीं मिलता। बहुत सारी पेट की बीमारियां छोटे श्वास के कारण होती हैं। बहुत सारी मानसिक बीमारियां इस गलत श्वास की

पद्धति के कारण होती हैं।

आज का युग वैज्ञानिक शोधों का युग है। आज नयी-नयी बातें सामने आ रही हैं। हम सबसे ज्यादा उपेक्षा करते हैं या तो श्वास की या भोजन की। हम भोजन के बारे में बहुत लापरवाह हैं। कोई ध्यान नहीं देते। इतना समझ रखा है कि पेट भर लेना। बस! बात समाप्त हो गयी। अब कोरी रोटियां ही रोटियां खा लीं, कार्बोहाइड्रेट खा लिया, कोरा श्वेतक्षार खा लिया। पेट तो भर लिया पर परिणाम क्या होगा? शरीर का संतुलन बिगड़ जाएगा। मन का संतुलन भी बड़ा खतरनाक होता है। सन्तुलित भोजन और संतुलित मन, ये दो स्थितियां होती हैं तो हमारी सारी गतिविधियां ठीक चलती हैं। संतुलित भोजन में दूध की चिकनाई की भी जरूरत होती है। लवण की जरूरत होती है। विटामिन की जरूरत होती है। क्षार की जरूरत होती है। ये सारी आवश्यकताएं होती हैं। प्रोटीन भी आवश्यक होता है। सब कुछ मिलता है तो मस्तिष्क भी ठीक काम करता है। सारा तंत्र ठीक काम करता है अन्यथा अनेक मानसिक विकृतियां पैदा हो जाती हैं। पहले यह माना जाता था कि मानसिक रोग मानसिक कारणों से होते हैं किन्तु आज यह चिन्तन बदल गया। आज यह हो गया कि असंतुलित भोजन के कारण, कुपोषण के कारण बहुत सारी मानसिक बीमारियां होती हैं। जैसे भोजन का असंतुलन, वैसे ही मन का असंतुलन। ये दोनों आज समस्या बने हुए हैं। हम चाहते हैं कि आदमी बहुत अच्छा व्यवहार करे, बहुत अच्छा बने, पर नहीं बनता। इसके पीछे कारण है कि हमारा संतुलन किसी भी दिशा में नहीं होता है। मानसिक संतुलन के लिए श्वास का अभ्यास बहुत आवश्यक है।

श्वास में केवल आप प्राणवायु ही नहीं लेते, कोरा ऑक्सीजन ही नहीं लेते, उसके साथ अनेक तत्त्व आपके शरीर में जाते हैं। प्राणशक्ति भी इसके साथ शरीर में जाती है। हम जी रहे हैं। केवल इन न्यूरोन्स, विटामिन्स के आधार पर नहीं जी रहे हैं। जीवन का सबसे बड़ा आधार है हमारी प्राणशक्ति। प्राणशक्ति रहती है तो आदमी अच्छे ढंग से जीता है। और प्राणशक्ति चुक जाती है तो हजार दवाइयां, हजार उपाय, हजार डॉक्टर मिल जायें, किसी को बचाया नहीं जा सकता। जीने का मुख्य आधार है हमारी प्राणशक्ति। हम दीर्घ श्वास के अभ्यास के द्वारा प्राण का भी संग्रह करते हैं। प्राण को कहीं से खरीदना नहीं पड़ता, कहीं से लाना नहीं पड़ता।

हमारे आस-पास प्राण बहुत है। पूरा आकाश-मण्डल प्राण से भरा है। आजकल इतना प्रदूषण हो गया कि प्राणशक्ति भी कम होने लग गई। फिर भी अभी तक हिन्दुस्तान में यह सुरक्षा है कि इतना प्रदूषण नहीं है। अभी भी प्राणशक्ति काफी बची है। हम प्राणशक्ति को ले सकते हैं। जिस व्यक्ति ने दीर्घ श्वास का अभ्यास किया है, पूरा श्वास लेना सीखा है, वह प्राणशक्ति से कभी खाली नहीं हो सकता और प्राणशक्ति के अभाव में वह ग्रस्त नहीं हो सकता बीमारियों से, मानसिक व्याधियों से।

दीर्घ श्वास का अभ्यास छोटी-सी बात लगती है, पर छोटी बात बहुत मूल्यवान होती है। हमारी आदत तो है, जो सबसे ज्यादा अनिवार्य है उसे भी हम सबसे ज्यादा कम मूल्य देते हैं। पानी हमारे लिए बहुत जरूरी है। पानी को कम मूल्य देते हैं। सूर्य का ताप भी हमारे लिए बहुत जरूरी है, उसे भी हम कोई मूल्य नहीं देते, क्योंकि वह बिना मूल्य ही मिलता है। एक अध्यापक ने विद्यार्थी से पूछा कि बताओ बिजली के प्रकाश में और सूर्य के प्रकाश में क्या अन्तर होता है? उसने कहा—यह तो बहुत सीधी बात है कि बिजली का प्रकाश पैसे से मिलता है और सूर्य का प्रकाश बिना पैसे से। कितनी सीधी बात! जो सीधा मिलता है, जिसका मूल्य नहीं होता, उसके प्रति हमारा ध्यान नहीं जाता। श्वास, हवा बिना पैसे की मिलती है। इसलिए श्वास, हवा पर हमारा ध्यान केन्द्रित नहीं होता। रोटी का मूल्य है तो बहुत सावधानी बरतते हैं। कपड़े का मूल्य है तो बहुत सावधानी बरतते हैं। मकान का मूल्य है तो बहुत सावधानी बरतते हैं। जिनका मूल्य है उनके प्रति हम सावधान हैं और जिनका मूल्य नहीं है उनके प्रति हम सावधान नहीं हैं। किन्तु अनिवार्यता की दृष्टि से देखें तो रोटी के बिना एक आदमी सौ दिन जी सकता है। हमारे कुछ साधु-साध्वियां ऐसे हैं, जिन्होंने सौ दिन तक कुछ नहीं खाया। छह महीने तक कुछ नहीं खाया। छह-छह महीने का उपवास करने वाले लोग आज भी हैं। और ऐसे भी लोग हैं जो बारह महीने तक केवल छाछ के ऊपर आने वाले पानी के सिवाय कुछ भी खाया नहीं, और पिया नहीं। मेवाड़ में छाछ को गर्म करते हैं और ऊपर जो पानी आता है हरा-हरा, उसे कहते हैं आछ। उस आछ को पीकर बारह महीने का पूरा समय बिताया। न कुछ खाया और न पानी ही पिया। ऐसे लोग हैं तो खाये बिना और पानी पीए बिना तो कुछ दिन रहा जा सकता है पर श्वास के बिना नहीं रहा जा सकता। बहुत कम रह पाते हैं श्वास लिये बिना। अगर मैं आपसे

कहूं कि दस मिनट बिल्कुल श्वास न लें, कौन मानेगा इस बात को । एक व्यक्ति भी शायद यहां नहीं होगा । दस मिनट की बात मैंने बहुत कह दी । एक मिनट भी श्वास न लें, एक मिनट में तो जी घबराने लग जाएगा । किसी-किसी का कोई अभ्यास किया हुआ हो तो बात छोड़ देता हूं । पर सामान्य आदमी का जी मचलने लगेगा । ऐसा लगेगा कि जी तो निकल रहा है । नहीं रहा जा सकता । अनिवार्यता श्वास की ज्यादा है या रोटी की ? श्वास की ज्यादा है । अनिवार्यता तो है पर बिना पैसे मिलता है, इसलिए उपेक्षा श्वास की ज्यादा होती है । रोटी की कोई उपेक्षा नहीं करता ।

हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें । हम जो प्रयोग कर रहे हैं, वह एक प्रकार से जीवन की नयी पद्धति को समझने का अभ्यास कर रहे हैं हमारे जीवन की पद्धति यह होनी चाहिए कि जिसका जितना मूल्य, उसे उतना मूल्य देना समझ लें । अधिक मूल्य है और कम मूल्य दिया जाता है वह सामाजिक जीवन अच्छा नहीं होता । 'पूज्यपूजाव्यतिक्रमः'—जहां पूज्य की पूजा का व्यतिक्रम होता है वहां समस्याएं पैदा होती हैं । जो जितन पूज्य है उसकी उतनी पूजा होनी चाहिए । आज की हमारी सामाजिक पद्धति जीवन की पद्धति ऐसी बन गई है कि जिसका जितना मूल्य उसका उतन मूल्य नहीं आंका जा रहा है । हमें श्वास का सबसे ज्यादा मूल्यांकन करन चाहिए । दूसरी बात है, प्राणशक्ति का सबसे ज्यादा मूल्यांकन करन चाहिए । प्राणशक्ति का प्रयोग, दीर्घ श्वास का प्रयोग, और भी अनेक प्रयो हैं । प्रयोगों की ऐसी शृङ्खला है कि जिसका जितना मूल्य, उसे उतना मूल्य दिया जाये । एक नयी जीवन की पद्धति बनेगी । इसका परिणाम यह होग कि अनायास ही मानसिक सन्तुलन प्राप्त हो जाएगा ।

आज का युग मानसिक तनावों का युग है । इतनी चिन्ता, इतनी परे शानियां, इतना भय । अधिकारी को भी भय और अधिकृत है उसको भ भय । शासक है उसको भी भय है और शासित है उसको भी भय है । भ से मुक्त कोई नहीं है । और भय को छुड़ाने के लिए उपाय करता है, वह भ भय का कारण बन जाता है । एक आदमी को डर बहुत लगता था । किस समझदार आदमी के पास गया । जाकर कहा कि मुझे डर बहुत लगता है पुराने जमाने में ये डोरे, यंत्र मंत्र, तंत्र काफी चलते थे । आज भी कु चलते हैं । उसने कहा—एक ताबीज बना दो जिससे मेरा डर समाप्त ह जाये । जानकार या कोई ओझा रहा होगा । ताबीज बनाकर हाथ पर बां

दिया। कुछ दिनों बाद मिला। पूछा—क्या स्थिति है ? भय तेरा समाप्त हो गया ? उसने कहा—डर तो मेरा कम हो गया पर एक डर मन में और घुस गया। वह क्या ? निरन्तर डर बना रहता है कि कहीं ताबीज खो न जाये। हमारी दुनिया ऐसी है। हमारी सामाजिक परिस्थिति ऐसी है कि एक के बाद एक नया भय पैदा होता रहता है। एक भय मिटता है तो दूसरा भय पैदा हो जाता है। आदमी के मन में भय है कि बुढ़ापे में क्या होगा। यदि पूरा धन संग्रह नहीं हुआ तो बुढ़ापे में क्या होगा ? बीमारी में क्या होगा ? सामने वह स्थिति आ रही है, क्या होगा? यह क्या होगा, यह बात कभी मन से निकलती ही नहीं। और यह बात व्यावहारिक भी है। सोचना अनावश्यक भी नहीं मानता। हर आदमी को सोचना पड़ता है। पर आप थोड़ा अन्तर करें कि चिन्तन करना और चिन्ता करना—ये दो अलग बातें हैं। चिन्तन और चिन्ता एक नहीं है। चिन्तन जीवन की एक आवश्यकता है। और चिन्ता जीवन की बीमारी है। चिता, चिन्ता और चिन्तन। तीनों बराबर योग है। चिन्तन भी जब सीमा से अतिक्रान्त हो जाता है तो चिन्ता बन जाता है। चिन्ता जब बहुत बढ़ जाती है तो चिता बन जाती है।

मृत्यु का सबसे बड़ा कारण, अकालमृत्यु का सबसे बड़ा कारण है चिता। आज के युग में हृदय-अवरोध की बीमारी और सद्यस्कघाती बीमारियां बहुत बढ़ी हैं। इसका एक बड़ा कारण है चिन्ता। आदमी इतना बोर रहता है, इतना बोदरेशन है कि हर समय चिन्ता से ग्रस्त रहता है। और उस चिता ने हृदय पर इतना दबाव डाला है कि आज छोटे-छोटे व्यक्ति भी असमय में चले जाते हैं। चिन्ता है तो चिता की तैयारी हो जाती है। हमें क्या करना होगा ? हम चिता का इलाज नहीं कर सकते। अनिवार्य घटना है। चिन्ता का भी इलाज नहीं कर सकते। कोई आदमी यह सोचे कि चिन्ता न करूं, चिन्ता को मिटा दूं, यह भी असम्भव है। हम उसका इलाज नहीं कर सकते। हम इलाज पहली स्टेज में कर सकते हैं। जब तीसरी स्टेज में बीमारी चली जाती है तो इलाज नहीं हो सकता। बड़ी कठिनाई होती है। कैंसर का प्रारम्भ होता है तब तक तो उसके इलाज की सम्भावना होती है और अन्तिम स्टेज पर चला जाता है तो फिर असाध्य जैसा बन जाता है। चिन्तन का उपाय कर सकते हैं। चिन्तन हम उतना ही करें जितना कि हमारे जीवन के लिए जरूरी है। पर कुछ लोग तो ऐसे हैं कि चिन्तन का चक्का जब चालू हो जाता है तो फिर कभी बन्द नहीं होता। जागते भी बन्द नहीं होता, सोते

भी बन्द नहीं होता। सपने-सपने, सपने और सपने। चक्का चलता ही रहता है।

दीर्घ श्वास का प्रयोग निर्विचारता का प्रयोग है। यह चिन्तन को सीमित करने का प्रयोग है। यदि अच्छा अभ्यास हो जाता है तो जब चाहें चिन्तन कर सकते हैं और जब चाहें तब चिन्तन को रोक सकते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें भाषण देना होता है तो पहले पूरी तैयारी करते हैं। बोलते हैं तो चिन्तन के साथ बोलते हैं। और भाषण देने के बाद भी चिन्तन चलता रहता है। अगर यह कहता तो और अच्छा होता, यह कहता तो और भी अच्छा होता। तीन भाषण हो जाते हैं। एक जनता के सामने आता है, दो अपने मस्तिष्क में रहते हैं। तीन भाषण देने वाले लोग ही मिलेंगे। ऐसे व्यक्ति विरल हैं जो भाषण से पहले भी चिन्तन नहीं करते, भाषणकाल में चिन्तन किया और समाप्त, 'निःशेषम्'। मैंने एक सूत्र बनाया था निश्चिन्त होने के लिए, वह 'निःशेषम्'। हम कोई भी काम करें, गम्भीर अध्ययन, गम्भीर शोध या गम्भीर प्रवृत्ति करें, तब तक पूरी तन्मयता के साथ करें, उसमें डूब जाएं। जैसे ही उठें और एक बात का संकल्प ले लें—निःशेषम्। बस, काम मेरा पूरा हो गया, कुछ भी बाकी नहीं बचा। बाकी बचा ही नहीं। अब कल नया अध्याय शुरू करूंगा। नया जीवन शुरू करूंगा। नया काम शुरू करूंगा। बाकी कुछ भी नहीं बचा है। हम यह भार लेकर उठते हैं कि इतना काम बाकी रह गया तो काम होगा या नहीं होगा पर दिमाग की शक्ति अवश्य खर्च हो जायेगी। तनाव बढ़ जायेगा और वह चिंतन चिन्ता में बदल जायगा। आपको पता है कि रावण जैसे शक्तिशाली व्यक्ति ने मरते समय कहा था कि मेरी इतनी बातें अधूरी रह गईं। कौन व्यक्ति है जो यह नहीं कहता कि अधूरा रह गया। एक साधना करने वाला आध्यात्मिक व्यक्ति कह सकता है कि मेरा कोई काम अधूरा नहीं है। सब पूरा हो गया। दूसरा कोई व्यक्ति नहीं कह सकता। हर आदमी सोचता है कि यह अधूरा रह गया। लड़के को वहां भेजना था, अधूरा रह गया। यह अधूरे-अधूरे की बात ने सारे जीवन के रस को सुखा दिया। अन्यथा कितना अच्छा हो, आज हमने किया सोने से पहले या काम से उठने से पहले उतना कर लिया। अब कल फिर नया जीवन शुरू करना है। कोई अधूरापन नहीं होगा और वह चिंतन चिंता नहीं बन पायेगा। यदि हम चिंतन और चिंता के भेद को समझ लें तो कोई उलझन नहीं होगी। एक बार आचार्यश्री तुलसी के सामने एक व्यक्ति आया,

आकर उसने कहा कि एक भीड़ आ रही है, जाने क्या होगा ? बहुत भय दिखाया, बहुत डरावनी बातें कीं। आचार्यश्री ने एक ही उत्तर दिया—बहुत सुन्दर ! चारों शब्दों का उत्तर—चिंता नहीं, चिंतन करें। व्यथा नहीं, व्यवस्था करें। व्यथा करना अलग बात है और व्यवस्था करना अलग बात है। चिन्ता करना अलग बात है और चिन्तन करना अलग बात है। चिन्ता नहीं, व्यथा नहीं। चिन्तन हो और व्यवस्था हो।

पर चिन्तन भी इतना न हो कि वह चिन्तन भी चिन्ता बन जाये। हर बात की दुनिया में सीमा होती है। उस सीमा को समझना और उस सीमा का उपयोग करना बहुत जरूरी है। मानसिक संतुलन के लिए चिन्तन को भी सीमित करना आवश्यक है और यह एक प्रयोग है—श्वास का, जिससे चिन्तन के चक्के को भी हम रोक सकते हैं। जिस समय आप श्वास लेते हैं, श्वास में ध्यान केन्द्रित होता है। विकल्प समाप्त होता है, विचार समाप्त होता है, चिन्तन समाप्त होता है। श्वास का अभ्यास करते-करते भी ऐसा लगे कि विचार बीच में ज्यादा आ रहे हैं तो एक अभ्यास करें कि श्वास को बीच-बीच में रोक दें। जैसे ही श्वास का संयम हुआ, श्वास को रोका और वकदम विचार शांत हो जाएंगे। विचारों को शांत करने का बहुत अच्छा उपाय है—कुम्भक।

दूसरा उपाय एक और भी किया जा सकता है। जब यह लगे कि विकल्प ज्यादा उठ रहे हैं तो जीभ को स्थिर कर लें। जीभ को जबड़े के नीचे, दांतों के साथ गहरा दबा दें। जीभ स्थिर होती है तो विचार और चिन्तन अपने आप स्थिर हो जाता है। जीभ का और विचारों का बहुत गहरा सम्बन्ध है।

तीसरा उपाय यह भी कर सकते हैं कि जीभ को उलट लें तालू की ओर। तालू की ओर जीभ को उलटते ही विचारों का प्रवाह एकदम रुक जायेगा। ये जो छोटे-छोटे अभ्यास हैं, छोटे-छोटे प्रयोग हैं—ये हमारे चिन्तन को चिन्ता में बदलने से रोकने वाले हैं। और जब चिन्ता नहीं होती तो मानसिक सन्तुलन बराबर बना रहेगा।

हमारा चिन्तन, हमारी कल्पना और हमारी स्मृतियां—ये एक सीमा तक तो सभी उपयोगी हैं किन्तु सीमा से पार जब ये चले जाते हैं तो ये भी हमारे लिए कष्टदायी बन जाते हैं। इसीलिए तो यह कहा जाता कि दुनिया में कुछ भी अमृत नहीं होता और कुछ भी जहर नहीं होता। मात्रा अमृत होती है

और मात्रा विष होती है। एक मात्रा में हर बात अमृत बन सकती है। हमारे यहां के आयुर्वेज्ञानिकों ने संखिया को भी अमृत बता दिया। संखिया जैसे उग्र जहर का अमृत रूप में ऐसा प्रयोग किया कि मरता-मरता आदमी भी बच जाता है। संखिया भी बड़ा अमृत है। जिसे अमृत कहा जाता है—दूध को अमृत कहा जाता है। एक दिन में एक साथ दस किलो, बीस किलो दूध पी लें और फिर देखें, दूध कैसा अमृत होता है। मात्रा का अतिक्रमण होने पर अमृत विष बन जाता है और मात्रा के अनुपात में विष अमृत बन जाता है। यह चिन्तन, कल्पना और स्मृति हमारे लिए अमृत का भी काम कर सकते हैं और हमारे लिए जहर का भी काम कर सकते हैं। मानसिक असन्तुलन को पैदा करने में ये तीनों मुख्य तत्त्व बन सकते हैं। अब इन्हें रोकने के लिए हमें बीच में एक रेखा खींचनी होगी और वह रेखा दीर्घ श्वास का अभ्यास हो सकता है।

हम सन्तुलन और असंतुलन पैदा करने वाले तत्त्वों को जानें और असंतुलन के निवारक उपायों को काम में लें तथा संतुलन के द्वारा कैसे नई जीवन पद्धति का निर्माण किया जा सकता है—इन सारी बातों पर विचार करें तो निश्चित ही जीवन आनन्दमय होगा, शक्तिमय होगा, चेतनामय होगा और मानसिक सन्तुलन की चेतना जागृत होगी।

आत्म-निरीक्षण

शरीर को देखने का अभ्यास आत्म-निरीक्षण का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। स्वयं को देखना बहुत कठिन होता है। जब मनुष्य स्वयं को देखने लग जाता है तो बहुत सारी समस्याएं हल हो जाती हैं। हम इस बात को न भूलें कि व्यक्ति आखिर व्यक्ति ही है। सामाजिक दायित्व और सामाजिक कर्त्तव्यों के बीच वह रहता है, उनका अनुपालन करता है। पर जब व्यक्ति शरीर से स्वस्थ नहीं होता और मन से स्वस्थ नहीं होता तो वह सामाजिक दायित्वों और कर्त्तव्यों का सम्यक् पालन भी नहीं कर सकता। प्रथम बात है कि व्यक्ति स्वस्थ रहे। तब वह सामाजिक स्वास्थ्य का अनुपालन कर सकता है और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभा सकता है। वैयक्तिक स्वास्थ्य के लिए आत्म-निरीक्षण एक अनिवार्य प्रक्रिया है। अपने आपको देखना, अपनी क्षमता को देखना, अपने विकास को देखना, अपनी कमियों और विशेषताओं को देखना। दोनों को देखना है। जो व्यक्ति केवल अपनी कमियों को देखता है वह हीनता की ग्रंथि से ग्रसित हो जाता है। जो व्यक्ति केवल अपनी विशेषताओं को देखता है, वह अहंकार की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाता है और ये दोनों ग्रन्थियां व्यक्तित्व के निर्माण में बाधक बनती हैं।

व्यक्तित्व के निर्माण के लिए बहुत आवश्यक है—यथार्थ का अंकन, यथार्थ-बोध। यथार्थ-बोध होना चाहिए। सही मूल्यांकन बहुत जरूरी है। जब मूल्यांकन सही नहीं होता, बहुत भ्रम पैदा हो जाता है। मादक वस्तुओं का सेवन करना इसीलिए वर्जित माना जाता है कि मादकता की अवस्था में हमारा यथार्थ-बोध लुप्त हो जाता है। आज के युवक में मादक वस्तुओं का सेवन बहुत बढ़ रहा है। पश्चिमी देशों में बहुत बढ़ रहा है और जो पश्चिमी देशों में बढ़ता है, वह पूर्वी देशों में भी बढ़ने लग जाता है। इतनी मादक वस्तुएं चल पड़ी हैं, जिनकी संख्या करना भी कठिन हो गया है। अरबों-अरबों रुपयों की मादक वस्तुएं, मादक द्रव्य उत्पन्न किए जा रहे हैं। बाजार में आ रहे हैं। पहले केवल शराब, भांग, गांजा, चरस—ये वस्तुएं चलती थीं। आज तो इनके सैकड़ों प्रकार बन गये हैं और जब मादकता आती है, मूर्च्छा आती है

तो यथार्थ का बोध लुप्त हो जाता है। अभी-अभी कुछ दिन पहले मैंने पढ़ा था, एक युवक ने एल० एस० डी० का प्रयोग किया। दसवीं मंजिल पर बैठा था। उसे लगा कि वह बिलकुल हल्का हो गया है। पक्षी जैसा हो गया है। आकाश में उड़ सकता है। आकाश में उड़ने का प्रयत्न किया खिड़की से। परिणाम जो होना था, वही हुआ। उड़ा तो नहीं, दसवीं मंजिल से नीचे आकर गिरा और मर गया।

मूर्च्छा से यथार्थ का बोध लुप्त हो जाता है। यथार्थ की चेतना समाप्त हो जाती है। सही बात का पता नहीं चलता।

हमारे आत्म-निरीक्षण का पहला सूत्र होगा—यथार्थ का बोध, यथार्थ का मूल्यांकन। मनोविज्ञान में कहा जाता है—Self Ratting (सेल्फ रेटिंग) आत्म-मूल्यांकन, अपना मूल्यांकन सही होना चाहिए। बहुत बार ऐसा भी होता है कि अपना मूल्यांकन सही नहीं होता तो दूसरे के द्वारा भी मूल्यांकन कराया जाता है। कभी-कभी स्व-मूल्यांकन और पर-मूल्यांकन दोनों को संयुक्त करके भी मूल्यांकन किया जाता है। पर मूल्यांकन जरूरी है। जो व्यक्ति अपनी सफलता-विफलता का कोई अंकन नहीं करता, वह बहुत प्रगति नहीं कर सकता और उसका व्यक्तित्व बहुत प्रभावी नहीं हो सकता। आत्म-निरीक्षण का पहला सूत्र है—यथार्थ-बोध, यथार्थ मूल्यांकन। जब पता चल जाता है कि ये कमियां हैं, ये विशेषताएं हैं तो फिर दूसरी बात प्राप्त होती है कमियों को मिटाने और विशेषताओं को बढ़ाने के लिए उपाय की खोज की जाए।

उपाय की खोज अवश्य हो। उपाय और अपाय दोनों जुड़े हुए शब्द हैं। अपाय हमारी प्रगति में बाधक तत्त्व हैं। ये बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। ये दोष हैं। उन अपायों को मिटाने के लिए उपायों की खोज होती है। जो व्यक्ति उपाय को नहीं खोजता, जो जितना है उसमें सन्तोष मान लेता है वह प्रगतिशील नहीं हो सकता और विकास नहीं कर सकता। जो लोग आगे बढ़े हैं, जिन्होंने प्रगति की है वे सदा अपाय को मिटाने के लिए उपाय को खोजते रहे हैं। बीमारी जान लेना एक बात है और बीमारी को मिटाने के लिए उपाय को खोजना दूसरी बात है। यदि बीमारी को मिटाने का उपाय नहीं खोजा जाता तो कोई भी चिकित्सा-पद्धति विकसित नहीं होती। जितनी चिकित्सा-पद्धतियों का विकास हुआ है, सब उपाय की खोज में हुआ है बीमारी आयी और उसे मिटाने का उपाय खोजा गया। पहले निदान और

फर चिकित्सा। स्वयं का निदान और फिर स्वयं की चिकित्सा। यह 'उपाय ी खोज' दूसरा सूत्र है—अपने व्यक्तित्व के निर्माण का या आत्म-निरीक्षण ा।

उपाय खोजे जाते हैं और मिल जाते हैं। कुछ भी असम्भव नहीं। यह ा मानें कि उपाय खोजने वाले कोई आकाश से टपकते हैं या धरती से निक-ते हैं। हर आदमी में क्षमता होती है। अगर वह एकचित्त, दत्तचित्त होकर अपने अपाय के लिए उपाय को खोजे तो उपाय मिल जाएगा।

शरीर-प्रेक्षा सबसे अच्छी प्रक्रिया है उपाय खोजने की। हमारे शरीर में कितने प्रकम्पन होते हैं, कितनी हलचलें हैं! पूरा शरीर हलचलों से भरा है। एक इतना बड़ा कारखाना चल रहा है। हम कभी ध्यान नहीं देते। पता नहीं चलता। यदि ध्यान दें तो पता चलेगा कि एक मांसपेशी पर सूई चुभो दी, इलेक्ट्रोड लगा दिया और मशीन में इतनी तेज आवाज होने लगी। अभी हम मानसिंह मेमोरियल हॉस्पिटल (जयपुर) गये थे, इसी शिविर के सिलसिले में। हमने देखा न्यूरोलॉजी के डॉक्टर बैठे हैं। एक बीमार आया। मांसपेशी पर सूई चुभोई और थोड़ा-सा हिलाया। मशीन में गड़गड़ाहट की आवाज होने लगी। हमारे शरीर में आवाजें होती हैं। तेज आवाजें होती हैं। हृदय की धड़कन, रक्त की गति, रक्त की आवाज। प्रत्येक अवयव अपनी क्रिया करता है। उसके साथ ध्वनि होती है और शब्द होता है, हलचलें होती हैं। पर हम ध्यान नहीं देते, इसलिए पता नहीं चलता। जब आत्म-निरीक्षण की मुद्रा में बैठते हैं और अपने ध्यान को दूसरों से हटाकर अपने भीतर ले जाते हैं तो सारा पता लगने लग जाता है कि भीतर में क्या-क्या हो रहा है। वह एक उपाय है जागरूकता को बढ़ाने का, एकाग्रता को बढ़ाने का और अपने व्यक्तित्व को गतिशील बनाने का।

जो व्यक्ति अपने प्रति पूरा जागरूकता नहीं होता, वह दूसरे के प्रति भी पूरा जागरूक नहीं रह सकता। जागरूकता का प्रारम्भ हमारे इस शरीर से होता है, मस्तिष्क से होता है। आलस्य का प्रारम्भ भी हमारे मस्तिष्क से और हमारे शरीर से होता है। प्रमाद और अप्रमाद, मूर्च्छा और जाग-रूकता—दोनों का प्रारम्भ इस शरीर और मस्तिष्क से, हमारे नाड़ी-संस्थान से होता है। जो अपने नाड़ी-संस्थान के प्रति, अपने मस्तिष्क के प्रति भी जागरूक नहीं है वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक कैसे बनेगा? हम इस भ्रम में न जायें कि ध्यान किसी साधक के लिए है। पुरारी बात है। यह

माना जाता था कि योग का अभ्यास किसी योगी के लिए होता है। पर आज तो मैं देखता हूं कि हर आदमी को योगी होने की जरूरत हो गई है। इसलिए कि पुराने जमाने में तो कोई राजा होता था। आज तो हर आदमी राजा बन गया। जब वोट देने का प्रश्न आता है, हर आदमी के हाथ में इतना अधिकार आ जाता है कि शासन करने वाले भी उसके पीछे-पीछे चक्कर लगाते हैं। राज्य का विस्तार हो गया। विकेन्द्रित हो गई सत्ता। साधना का भी विस्तार हो गया। आज इतनी मानसिक समस्याएं हैं कि यदि कोई व्यक्ति थोड़ा ध्यान का अभ्यास नहीं करता, एकाग्रता और तन्मयता का अभ्यास नहीं करता है तो शायद उसके लिए मानसिक रूप से स्वस्थ रहना भी असम्भव जैसा हो जाता है। इसलिए आज प्रत्येक व्यक्ति को एक अर्थ में योगी होना भी जरूरी है। ऐसा होने से यह नहीं होगा कि आप अपने कर्त्तव्य से विमुख बन जायेंगे। इससे कर्त्तव्य के प्रति विमुखता नहीं आयेगी, प्रत्युत् कर्त्तव्य के प्रति और अधिक प्रखरता आयेगी, जागरूकता बढ़ेगी, तीक्ष्णता आयेगी।

लोग तलवार से ही लड़ते रहे हैं। सैकड़ों वर्षों तक तलवार और भाले से लड़ते रहे हैं। सामने बन्दूक आयी, पराजित होना पड़ा। फिर बन्दूक से लड़ते रहे। तोप आयी तो पराजित होना पड़ा। तेज शस्त्र आता है तो सामान्य शस्त्र उसके सामने पराजित हो जाता है। हमारे चित्त की भी यही बात है। हम एक चेतना की अवस्था पर जीते हैं जो तलवार जैसी होती है और सामने बन्दूक जैसी चेतना आती है तो वहां वह पराजित हो जाती है। विकासशील देश का, विकासशील व्यक्ति का हमेशा यह कर्त्तव्य होता है कि दौड़ में पीछे न रहे। सामने बन्दूक है तो अपनी चेतना को भी बन्दूक बना ले। तोप है तो तोप बना ले। अणु है तो अणु बना ले। गति में जो पीछे रह जाता है, वह हमेशा मार खाता है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि चेतना को तीक्ष्ण बनायें, विकासशील बनायें।

हिन्दुस्तान इतना बड़ा देश है—सत्तर करोड़ आदमियों का देश। यहां अन्तर्राष्ट्रीय खेल होते हैं। मुश्किल से कभी-कभी एक स्वर्ण-पदक मिलता होगा, नहीं भी मिलता है। रजत-पदक भी मुश्किल से मिलता है। बड़ा आश्चर्य है! छोटे-छोटे देश लाखों और एक करोड़ की जनसंख्या वाले देश अनेक स्वर्ण-पदक ले जाते हैं, रजत-पदक ले जाते हैं और हिन्दुस्तान पीछे रह जाता है। कारण क्या है? कारण यही है कि हमने एकाग्रता का मूल्यां-

कन छोड़ दिया, जागरूकता का मूल्यांकन छोड़ दिया, ध्यान को छोड़ दिया। यह मान लिया कि ये हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं। हमारे सामाजिक जीवन में इनका कोई मूल्य नहीं है। जो हमारी विशेषता को बढ़ाने वाले, हमारी क्षमता को बढ़ाने वाले तत्त्व थे उनकी हमने उपेक्षा कर डाली। किसी समय हिन्दुस्तान, जो उन्नति के शिखर पर पहुंचा हुआ था और जो स्वर्ण-युग में पहुंचा था, जगद्गुरु बनने का गौरव इसको प्राप्त हुआ था तो किसी सम्पत्ति के कारण नहीं हुआ था, वैभव के कारण नहीं हुआ था। वैभव के कारण बहुत प्रतिष्ठा भी नहीं होती। आज भी हम देखें, कुछ देश वैभवशाली हैं किन्तु वैभवशाली होने के कारण वे कोई बहुत प्रतिष्ठा नहीं पा रहे हैं। उनके प्रति बड़ा आक्रोश जाग रहा है। बड़ी प्रतिक्रिया जाग रही है। वैभव जो विज्ञान का होता है, ज्ञान का होता है, आत्मबल और मनोबल का होता है, चेतना के विकास का होता है, उसके प्रति गौरव का भाव जागता है। हिन्दुस्तान के प्रति समूची दुनिया में एक गौरव का भाव था। हजारों-हजारों लोग यहां की विद्या को सीखने के लिए बाहर से आते थे। किन्तु आज हमने भुला दिया, अपनी सम्पत्ति को भुला दिया और सीखने की बात, सिखाने की बात तो दूर हो गयी, आज क्या सिखायें? सिखाने की बात भी हमारे पास नहीं रही। जिन लोगों ने हमसे सीखा, वे उसका उपयोग कर रहे हैं।

ध्यान जापान में गया, चीन में गया। भारत से गया। बौद्ध धर्म के साथ गया। बाहर के बहुत देशों में गया। वे लोग उसका उपयोग कर रहे हैं। वहां अनेक पद्धतियां चल रही हैं जो शरीर-बल को बढ़ाती हैं, मनोबल को बढ़ाती हैं और अनुशासन को बढ़ाती हैं। एक जापानी हड़ताल भी करेगा तो काम बन्द नहीं करेगा। कोरी काली पट्टी हाथ पर बांध देगा, पर काम बन्द नहीं करेगा। फैक्टरियां बराबर चलेंगी। कोई व्यवधान पैदा नहीं होगा राष्ट्र के विकास में। इस अनुशासन के पीछे वहां ध्यान की बहुत बड़ी प्रेरणा है। वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि हमारे राष्ट्र में अनुशासन, व्यवस्था का विकास हुआ है, उसके पीछे ध्यान का बहुत बड़ा बल है। आपको आश्चर्य होगा कि वहां के सैनिकों में सबसे ज्यादा ध्यान चलता है। विश्वविद्यालयों में भी चलता है। स्वतंत्र एक पाठ्यक्रम होता है। छह-छह महीने का कोर्स है और एकान्त में शिविर लगते हैं, उन्हें ट्रेनिंग दी जाती है, किन्तु सैनिक लोग सबसे ज्यादा ध्यान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। कोई कमी नहीं आयी। प्रत्युत विकास ही हुआ है। हम इस बात को न

भूलें कि शरीर स्वस्थ हो, मन स्वस्थ हो तो फिर सामाजिक स्वास्थ्य के प्रति, दायित्व के प्रति हमारी चेतना जागरूक रह सकती है और उसके लिए इन उपायों को खोजना बहुत जरूरी है। उपाय खोजने पर मिल जाते हैं। पर उपाय सही हो। उपाय के प्रति हमारा विश्वास हो। उपाय की सही जानकारी—यह आत्म-निरीक्षण का तीसरा सूत्र है। बहुत बार ऐसा भ्रम होता है कि जो अनुपाय है उसे उपाय मान लिया जाता है और जो उपाय है, उसे अनुपाय मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में चेतना का पूरा विकास नहीं होता। उपाय के प्रति भी हमारी धारणा सम्यक् नहीं होती।

एक कहानी है। है कहानी पर मर्म को छूती हुई। एक सास ने बहू से कहा—बहूरानी ! मैं अभी बाहर जा रही हूं। एक बात का ध्यान रहे, हमारे घर में अंधेरा न घुसने पाये। बहू बहुत भोली थी, अत्यन्त भोली। विवेक-चेतना जागृत नहीं थी, बुद्धि भी विकसित नहीं थी और समझने की क्षमता भी नहीं थी। सास ने कहा था कि अंधेरे को भीतर घुसने नहीं देना है, ठीक बात है। सास चली गई, सांझ होने को आयी। उसने सोचा कि अंधेरा कहीं घुस न जाये, पहले से ही व्यवस्था कर दूं। सारे दरवाजे बन्द कर दिये। सब खिड़कियां बन्द कर दीं। जो मुख्य दरवाजा था उसे भी बन्द कर दिया। दरवाजे के पास लाठी लेकर बैठ गई। सोचा—दरवाजा खुला नहीं है, कोई खिड़की खुली नहीं हैं, कहीं भी कोई छेद नहीं। आयेगा तो दरवाजा खटखटायेगा, लाठी लिये बैठी हूं, देखती हूं कैसे अन्दर आयेगा। पूरी व्यवस्था कर दी। रात जैसे-जैसे ढलने लगी, अंधेरा गहराने लगा। सोचा—कहां से आ गया ! कहीं भी कोई रास्ता नहीं है। हो न हो दरवाजे से ही आ रहा है। अन्धकार को पीटना शुरू कर दिया। काफी पीटा कि निकल जाओ मेरे घर से ! कहां से घुस आये ! मेरे घर से बाहर चले जाओ ! मेरी सास की मनाही है कि तुम्हें भीतर घुसना नहीं है ! खूब लाठियां बजाईं। लाठी टूटने लगी। हाथ छिल गए। लहूलुहान हो गए। अंधेरा तो नहीं गया। परेशान होकर बैठ गई। सास आयी। दरवाजा खोला। कहा—यह क्या किया ? मैंने कहा था कि अंधेरे को मत आने देना घर में। वह बोली—देखो, मेरे हाथ देख लो। लहूलुहान हो गये। लाठी टूट गई। मैंने बहुत समझाया, बहुत रोका, पर इतना जिद्दी है कि माना ही नहीं और यह तो घुस ही गया। सास ने सिर पर हाथ रखा। कहा कि बहूरानी ! अंधेरे को ऐसे मिटाया जाता है ? क्या अंधेरा ऐसे मिटता है ?

समझी नहीं तुम बात को। सास गई। दीया जलाया, अंधेरा समाप्त हो गया।

उपाय के बारे में हमारी जानकारी सही नहीं होती तो हम प्रयत्न तो करते हैं, परिश्रम करते हैं, पर अंधेरा मिटता नहीं। केवल हाथ छिल जाते हैं, लहूलुहान हो जाते हैं। लाठियां टूट जाती हैं। उपाय के अभाव में अपाय मिटता नहीं। आवश्यक है कि हमारा उपाय सम्यक् होना चाहिए। हमें पहले सम्यक् उपाय की जानकारी होनी चाहिए।

हमारे भीतर भय होता है। अज्ञान होता है। मूर्च्छा होती है। आवेश होता है। ये सारे अपाय हैं। हर आदमी में भय होता है। जिस व्यक्ति में प्राण का मोह है, जीने का मोह है, उस व्यक्ति में भय होता है। तब तक भय नहीं छूटता जब तक जिजीविषा नहीं छूट जाती। प्राण का मोह नहीं छूट जाता।

एक महिला ने अपने पति से कहा—देखो, घर में चोर घुस गए और मैंने बहुत बढ़िया रसोई बनाई। वे सब खा रहे हैं। आगे भी और कुछ करेंगे। माल भी ले जायेंगे। पति ने कहा—क्या करूं ? पत्नी बोली—पुलिस को फोन करें कि घर में चोर घुस गये हैं। पति बोला—पुलिस को फोन करने की कोई जरूरत नहीं, पहले डॉक्टर को फोन करो। इतना भय लग रहा है कि पुलिस आने से पहले ही मैं कहीं समाप्त न हो जाऊं। भय होता है, बहुत भय होता है आदमी में। आवेश होता है। अपना भान नहीं होता। अज्ञान होता है। इतना विरोधाभास और इतनी विसंगतियां हमारे जीवन में होती हैं कि हम सही निर्णय नहीं ले पाते। विरोध में जीते हैं, विसंगतियों में जीते हैं। स्वयं बुराई करते चले जाते हैं। अपनी बुराई का पता हमें नहीं चलता। दूसरे की बुराई का पता चल जाता है।

एक व्यंग्य ही होगा, पर बहुत तीखा व्यंग्य है। एक पत्नी ने अपने पति से कहा—कैसा नौकर रखा है ! यह तो बड़ा चोर है। पति ने कहा—क्या हुआ ? पत्नी बोली—हम कल होटल में गये थे और वहां से चांदी का चम्मच उठा लाये थे, नौकर ने उसे चुरा लिया।

बड़ी विचित्र बात ! स्वयं होटल से चांदी का चम्मच उठा लाये। वह चोरी लगती ही नहीं है और नौकर ले गया—चोर हो गया। यह एक विरोधाभास है जीवन का। जीवन की एक विसंगति है कि मनुष्य को अपनी बुराई का पता नहीं चलता। अज्ञान को मैं इतना बुरा नहीं मानता। अज्ञान

से बुरी बात है—मूर्च्छा। मोह का आवरण इतना सघन होता है कि मनुष्य जानते हुए भी नहीं जानता। जानता तो है, पर जानते हुए भी नहीं जान पाता। यह स्थिति बहुत भयंकर होती है। इन सारे अपायों से निपटने के लिए उपाय खोजना जरूरी है और वह उपाय भी सम्यक् हो।

चौथा सूत्र होगा, उपाय को जान लिया पर उसके प्रति हमारा विश्वास होना चाहिए। यदि विश्वास नहीं है तो फिर काम नहीं बन सकता। विश्वास बहुत आवश्यक है। पुनःशिक्षण (री-एजुकेशन) की बात आती है मनोविज्ञान में। उसमें एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि रोगी को अपने रोग का भान होना चाहिए, रोगी को चिकित्सक में विश्वास होना चाहिए, रोगी को अपना रोग मिटाने की तीव्र आकांक्षा होनी चाहिए और उसे सही परामर्श मिलना चाहिए। ये चार बातें होती हैं तो रोग मिटता है। ये चार बातें नहीं होती है तो बीमारी की चिकित्सा नहीं हो सकती। रोग मिटाने की तीव्र आकांक्षा नहीं है तो रोग मिटाने की बात ही प्राप्त नहीं होती। आकांक्षा है और चिकित्सक में विश्वास नहीं है, रोगी सोचता है—दवा तो ले रहा हूं, स्वस्थ होऊंगा या नहीं होऊंगा। नहीं होगा—बिलकुल नहीं होगा। जब मन में इतना संदेह है, इतना संशय है तो होने की बात प्राप्त ही नहीं होती। 'संशयात्मा विनश्यति'—यह जो कहा गया बहुत महत्त्वपूर्ण है कि जिसके मन में सन्देह पैदा हो गया, फिर वह सफल नहीं होगा। पुलिस का, आरक्षक या सी० आई० डी० का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र होता है—भेदनीति या संदेह पैदा कर देना। जो सन्देह पैदा करने में सफलता पा लेता है वह जीत जाता है क्योंकि संदेह पैदा कर दिया, इसका मतलब है कि ध्वस्त कर दिया।

मगध सम्राट् और लिच्छवी गणतंत्र परस्पर युद्ध की स्थिति में थे। लिच्छवी गणतंत्र पर विजय पाना था। कैसे करें? मगध सम्राट् की स्थिति नहीं थी, शक्ति नहीं थी कि इतने बड़े शक्तिशाली गणतंत्र पर विजय पा लें। उपाय खोजा। प्रचार किया गया कि राजा रुष्ट हो गया और मंत्री को देश से निष्कासित कर दिया। जब एक देश से निष्कासन होता है तो दूसरे देश में शरण ली जाती है। लिच्छवी गणतंत्र ने उसे शरण दी। बड़ी खुशी से शरण दी कि मंत्री बड़ा बुद्धिमान है। शरण मिल गई। उसने अपना काम शुरू कर दिया। वह किसी से कहता—तुम गणतंत्र के स्तम्भ हो। बड़े स्तम्भ हो, बड़े शक्तिशाली हो। पर मुझे पता नहीं चला कि यह तुम्हारे क्या चल रहा है? अमुक व्यक्ति से कहा कि तुम तो बहुत कायर आदमी हो।

बहुत डरपोक हो। मन में एक सन्देह पैदा कर दिया। दूसरे सांसदों के मन में भी विभिन्न प्रकार का सन्देह पैदा कर दिया। दूसरे से फिर बात की, तीसरे से फिर बात की। बात का सिलसिला चालू रहा और सबको एक-दूसरे के प्रति संदिग्ध बना दिया। सब के मन में एक भ्रम पैदा कर दिया, एक भ्रांति खड़ी हो गई। जब देखा कि काम बन गया तब मगध सम्राट को सूचना भेजी कि अब आक्रमण किया जा सकता है। आक्रमण हुआ। पता चला, रणभेरी बजी। गणतंत्र की यह प्रथा थी कि जैसे ही रणभेरी बजे, सब तैयार होकर युद्ध के लिए चल पड़ें। कोई नहीं आया, आ ही नहीं रहा है। महासामन्त ने सोचा, गण के प्रमुख ने सोचा कि यह क्या हो गया। सेनापति ने सोचा कि यह क्या हो गया। कोई भी कुमार युद्ध करने के लिए नहीं आ रहा है। कोई भी सामन्त नहीं आ रहा है। कोई नहीं आ रहा है, बात क्या है? व्यक्तिगत रूप से मिले। एक बोला—भई! मैं तो कायर आदमी हूं, जो शक्तिशाली हैं उनको युद्ध में ले जायें। दूसरे से मिले, कहा—मैं तो सदाचारी नहीं हूं, भ्रष्टाचारी हूं। जो कोई सदाचारी हो उसको ले जाएं। हर व्यक्ति के मुंह शिकायत। हर व्यक्ति के मन में संदेह भरा है। सोचा, गणतन्त्र समाप्त हो गया। अब नहीं चलने वाला। यह बहुत बड़ा रहस्य होता है कि व्यक्ति के मन में संदेह पैदा कर देना, संशय पैदा कर देना। जहां संदेह पैदा हो गया वहां सारी शक्ति समाप्त हो गई। चेतना ही समाप्त हो गई।

उपाय के प्रति हमारा विश्वास होना चाहिए। इतना गहरा विश्वास कि यह होगा, होगा और निश्चित ही होगा। नियम है कैसे नहीं होगा। एक किसान कभी संदेह नहीं करता। अगर किसान संदेह करे तो कभी बीज बो ही नहीं सकता। कैसे बोयेगा? यह तो स्पष्ट है कि वर्षा होगी या नहीं होगी, निश्चित नहीं है उसके सामने। फिर भी पूरे आत्मविश्वास के साथ बीज बोता है। कभी वर्षा नहीं भी होती। खेती भी नहीं होती। बीज व्यर्थ भी चला जाता है पर दूसरे वर्ष फिर तैयारी करेगा। जैसे ही वर्षा हुई वह हल लेकर बीज बोने चला जाएगा। यदि किसान के मन में संदेह व्याप जाये तो फिर सब लोग माला ही भजें रोटी मिलेगी ही नहीं। जप ही करते रहें फिर, और वह भी नहीं होगा। भूखा आदमी कैसे जप कर पाएगा? पर किसान के मन में कोई संदेह नहीं होता। पर पता नहीं अपने व्यक्तित्व के विकास में हर व्यक्ति को संदेह हो जाता है। यह करता तो हूं, पर होगा या

नहीं होगा ? ऐसा हो सकता है क्या ? कैसे संभव होगा ? जब अपने उपाय के प्रति, निश्चित नियम के प्रति मन में यह संदेह पैदा हो जाता है तो यह निश्चित मानें कि विफलता तो आ गई, सफलता की सारी सम्भावनाएं समाप्त हो गईं।

हमारे मन में उपाय के प्रति विश्वास पैदा होना चाहिए। यह निश्चित होगा। क्यों नहीं होगा, जब नियम है तो अपना काम करेगा। हर सूत्र का नियम होता है, हर व्यवस्था का नियम होता है। सारा संसार नियमों से चल रहा है—प्रकृति का नियम, समाज का नियम, व्यक्ति का नियम। हमारे मस्तिष्क के भी संचालन के नियम हैं। हमारे नाड़ी-तंत्र के संचालन के नियम हैं। हमारे ग्रंथितंत्र के नियम हैं। कण-कण के साथ नियम जुड़ा हुआ है। फिर जो मेरा उपाय है, उसका नियम क्यों नहीं है। वह क्यों नहीं सफल होगा ? हमें नियम और नियति में विश्वास होना चाहिए।

आत्म-निरीक्षण का पांचवां सूत्र है—अभ्यास होना चाहिए। उपाय भी मिल गया। विश्वास भी हो गया पर अभ्यास नहीं है तो पूरा काम नहीं बनेगा। आज धर्म की स्थिति जो बनी है कि धर्म का परिणाम नहीं आ रहा है। धर्म से आदमी को जितना बदलना चाहिए, नहीं बदल रहा है। इसका कारण क्या है ? मैं तो यही मानता हूं कि कोर्स पूरा नहीं हो रहा है। मलेरिया है। डॉक्टर ने कोर्स दिया कि दस गोलियां लेनी हैं। चार गोलियां खायीं और छोड़ दीं। चिकित्सा पूरी नहीं हुई और मलेरिया का आक्रमण फिर हो गया। डॉक्टर के पास जाता है। डॉक्टर पूछता है—भई ! कोर्स पूरा किया या नहीं ? कोर्स तो पूरा नहीं किया। तो पहले जो ली थी वह बेकार चली गई। उसका कोई उपयोग नहीं रहा। अब नये सिरे से कोर्स करना पड़ेगा। ऐलोपैथी में तो यह चलता है कि पूरा कोर्स न हो, तब तक बीमारी का समाधान नहीं मिलता। धर्म का कोर्स भी हमारा पूरा नहीं हो रहा है। श्रवण होता है, हम धर्म को सुनते हैं। धर्म में विश्वास भी करते हैं पर कोरा सुनना और कोरा विश्वास करना पर्याप्त नहीं है। तीसरी बात है—अभ्यास होना चाहिए। ये तीनों बातें होती हैं—सुनना, सुनने के बाद उसमें विश्वास होना और विश्वास के बाद उसका अभ्यास होना, तो धर्म का परिणाम आ सकता है। हम दो में ही अटक जाते हैं। सुन भी लेते हैं, विश्वास भी कर लेते हैं, पर अभ्यास नहीं करते, प्रयोग नहीं करते। अभ्यास के बिना काम पूरा नहीं बनता। उपाय का अभ्यास होना जरूरी है।

ध्यान का शिविर एक अभ्यास का शिविर है, प्रयोग का शिविर है। आप ध्यान न करें। सुनते जायें, दूसरों को देखते जायें। आपको कुछ भी पता नहीं चलेगा, क्योंकि जो भीतर में होने वाला है, वह सुनने से और देखने से पता नहीं चलता। ध्यान के द्वारा हमारे रसायन बदलते हैं। हमारी विद्युत्धारा बदलती है। हमारे भीतर के सारे तत्त्व बदलते हैं। उसका पता जानने से तो नहीं चल सकता। सुनने से तो नहीं चल सकता। प्रयोग के बिना उसका पता नहीं चल सकता। प्रयोग के बाद ही पता चल सकता है कि किस प्रकार भीतर में परिवर्तन होता है। जिस व्यक्ति ने एकाग्रता का अभ्यास नहीं किया, दूसरों को निशाना साधते देखा, चाहे हजार बार देख ले, कभी वह निशानेबाज नहीं बन सकेगा। जिस व्यक्ति ने दूसरों को तैरते देखा और स्वयं पानी पर पैर ही नहीं रखा, वह कभी तैराक नहीं हो सकता। तैराक वही हो सकता है जिसने पानी में डुबकियां ली हैं, अभ्यास किया है। बहुत बार तैरा है। कभी डूबा है, कभी तैरा है। वही तैराक बन सकता है। अभ्यास के बिना कोई भी कर्म हस्तगत नहीं हो सकता। फिर चाहे भीतर का प्रयोग हो, चाहे बाहर का प्रयोग। फिर चाहे शिल्प हो, चाहे कर्म हो और चाहे विज्ञान हो। प्रायोगिक भूमिका में उतरे बिना उसका हमें कोई ज्ञान नहीं हो सकता। जो बातें केवल जानने की होती हैं वहां तो जानना पर्याप्त हो जाता है। किन्तु जो सीखने की बातें हैं वहां कोरा जानना पर्याप्त नहीं होता, वहां तो अभ्यास करना होता है। शिक्षा का मतलब ही होता है—पुनः-पुनः अभ्यास। शिक्षा की पुरानी परिभाषा है—पुनः-पुनः अभ्यासः शिक्षणम्—बार-बार अभ्यास करना।

हमारी दो प्रकार की शक्तियां होती हैं—एक है नैसर्गिक या प्रातिभ शक्ति और दूसरी है आधिगमिक शक्ति। नैसर्गिक और प्रतिभा शक्ति वह है जो जन्मजात किसी को प्राप्त हो जाती है। कुछ लोग जन्म से ही विद्वान् होते हैं, जन्म से ही शिल्पी बनते हैं। जन्म से चित्रकार बन जाते हैं और छोटी-छोटी अवस्था में भी बड़े चमत्कारपूर्ण कार्य कर डालते हैं। वह उनकी अभ्यास की शक्ति नहीं है, किन्तु नैसर्गिक शक्ति या प्रातिभ शक्ति है। किन्तु सब लोगों को वैसी शक्ति प्राप्त नहीं होती। अधिकांश लोग अभ्यास के द्वारा अपनी शक्ति का विकास करते हैं। जितना-जितना पटु अभ्यास होता है, जितना-जितना अच्छा अभ्यास होता है, उतनी-उतनी शक्ति बढ़ती चली जाती है। दूसरा मार्ग है अभ्यास का आधिगमिक मार्ग, अधिगम का और शिक्षा

का। हम ध्यान की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। शिक्षा का मतलब केवल जानना नहीं। शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास करना, प्रयोग करना, बार-बार दोहराना। यह दोहराने की बात कर रहे हैं। दोहराते-दोहराते एक बिन्दु ऐसा आता है कि हम उस पर पहुंच जाते हैं और हमारी मंजिल तय हो जाती है। हमारे व्यक्तित्व-निर्माण के लिए आत्म-निरीक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण है और आत्म-निरीक्षण के पांच सूत्रों की संक्षिप्त-सी चर्चा मैंने प्रस्तुत की।

आत्म-निरीक्षण के दो सूत्र और हैं। एक है—अपने आचरण, व्यवहार का अनुभव करना। उस पर ध्यान केन्द्रित करना और दूसरा है—अपने शरीर और मन में घटित होने वाली घटनाओं का अनुभव करना। जब हमारा मस्तिष्क आत्म-निरीक्षण के द्वारा जागरूक होता है, तब क्या विचार आने वाला है और कौन-सी भाव-तरंग पैदा होने वाली है यह तत्काल पता चल जाता है। आजकल पश्चिम में अपनी वृत्तियों पर कंट्रोल पाने के लिए बायोफीडबैक का प्रयोग करते हैं। उससे पता लगा लेते हैं, तापमान कितना हैं, कौन-सी वृत्ति काम कर रही है। उस मशीन से पता लगता है और फिर अभ्यास के द्वारा उस वृत्ति पर नियंत्रण करते हैं। हमारे यहां तो यह पद्धति पहले से ही रही है। हमें बायोफीडबैक का प्रयोग करने की जरूरत नहीं। ध्यान की गहराई में जाकर हम ऐसा जागरूक भाव विकसित कर लेते हैं। हमें तत्काल पता लग जाता है कि कौन-सी वृत्ति जागने वाली है। तत्काल फिर उस वृत्ति पर नियंत्रण पाने की क्षमता हो जाती है। क्रोध उतरने वाला है, अभिमान उतरने वाला है, उद्दण्डता उतरने वाली है, वासना उतरने वाली है, भय उतरने वाला है, आलस्य उतरने वाला है। कौन-सी तरंग अब मस्तिष्क में सक्रिय हो रही है, तत्काल पता लग जाएगा और पता लगा तो आप तत्काल उस पर नियंत्रण पाने में सक्षम हो जाएंगे। यह एक उपाय है अपने व्यक्तित्व को सर्वतोमुखी और शक्तिशाली बनाने का। मैं सोचता हूं ध्यान के द्वारा हम आत्म-निरीक्षण की विधा में आगे बढ़ें, अपनी चेतना को जागरूक बनायें, सक्रिय बनायें, इतनी कर्मण्य बनायें, इतनी सक्षम बनायें कि बाहर की घटनाओं का आकलन भी कर सकें और भीतरी घटनाओं का आकलन भी कर सकें। भीतर और बाहर—इन दोनों जगत् की घटनाओं का आकलन कर अपने यथार्थ के धरातल पर यथार्थ का जीवन जी सकें, यही हमारा लक्ष्य है।

संकल्प-शक्ति का विकास

दरवाजा खोलना है। आज एक छोटा बच्चा भी दरवाजा खोल सकता है। किन्तु आदिम-युग के आदमी को कहा जाए कि दरवाजा खोलो तो वह सामने आकर खड़ा हो जाएगा। समझ ही नहीं पाएगा कि क्या करना है। दरवाजा देखा ही नहीं, कल्पना ही नहीं कि मकान भी होता है। दरवाजा भी होता है। बन्द भी किया जा सकता है। खोला भी जा सकता है। जिस व्यक्ति को जिसकी कल्पना नहीं होती, वह व्यक्ति वह काम नहीं कर सकता। आज से दो सौ वर्ष, चार सौ वर्ष पहले के आदमी को कहा जाये कि घड़ी देखो, क्या देखेगा। कुछ भी पता नहीं चलेगा। घड़ी वही थी कि नीचे रेत गिर रही है। पानी नीचे गिर रहा है और घंटा बज रहा है। एक मिनट का हिसाब लगाना कठिन था।

हमारी चेतना दो प्रकार की होती है। एक है पदार्थनिष्ठ चेतना और दूसरी है स्वनिष्ठ चेतना। चेतना का विकास पदार्थ के साथ-साथ होता है, पदार्थ का विकास और चेतना का विकास। दूसरा चेतना का विकास स्व-निष्ठ होता है, अन्तर्निहीत होता है। जितनी कम वस्तुएं थीं, बाह्य जगत् का हमारा ज्ञान भी कम था। वस्तुओं का जितना विकास हुआ, हमारा ज्ञान भी बढ़ गया। स्वगत चेतना का विकास—यह एक बिलकुल आन्तरिक प्रश्न है। पदार्थनिष्ठ चेतना के लिए चेतना को बदलने की जरूरत नहीं होती, रूपान्तरित होने की जरूरत नहीं होती, केवल जानकारी बढ़ाने की जरूरत होती है, आकलन की जरूरत होती है। हमारी शिक्षा आकलनात्मक शिक्षा है। बाहर से आकलन कर लेती है। आंकड़े बढ़ जाते हैं। किन्तु भीतर से इसे बदलने की जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि पदार्थनिष्ठ ज्ञान बहुत बढ़ जाने पर भी चेतना में जो रूपान्तरण होना चाहिए, जो परिवर्तन होना चाहिए, वह नहीं होता। एक बड़ा वैज्ञानिक, एक बड़ा प्रोफेसर, एक बड़ा दार्शनिक, एक बड़ा तत्त्ववेत्ता अपनी आन्तरिक चेतना में उतना ही कुरूप मिल सकता है जितना एक अनपढ़ आदमी मिलता है। चेतना की कुरूपता और सुन्दरता दोनों हैं। भीतर में कौन व्यक्ति कुरूप नहीं है, कहना बड़ा कठिन है। हम लोग सुखी हैं, इसलिए कि केवल इन्द्रियों के सहारे अपना

जीवन चला रहे हैं। हमें अतीन्द्रिय चेतना प्राप्त नहीं है। पारदर्शी चेतना प्राप्त नहीं है, यह बहुत अच्छा है हमारे लिए। अगर पारदर्शी चेतना प्राप्त हो जाये और उसमें अपनी कुरूपता की झांकी मिल जाये तो पता नहीं आदमी का क्या हो जाये। जीना भी कठिन हो जाता है।

एक कहानी है। एक गुरु के पास कोई डण्डा था। उस डण्डे में यह विशेषता थी कि जिधर घुमाओ उधर उस व्यक्ति की सारी खामियां दीखने लग जाएं। अच्छा साधन मिल गया। शिष्य को दे दिया डण्डा। कोई भी आता, शिष्य डण्डा उधर कर देता। सब कुरूप-ही-कुरूप सामने दीखते। अब भीतर में कौन कुरूप नहीं है? हर आदमी कुरूप लगता। किसी में क्रोध ज्यादा, किसी में अहंकार ज्यादा, किसी में घृणा का भाव, किसी में ईर्ष्या का भाव, किसी में द्वेष का भाव, किसी में वासना, उत्तेजना। हर आदमी कुरूप लगता। बड़ी मुसीबत, कोई भी अच्छा आदमी नहीं आ रहा है। उसने सोचा, गुरुजी को देखूं, कैसे हैं? गुरु को देखा तो वहां भी कुरूपता नजर आयी। गुरु के पास गया और बोला कि महाराज! आप में भी यह कमी है, यह कमी है। गुरु ने सोचा कि यह मेरे ऊपर भी प्रयोग हो गया। मेरे अस्त्र का मेरे पर ही प्रयोग! बताता गया, कई दिन तक बताता गया। गुरु आखिर गुरु था। उसने कहा कि डण्डे को इधर-उधर घुमाते हो, कभी अपनी ओर जरा घुमाओ। घुमाया। देखा तो पता चला कि गुरु में तो केवल छेद ही थे, यहां तो बगारे के बगारे पड़े हैं। बड़ा असमंजस में पड़ गया। यह अच्छा है। हमारी इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। बहुत कम सुन पाते हैं। दूर की बात नहीं सुन पाते। भीतर की बात नहीं देख पाते। बहुत अच्छा है, अगर कान की शक्ति बढ़ जाये तो आज की दुनिया में इतना कोलाहल है कि नींद लेने की बात ही समाप्त हो जाएगी। देखने की शक्ति बहुत पारदर्शी बन जाये तो इतने बीभत्स दृश्य हमारे सामने आयेंगे कि फिर आदमी का जीना ही मुश्किल हो जायेगा।

कुरूपता चेतना के भीतर होती है। कुरूपता है और अच्छा यह हुआ कि हमारी मूर्च्छा भी है। जहां कुरूपता है वहां हमारा अज्ञान भी है, वहां हमारी मूर्च्छा भी है। अज्ञान को तोड़ें, मूर्च्छा को तोड़ें और कुरूपता बनी रहे तो भयानक स्थिति बन सकती है। यह प्रकृति की कोई ऐसी व्यवस्था है कि हमारी मूर्च्छा भी नहीं टूट पा रही है। हमारा अज्ञान का आवरण भी नहीं टूट पा रहा है तो कुरूपता भी निभ रही है। बराबर निभ रही है। अगर

वे टूट जाते तो कुरूपता फिर नहीं रह पाती। आदमी अपने आप में बड़ा विचलित और उद्विग्न हो जाता। एक वकील था और वकील की पुत्री बड़ी कुरूप थी। बहुत कुरूप, कोई शादी नहीं करता। सोचा, आंखवाला तो शादी नहीं करेगा। ऐसे व्यक्ति को खोजा जो अन्धा था। अन्धे को ब्याह दी। कुछ दिनों बाद एक वैद्य आया और उसने कहा—'वकील साहब ! मेरे पास ऐसी दवा है कि मैं अन्धे को भी दृष्टि दे सकता हूं। आपका दामाद अन्धा है, मुझे आदेश दें। मैं चिकित्सा करूं और उसको दृष्टि दे दूं।' वकील ने कहा—'मेरे दामाद को अन्धा ही रहने दो। कुरूप लड़की के पति को अन्धा ही रहने दो। आंख हो गई तो फिर तलाक जल्दी ही हो जायेगा, देरी नहीं लगेगी।'

हमारी कुरूपता चल रही है, हमारी मूर्च्छा और हमारा आवरण है अज्ञान का इसलिए। किन्तु जब आंख खुलने लगती है, मूर्च्छा थोड़ी-थोड़ी टूटने लगती है, अज्ञान मिटने लगता है तो फिर कुरूपता का टिकना भी कठिन हो जाता है। परिवर्तनशील संसार में, बदलती हुई दुनिया में चेतना का भी परिवर्तन होना जरूरी है। अन्यथा संतुलन स्थापित नहीं रह पाएगा। चेतना को बदलने के लिए, अपनी भीतरी कुरूपता को समाप्त करने के लिए बहुत आवश्यक है संकल्पशक्ति का विकास। मनुष्य बदलता है, चेतना बदलती है। उसका एक शक्तिशाली माध्यम है—संकल्प-शक्ति। आज तक जो विकास हुआ है उसमें संकल्प-शक्ति का बड़ा योगदान रहा है। आदिकाल से आज तक मनुष्य ने जितनी घाटियां पार की हैं, जो नहीं था उसे प्राप्त किया है, जितना विकास किया है, उसमें संकल्प-शक्ति का बड़ा योगदान रहा है। संकल्प-शक्ति के सहारे वह बदलता गया, बदलता गया। उसके शरीर का आकार बदला है, प्रकार बदला है, इन्द्रियां बदली हैं, चेतना बदली है। पूरा विकास होता गया। इच्छाशक्ति, संकल्प-शक्ति और एकाग्रता की शक्ति—ये तीन हमारी बड़ी शक्तियां हैं। ये तीन मनुष्य की दुर्लभ विशेषताएं हैं और इन शक्तियों के आधार पर ही आज के विकास के बिन्दु पर पहुंचे हैं। संकल्प-शक्ति हमारी बहुत बड़ी शक्ति है।

संकल्प-शक्ति का अर्थ है—कल्पना करना और उस कल्पना को भावना का रूप देना, दृढ़ निश्चय करना। जब हमारी कल्पना उठती है और वह कल्पना दृढ़ निश्चय में बदल जाती है तो हमारी कल्पना संकल्प-शक्ति बन जाती है। पहले-पहल कल्पना उठती है, ऐसा हो सकता है, ऐसा होना

चाहिए। यह हमारी कल्पना है। कल्पना में इतनी ताकत नहीं होती। उसमें इतना बल नहीं होता। जब कल्पना को पुट लगती है, उसकी ताकत बढ़ जाती है। होमियोपैथी दवा में पोटेन्सी बढ़ती चली जाती है। जैसे-जैसे सूक्ष्मता आती है, उसकी क्षमता बढ़ती चली जाती है। आयुर्वेद की दवाइयों में ऐसा होता है। सुना होगा, अभ्रक एक दवाई है। बहुत काम में लेते हैं आयुर्वेद के वैद्य। पांच पुटी अभ्रक होती है और एक हजारी पुटी अभ्रक होती है, मूल्य में बहुत अन्तर होता है, लाभ में बहुत अन्तर होता है। हजार पुटी अभ्रक बनाने के लिए अनेक वर्ष लग जाते हैं। दादा शुरू करता है तो बेटे के काम आती है और कभी-कभी पोते के काम आ जाती है। काफी वर्ष लग जाते हैं। पन्द्रह-बीस वर्ष लग जाते हैं पुट देते-देते। किन्तु उसकी ताकत बढ़ जाती है। भावनाभावित होने पर हर वस्तु की शक्ति बढ़ जाती है। द्रव्य वही होता है पर जैसे-जैसे भावना की पुट लगती है वैसे-वैसे उसकी क्षमता बढ़ती चली जाती है। यदि सौ बार पानी को भी मथा जाए तो उसमें बिजली बढ़ जाएगी। पानी को उलट-पुलट किया जाए, उसकी क्षमता बढ़ जाएगी। दूध सीधा आया और पी लिया। दूध को पांच-दस बार नीचे डाला, एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डाला। उससे भी विद्युत्-शक्ति बढ़ जाएगी। तो यह भावना और पुट के कारण परिवर्तन होता है। हमारी कल्पना-शक्ति जब भावना से पुटित होती है तो उसको क्षमता बढ़ जाती है। कल्पना फिर दृढ़ निश्चय और संकल्प बन जाता है और संकल्प की शक्ति होती है तो फिर चेतना का परिवर्तन शुरू होने लगता है। संकल्प-शक्ति के अभ्यास के लिए पहले करना होता है—अस्वीकार की शक्ति का विकास। जब तक हमारी अस्वीकार की शक्ति नहीं बढ़ती तब तक संकल्प-शक्ति का विकास नहीं हो सकता। हमारी इन्द्रियों की मांग, मन की मांग और परिस्थिति की मांग—इन मांगों को अस्वीकार करने की क्षमता नहीं होती है तो संकल्प-शक्ति का विकास नहीं हो सकता।

सामने बढ़िया भोजन है—सुस्वादु, जीभ को स्वाद देने वाला। इन्द्रियों की मांग है कि और खाएं, और खाएं। अगर अस्वीकार की क्षमता नहीं है तो फिर खाता चला जाता है और खाने का क्या परिणाम होता है, वह भी सब जानते हैं। बहुत सारे लोग, जिनमें पचाने की क्षमता नहीं, फिर भी बहुत खा जाते हैं। दुःख पाते हैं, फिर भी खाते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है। ऐसा क्यों होता है ? उनमें अस्वीकार करने की क्षमता नहीं है। अस्वी-

कार नहीं कर पाते। सामने आता है तो फिर रहा नहीं जाता। न आए तो अस्वीकार स्वयं है। पर आए, फिर अस्वीकार कर दे, यह संभव नहीं। इन्द्रियों की मांग, जीभ की मांग, आंख की मांग, कान की मांग—हर चीज की मांग को अस्वीकार नहीं कर पाते। दूसरी है मन की चपलता की मांग। मन में इतने विकल्प उठते हैं, इतनी भाव-तरंगें उठती हैं, उन्हें हच अस्वीकार नहीं कर पाते। हमारी चपलता के कारण हमारे मस्तिष्क में भावों की तरंग उठती रहती हैं। प्रयोजनवश और बिना प्रयोजन, आवश्यक और अनावश्यक, भाव-तरंगें उठती रहती हैं। उन्हें अस्वीकार करने की क्षमता न हो तो जीवन कठिनाई में पड़ जाता है। इसके बाद एक तरंग उठती है। हम एक बात पर ध्यान दें। हम जीवन में वही काम नहीं करते जो जीवन में हमारे लिए आवश्यक होता है। यदि आवश्यक काम ही करें तो बहुत सारी समस्याओं से निपट लेते हैं। पर अनावश्यक काम भी बहुत करते हैं। अनावश्यक लालच, अनावश्यक गुस्सा, अनावश्यक बातचीत। जीवन में तुलना करें कि आवश्यकतावश कितना काम करते हैं और अनावश्यक कितना काम करते हैं। हिंसा भी आदमी को करनी पड़ती है आवश्यकतावश। आवश्यक हिंसा कितनी करते हैं और अनावश्यक हिंसा कितनी करते हैं, इस बात का विवेक जाग जाए और यह भेदरेखा स्पष्ट हो हो जाये कि अनावश्यक काम नहीं करना है तो मैं समझता हूं कि ध्यान का एक प्रयोजन सफल हो गया। वह व्यक्ति जीवन में सफल हो गया जो अनावश्यक काम नहीं करता। किन्तु पता चलेगा कि हमारे समय का बहुत बड़ा भाग भी अनावश्यक कामों में बीत जाता है। बहुत अच्छा है कि किसी का न बीते। वह बहुत अच्छा आदमी है जो अनावश्यक कामों में अपने समय का उपयोग नहीं करता, केवल आवश्यकतावश करता है। अनावश्यकतावश आदमी को बुराई भी कर लेनी पड़ती है, जैसे कल्पना करें कि रिश्वत देना बहुत बुरा है। लेना भी बुरा है। स्थिति ऐसी आ जाती है। यह सुनी हुई बातें आपके सामने बता रहा हूं। आप लोग जानते ही होंगे कि कोई बीमार है, हॉस्पिटल में उसे भर्ती करना है। यात्रा करनी है, जरूरी है जाना। टिकट नहीं मिल रहा है। ऐसी स्थितियां हैं, अब ऐसी स्थितियों में रिश्वत के बिना काम नहीं होता। बीमार को अनिवार्यतः भर्ती करना है। अनिवार्यतः यात्रा करनी है। कोई उपाय नहीं, आदमी रिश्वत दे देता है। मैं नहीं कहता कि रिश्वत देना अच्छा है। आप यह न मानें। मैं बुराई को

समर्थन नहीं कर रहा हूं, पर कभी-कभी बुराई करने के लिए आदमी विवश हो जाता है। वह अनिवार्य स्थिति में फंस जाता है। पर क्या सब लोग बुराई करने वाले अनिवार्य स्थिति के कारण करते हैं ? ऐसा नहीं है। अपना स्वार्थ, अपना लालच, अपनी आकांक्षा, अपनी दुर्भावना के कारण करते हैं। यदि इतना विवेक भी स्पष्ट हो जाये कि कोई काम अनिवार्यतावश करना पड़ा तो समाज उसे क्षमा भी कर सकता है कि ऐसी स्थिति में बेचारा क्या करता, और कोई उपाय नहीं था। किन्तु अनिवार्यता के बिना, अपनी दुर्बलता के कारण, अपनी स्वार्थ-भावना के कारण कितना काम करना पड़ता है और कितना काम लोग करते हैं। इसलिए आवश्यक है—अस्वीकार की शक्ति का विकास।

दूसरी बात है—व्रत की शक्ति का विकास। भारतीय सभ्यता और संस्कृत में व्रत का बहुत बड़ा महत्त्व था। हर धर्म ने व्रत की शक्ति का विकास किया था। व्रतों का बड़ा महत्त्व हुआ। सबने व्रतों का विधान किया और सब लोग व्रतों को स्वीकार करते हैं। यहां दीक्षा शब्द बहुत प्रचलित रहा। दीक्षा का अर्थ ही था—व्रतों का स्वीकार। यज्ञोपवीत से लेकर विभिन्न संस्कारों में, संन्यास में, मुनित्व में, कहीं भी कोई जाये, व्रत का विधान उसके लिए होता था। आज वह व्रत का विधान भी छूट गया। व्रत की शक्ति भी कम हो गई। आपने अणुव्रत का नाम सुना होगा। अणुव्रत का आन्दोलन चला। आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन चलाया। इसीलिए कि हमारी व्रत की शक्ति का विकास हो। अणुव्रत आन्दोलन असाम्प्रदायिक आन्दोलन। उसका किसी सम्प्रदाय ले संबंध नहीं है। जैन हो, वैष्णव हो, सनातनी हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, बौद्ध हो—किसी भी धर्म को मानने वाला हो, वह अणुव्रती बन सकता है। उसके साथ कोई उपासना की पद्धति नहीं जुड़ी है। जहां उपासना की पद्धति होती है वहां तो सम्प्रदाय का अपना-अपना भेद हो जाता है। किन्तु उपासना की पद्धति नहीं। केवल आदमी चरित्रवान कैसे रह सके और उसका सामाजिक चरित्र कैसे अच्छा रह सके, नैतिक जीवन जी सके, इसीलिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ। उसके मूल व्रत हैं—संकल्पपूर्वक हत्या नहीं करूंगा। हत्या हो जाती है, जीव मर जाता है, हिंसा हो जाती है। प्रमाद से हिंसा होती है। आदमी चलता है, जीव मर जाता है। आक्रामक हिंसा का प्रतिकार करना होता है। किसी ने आक्रमण कर दिया, प्रतिकार करने की स्थिति आती है, हिंसा होती है।

इस हिंसा को समाज रोक नहीं सकता। एक बार हम लोग दिल्ली में थे। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का युद्ध चल रहा था। हिन्दू महासभा भवन में हमारा चातुर्मास था। उस समय दिल्ली यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर आये। उन्होंने कहा कि आचार्यजी ! अभी तो आपके हिसाब से बहुत बुरा हो रहा है। कितने लोग मर रहे हैं, कितनी हिंसा हो रही है। आप तो जैन हैं, अहिंसा में विश्वास करने वाले। कितना बुरा हो रहा है। कैसा लगता होगा ! आचार्यश्री ने कहा—'मुझे तो कुछ भी ऐसा नहीं लगता। कोई अस्वाभाविक नहीं लगता।' यह कैसे ? आप तो अहिंसा में विश्वास करते हैं ? आचार्यश्री ने कहा—यह मेरे हाथ में कपड़ा है। ये कपड़े के दो छोर हैं—एक यह और एक वह। एक है परिग्रह का छोर और एक है हिंसा का छोर। अगर आप परिग्रह को रखते हैं और फिर हिंसा से बचना चाहते हैं तो मैं मानता हूं कि आपकी कायरता है। आपका अज्ञान है। जो आदमी परिग्रह रखेगा, संग्रह रखेगा, उसे परिग्रह की सुरक्षा के लिए हिंसा भी अनिवार्यतः करनी पड़ेगी। यदि आप अपरिग्रही हो जायें और फिर हिंसा करें तो मुझे अटपटा लगेगा। फिर कैसे हिंसा करेंगे ? परिग्रह और हिंसा—ये एक ही कपड़े के दो छोर हैं। एक ही वस्तु के दो छोर हैं। कोई संग्रह तो करे—धन का संग्रह करे, मकान का संग्रह करे, पदार्थ का संग्रह करे, जमीन का संग्रह करे, और यह यह कहे कि मैं हिंसा नहीं करूंगा तो यह मूर्खतापूर्ण बात है, विरोधाभास है। परिग्रही को हिंसा करनी पड़ेगी, अपनी सुरक्षा करनी पड़ेगी। आप अपरिग्रही बन जायें, सब कुछ छोड़ दें, फिर हिंसा आपके लिए प्राप्य ही नहीं होगी।

परिग्रह और हिंसा दो बात नहीं है। एक भ्रम है कि जैन लोग अहिंसा को परम धर्म मानते हैं। मैं ऐसा नहीं सोचता। मैं यह सोचता हूं कि भगवान् महावीर ने अपरिग्रह को परम धर्म कहा था, अहिंसा उसके बाद दूसरे नम्बर में है। अपरिग्रह होगा, तब अहिंसा होगी। जब अपरिग्रह नहीं है, फिर हिंसा छोड़ने की बात प्राप्त ही नहीं होगी। परिग्रह के लिए हिंसा होती है, हिंसा के लिए परिग्रह नहीं होता। यह सिद्धान्त समझ में आ जाये तो आज की आर्थिक समस्याएं, सामाजिक समस्याएं सुलझ सकती हैं। किन्तु यह मान बैठें कि परिग्रह तो चाहे जितना करो, अहिंसा व्रत स्वीकार करेंगे, यह संभव नहीं लगता।

अणुव्रत का पहला व्रत है कि संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करूंगा। यानी

जानबूझकर, बिना प्रयोजन, कोई उद्देश्य नहीं है, केवल मखौल में किसी को मार दिया, प्रमादवश मार दिया, ऐसे ही कुतूहलवश मार दिया—इस प्रकार की हिंसा नहीं करूंगा।

उसका एक व्रत है कि जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, लिंग-रंग-भेद के कारण किसी भी मनुष्य को ऊंचा या नीचा नहीं मानूंगा। मनुष्य जाति एक है, किन्तु हमने अपनी मान्यताओं के कारण, अपनी धारणाओं के कारण ऐसा भेद बीच में खड़ा कर दिया कि किसी आदमी को छोटा मानते हैं, किसी को बड़ा मानते हैं। किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानते हैं। छूत और अछूत मानते हैं। इस मान्यता के कारण मानव-जाति में बहुत बड़े विग्रह पैदा हुए हैं। इस साम्प्रदायिक भेद और जातीयभेद ने समाज का बड़ा अहित किया है। इस प्रकार के ग्यारह व्रत हैं अणुव्रत में जो मानव-जाति और मानव-समाज के लिए बहुत कल्याणकारी हैं।

मिलावट नहीं करना, दहेज का प्रदर्शन नहीं करना, रुपये-पैसे लेकर वोट नहीं देना—ये सारे के सारे व्रत हैं। व्रत बहुत छोटे-छोटे लगते हैं किन्तु इस छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा हमारी संकल्प-शक्ति का विकास होता हैं। अस्वीकार की शक्ति और व्रत की शक्ति—ये दो संकल्प-शक्ति को विकसित करने के बड़े अच्छे उपाय हैं।

संकल्प-शक्ति के विकास के लिए तीसरा उपाय है—नियमितता। आप एक छोटा-सा प्रयोग करें। आपका इष्ट मंत्र अलग-अलग हो सकता है। इतने लोग बैठे हैं। मैं आपको कोई मंत्र नहीं बताऊंगा। जो आपका इष्ट हो और जिस पर आपका विश्वास हो, उसका आप एक निश्चित स्थान में, निश्चित समय में प्रतिदिन जाप करें। एक वर्ष प्रयोग करके देखें कि आपकी संकल्प-शक्ति कितनी बढ़ जाती है। ठीक वही समय और वही स्थान। निश्चित देश और निश्चित काल। उसका प्रयोग करें तो स्वयं अनुभव होगा कि मेरी आंतरिक शक्ति, क्षमता और संकल्प-शक्ति कितनी बढ़ गई। जो सोचता हूं वही कर लेता हूं, यह वचन-सिद्धि का बहुत बड़ा उपाय है। वचन-सिद्धि का अर्थ है कि मुंह से जो बात निकल जाती है वह बात हो जाती है। यह वचन-सिद्धि का बहुत सुन्दर उपाय है कि तीन वर्ष तक कोई आदमी एक निश्चित समय पर अपने इष्ट मन्त्र का जप करे तो उसकी वचन-शक्ति में परिवर्तन आ जायेगा।

हमारी चेतना बदलती है, भीतर से कुछ बदलता है, ऐसा परिवर्तन महसूस होता है। देश और काल की नियमितता से भी परिवर्तन घटित होता

है। ठीक समय पर काम करना और उसी समय वही काम करना जो जिस समय करना है। एक सूत्र था कि भोजन के समय भोजन, पानी के समय पानी, नींद के समय नींद, जागने के समय जागना। यदि सारा नियमित चलता है तो चेतना भी रूपान्तरित हो जाती है। भूख लगती है दस बजे। आज दस बजे खाया। कल बारह बजे खाया। परसों दो बजे खाया। बेचारे ज्ञान-तन्तु क्या करेंगे। भीतर से तो स्राद होने लग गया। यह कंडीशन के साथ चलने वाली चेतना है। पावलाव ने बहुत प्रयोग किये कि ठीक समय पर घंटी बजती और कुत्ते के मुंह से लार का स्राव होने लग जाता। तो हमारी चेतना भी शर्त के साथ चलती है। हम जिस समय भोजन करते हैं उस समय ज्ञान-तन्तु अपना काम करना शुरू कर देते हैं। ठीक समय आता है, लीवर अपना काम करना शुरू कर देता है। पक्वाशय और आमाशय—सब अपनी तैयारी में लग जाते हैं। पूरी तैयारी होती है, तैयारी तो करने लगे किन्तु दस बजे भोजन का समय था और भोजन किया बारह बजे। दो घंटे तक तैयारी करते-करते वे थककर विश्राम करने लग जाते हैं। फिर आप भोजन करेंगे तो वे अपना काम नहीं करेंगे। आपका असहयोग कर देंगे। वे भी असहयोग करना जानते हैं। यह मत समझो कि आदमी ही असहयोग करना जानता है। वे ज्ञान-तन्तु और कर्म-तन्तु भी अपना असहयोग करना जानते हैं। निश्चित समय, नियमितता। हमारे ज्ञान-तन्तु नियम की भाषा को समझते हैं। हमारे कर्मतन्तु नियम की भाषा को समझते हैं। देश-काल इन सारी बातों को समझते हैं। पर हम अपने जीवन में इतने अस्य-व्यस्त, इतने अव्यवस्थित, इतना नियम का और समय का अतिक्रमण करने वाले हैं कि पता ही नहीं चलता। कुछ लोगों में अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। नींद नहीं आती। एक कारण यह भी है अनिद्रा का कि सोने का कोई निश्चित समय नहीं है। नींद आने लगे और सो जाएं तो नींद आ जायेगी। नींद आ रही है पर दबाव डालते चले जाते हैं। ऐसी स्थिति बनती है कि नींद भी अपना विरोध प्रकट करती है और नहीं आना शुरू कर देती है। नींद की बात जाने दें. बहुत लोग कोष्ठबद्धता की बीमारी के शिकार होते हैं। कब्ज रहती है। कब्ज का सबसे बड़ा कारण भी यही है—अनियमितता। आवश्यकता है शौच जाने की। उसको भी रोकते हैं। देखते हैं कि दस मिनट, अभी तो बीच में उठकर जाना ठीक नहीं लगेगा। आदमी सोचता है कि सभ्यता के यह विपरीत होगा। अभी बीच में कैसे जाएं? रोकता है, रोकता है।

जो ज्ञान-तन्तु सक्रिय होते हैं, अपना काम करना चाहते हैं, वे निराश हो जाते हैं। आप दस बार ऐसा करें तो ग्यारहवीं बार वे भी कहेंगे कि अब तुम भी देखो, क्या होता है, मजा देखो हमारा। स्वाभाविक है, प्रतिरोध की भावना होती है। वे भी अपना काम करना, अपना संदेश देना बंद करने लग जाते हैं और धीरु-धीरे कोष्ठबद्धता बनने लग जाती है। नियमितता का बहुत बड़ा महत्त्व होता है संकल्प-शक्ति के विकास में।

संकल्प-शक्ति के विकास के लिए तीन बातें बहुत आवश्यक हैं—इन्द्रिय-विजय, कष्ट-सहिष्णुता और मन की एकाग्रता। जिस व्यक्ति में ये तीन बातें नहीं होतीं उसकी संकल्प-शक्ति टूट जाती है। एक आदमी संकल्प करता है कि मैं ऐसा नहीं करूंगा, नहीं करूंगा। पर इन्द्रियों पर काबू नहीं। कोई चीज सामने आयी और तत्काल संकल्प टूट जाता है। बीमार आदमी सोचता है कि इस चीज से मुझे बड़ा कष्ट हुआ. कल यह मैं नहीं पीऊंगा, नहीं खाऊंगा। किन्तु सामने आया तो कल की बात कल ही रह गई, आज की बात नहीं बनी। क्योंकि इन्द्रियों पर संयम नहीं है। संकल्प-शक्ति के विकास के लिए प्रथम शर्त है—इन्द्रियों का संयम।

दूसरी बात है—कष्ट-सहिष्णुता। थोड़ा-सा कष्ट आया और संकल्प टूट गया। कष्ट-सहिष्णुता जिसमें नहीं होती, उसकी संकल्प-शक्ति मजबूत नहीं होती।

तीसरी बात है—मन की चपलता। संकल्प किया पर मन इतना चपल होता है कि मन में तरंग उठी और बात समाप्त।

ये तीन बातें होती हैं तो संकल्प-शक्ति का विकास हो सकता है और बहुत अच्छा हो सकता है।

संकल्प-शक्ति के विकास के लिए एक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—सुझाव का। Suggestion या Auto-Suggestion का। बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। पश्चिम के लोगों ने एक चिकित्सा की प्रणाली का विकास किया है—आटोजेनिक चिकित्सा पद्धति। आटोजेनिक चिकित्सा पद्धति में स्वतः प्रभाव डालने वाली बात होती है। वे कल्पना करते हैं और कल्पना के सहारे वैसा अनुभव करते हैं। यह आटोजेनिक प्रणाली, इसे योग की भाषा में भावात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। हमारे यहां भावना का प्रयोग चलता था कि हम वैसा अनुभव करें। यह हाथ है। आप भावना का प्रयोग करें कि यह ऊपर उठ रहा है। अपने आप उठेगा और आपके सिर पर लग जायेगा, आप उठाने

का प्रयास नहीं करेंगे। अपने आप उठेगा और सिर पर लग जायेगा। आप भावना करें कि हाथ भारी हो गया है। आपका हाथ बहुत भारी बन जाएगा। कल्पना करें कि हाथ हल्का हो गया है, हल्का हो जाएगा। आप भावना करें कि हाथ ठंडा हो रहा है, ठंडा हो जाएगा। भावना करें कि हाथ गर्म हो रहा है, हाथ गर्म हो जाएगा। भावना हमारी चेतना को और वातावरण को बदलती है। यह ठीक भावना का प्रयोग है—आटोजेनिक चिकित्सा पद्धति। इस पद्धति के द्वारा रोगी अपने आप अपने को स्वस्थ करता है। दूसरे मार्गदर्शक की बहुत जरूरत नहीं होती। मात्र वह तो कहीं-कहीं सुझाव देता है। रोगी स्वयं अपनी चिकित्सा कर लेता है।

हम भावना को, भावना के प्रयोग को भूल गए। सुझाव का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है। एक आदमी पीड़ित है किसी भी अवयव की पीड़ा से। घुटने का दर्द, कमर का दर्द, गर्दन का दर्द—ये तीन स्थान बहुत ज्यादा दर्द के हैं और भारतीय लोग इनसे पीड़ित हैं। ये खास स्थान हैं। दर्द है, शरीर-प्रेक्षा का प्रयोग कर रहे हैं, उसे देख रहे हैं। इसके साथ भावना का प्रयोग करें। जहां दर्द है वहां हाथ टिका दें। उसे देखना शुरू कर दें, ध्यान उस पर केन्द्रित कर दें। अंगुलो का निर्देश और ध्यान वहां पर केन्द्रित है। दीर्घ श्वास लें, ध्यान वहीं टिका रहे, बीच-बीच में सुझाव दें कि वह अवयव स्वस्थ हो रहा है। आप प्रयोग करके देखें कि क्या परिणाम आता है। कितना अद्भुत परिणाम आता है। भावना के द्वारा, सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है। चेतना में परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। हम आदतों को बदल सकते हैं। जटिल से जटिल आदत को भावना के प्रयोग के द्वारा बदला जा सकता है। जिस आदत को बदलने में हजारों उपदेश और हजारों शिक्षाएं काम नहीं करतीं, भावना के द्वारा व्यक्ति स्वयं बदल सकता है और अपनी चेतना को एकदम नये ढांचे में ढाल सकता है।

आप जिस बात का प्रयोग कर रहे हैं, उसके प्रति आपके मन में भ्रम न रहे। यह कोई साम्प्रदायिक प्रयोग नहीं है। यह स्पष्ट होना चाहिए। जब तक मन से यह बात नहीं निकलेगी तब तक आप उसका लाभ नहीं उठा पाएंगे। यह शुद्ध आध्यात्मिक प्रयोग है—श्वास का प्रयोग। क्या श्वास किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित है? क्या अपने शरीर को देखना भी किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित है? श्वास, शरीर, शरीर के प्रकम्पन, शरीर की हलचलें—ये तो वैयक्तिक हैं। हर व्यक्ति की अपनी हैं। किसी का कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता

इनके साथ। ऐसे शुद्ध साधन हैं कि नितान्त वैयक्तिक साधन। आपके पुलिस-कर्मियों में से एक व्यक्ति दीर्घ श्वास लेता है और एक छोटा श्वास लेता है तो क्या जिसने दीर्घ श्वास लिया, दूसरे पास बैठे व्यक्ति को मिल जाएगा ? नहीं मिलेगा। बाप लम्बा श्वास लेता है, भावना का प्रयोग करता है, चेतना को बदलता है तो क्या बेटे की भी चेतना बदल जायेगी ? बाप.बेटे की भी नहीं बदलती। यह तो नितान्त वैयक्तिक प्रयोग है। जो व्यक्ति करता है, उसको लाभ मिल जाता है, नहीं करता है उसे नहीं मिलता। मैं तो दबाव नहीं देता कि कोई करे या न करे। करने वाले की इच्छा है, अपनी इच्छा है, हम क्यों थोपें ? क्यों दबाव दें कि करना ही होगा। अपनी इच्छा है। जिसको लाभ उठाना है करे, जिसे लगता है कि मुझे कोई लाभ नहीं उठाना है, नहीं बदलना है, न करे। किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आध्यात्मिक प्रयोग में परतंत्रता नहीं होती, दबाव नहीं होता और बाध्यता नहीं होती कि तुम्हें यह करना ही पड़ेगा। एक यूनिफॉर्म आपके है तो आपको दबाव होता है कि जब आप परेड के लिए जाएंगे तो उसी यूनिफॉर्म के साथ जाएंगे। वहां तो व्यवस्था का प्रश्न है, किन्तु जहां चेतना को भीतर से बदलने का प्रश्न है वहां हजार बार दबाव डाल दें पर भीतर की चेतना नहीं बदल सकती। वह तभी बदल सकती है, जब आप चाहें कि बदलना है। अन्यथा कभी भी नहीं बदल सकती। यह बिलकुल शुद्ध आध्यात्मिक प्रयोग, असाम्प्रदायिक प्रयोग, नितान्त वैयक्तिक प्रयोग और आपकी स्वतंत्र चेतना पर निर्भर प्रयोग है। आप चाहें तभी कर सकते हैं, न चाहें तो बिलकुल नहीं हो सकता।

भावना का प्रयोग और संकल्प-शक्ति के विकास का प्रयोग—ये दो हमारी चेतना के रूपान्तरण के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

प्रामाणिकता

हम दो आयामों में जीते हैं—एक व्यक्ति और एक समाज । प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति है और प्रत्येक व्यक्ति समाज है । समाज से कटा हुआ व्यक्ति अच्छा जीवन नहीं जी सकता और व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती । एक सीमा है व्यक्तित्व की और वह सीमा शरीर के द्वारा निर्मित है । एक ऐसा घेरा जो वैयक्तिक होता है । इन्द्रियां, मन और बुद्धि—ये अपने व्यक्तित्व को बनाये हुए हैं । संवेदन व्यक्ति को बनाये हुए है । सुख-दुःख का संवेदन वैयक्तिक होता है । वह प्रसरणशील बाद में होता है, किन्तु प्रत्येक संवेदन अपने काल में वैयक्तिक होता है । ये सारी हमारी व्यक्तित्व की सीमाएं हैं और इन सीमाओं में हम व्यक्ति बने हुए हैं । प्राणी में कुछ मौलिक मनोवृत्तियां होती हैं । संज्ञाएं होती हैं । एक काम की वृत्ति है, संघर्ष की वृत्ति, सहयोग की वृत्ति । काम की वृत्ति प्राणी को सामाजिक बनाती है । मनुष्य सामाजिक बना है—काम एषणा के द्वारा । काम एषणा में एक से दो की अपेक्षा होती है और वह सामाजिकता का पहला बिन्दु बनता है ।

संघर्ष की वृत्ति भी है । संघर्ष भी अकेले में नहीं होता, दो में होता है । वह द्वन्द्व होता है । सहयोग भी दो में होता है । ये कुछ एषणाएं और कुछ वृत्तियां व्यक्ति को सामाजिक बनाती हैं । व्यक्ति को कभी भी सामाजिकता की सीमा से सर्वथा अतीत नहीं कर सकते । मछली पानी में रहती है और पानी में जीती है । पानी से मछली को अलग करने का अर्थ होता है—मृत्यु । सबसे बड़ा कारण जो व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्ध का है, वह है संक्रामकता । प्रभावों की संक्रामकता । व्यक्ति प्रभावित होता है, संक्रान्त होता है । हमारे जीवन में संक्रमण और प्रभाव के बहुत तत्त्व हैं । हम बाहर से बहुत प्रभावित होते हैं । कोई व्यक्ति यह सोचे कि मैं समाज से सम्बन्ध नहीं रखूंगा, अकेला गुफा में चला जाऊंगा और किसी से सम्पर्क नहीं रखूंगा, नितान्त अकेला बन जाऊंगा । पर वह नितान्त अकेलेपन की बात हिमालय में भी सम्भव नहीं है । विश्व के किसी भी कोने में सम्भव नहीं है । सौर-मण्डल का प्रभाव वहां भी आता है । हमारे विचारों का प्रभाव वहां भी जाता है । हम जो सोचते हैं । हमारा विचार केवल इस हॉल के भीतर ही

नहीं रहता। हमारे विचार संक्रमणशील है। वे दुनिया के अन्तिम छोर तक पहुंच जाते हैं। हमारे कार्य, हमारी वाणी, हमारे विचार—ये सभी संक्रमणशील तत्त्व हैं। पूरा वातावरण, पूरा वायुमण्डल ऐसे संक्रामक तत्त्वों से भरा पड़ा है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। ये आकाशिक रेकार्ड, पूरा आकाश इतना बड़ा रेकार्ड है, इतना बड़ा भण्डार और खजाना है कि कभी इसका पार नहीं पाया जा सकता। इस आकाश में अतीत में हुए अरबों, खरबों, असंख्य व्यक्तियों की आकृतियां आज भी विद्यमान हैं। इस आकाश में असंख्य काल पहले हुए मनुष्य की वाणियां आज भी विद्यमान हैं और इस आकाशमण्डल में मनुष्यों के चिन्तन आज भी विद्यमान हैं इस परिस्थिति में हम कैसे कल्पना कर सकते हैं कि कोई व्यक्ति नितान्त अकेला हो सकता है। वह नितान्त वाली बात कभी सम्भव नहीं होती। अकेलेपन की एक सीमा है और समाज की एक सीमा है और हमारे जीवन के जितने मूल्य हैं वे सारे सापेक्ष मूल्य हैं।

एक बुढ़िया ने ढाबा खोल रखा था। जो यात्री आते-जाते, उन्हें भोजन कराती और रात्रि को विश्राम के लिए स्थान की व्यवस्था भी करती। एक यात्री आया। ठहरा। भोजन किया। सोने का समय हुआ। उसने पूछा—क्या लोगी ? बुढ़िया ने कहा खाट पर सोने के चार आने। उसने सोचा—खाट पर सोने के चार आने लगेंगे। यह व्यर्थ का खर्च है। नीचे आंगन में लेट जाऊंगा। उसने कहा—मुझे खाट नहीं चाहिए, मैं तो ऐसे ही लेट जाऊंगा। बुढ़िया ने कहा—आंगन में लेटोगे तो एक रुपया। बड़ी अजीब बात कि खाट के चार आने और आंगन पर लेटने का एक रुपया। यह बात समझ में नहीं आयी। बुढ़िया ने कहा—खाट की सीमा है कि तुम इतना स्थान रोकोगे। नीचे लेटोगे तो पता नहीं सारा आंगन ही रोक लोगे मेरा। कहां सोओगे कोई सीमा ही नहीं है।

सीमा का अपना मूल्य होता है और असीमा का अपना मूल्य। प्रत्येक बात का मूल्य सापेक्ष होता है। हम निरपेक्ष दृष्टि से मूल्य अंकित नहीं कर सकते। व्यक्ति का अपना मूल्य होता है और समाज का अपना मूल्य।

वैयक्तिक स्वास्थ्य और सामाजिक स्वास्थ्य—ये ध्यान के दो कोण हैं। जागरूकता, मानसिक सन्तुलन, आत्म-निरीक्षण, संकल्पशक्ति का विकास और एकाग्रता की शक्ति का विकास—ये वैयक्तिक स्वास्थ्य के कोण हैं। इनकी चर्चा मैंने पिछले पांच प्रवचनों में की है। अब आगे के प्रवचनों में मुझे

सामाजिक स्वास्थ्य की चर्चा करनी है। यदि सामाजिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं है तो वैयक्तिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं रह सकता। वैयक्तिक चारित्र और सामाजिक चारित्र—दोनों सापेक्ष हैं। मैं स्वास्थ्य और चरित्र को दो दृष्टियों से नहीं देखता। जो हमारा चरित्र है वही हमारा वास्तव में स्वास्थय है जो हमारा स्वास्थ्य है वही हमारा वास्तव में चरित्र है। क्या अस्वस्थ व्यक्ति चरित्रवान हो सकता है ? क्या अस्वस्थ व्यक्ति के चरित्रवान होने की सम्भावना की जा सकती है ? बीमारी है तो स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाएगा, चरित्र भी बदल जाएगा, मस्तिष्क असन्तुलित हो जाएगा। सन्तुलित दिमाग उसी व्यक्ति का हो सकता है जो स्वस्थ होता है। शरीर से स्वस्थ, मन से स्वस्थ तो फिर सामाजिक संदर्भ में स्वस्थ।

'स्वस्थ' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इसके दो अर्थ होते हैं। दो व्युत्पत्तियां इसकी होती हैं—एक सु-अस्थि। जिसकी हड्डियां अच्छी होती हैं, मजबूत होती हैं, वह स्वस्थ होता है। दूसरा अर्थ है—स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः—जो अपने आप में स्थित होता है, वह स्वस्थ है। अपने आप में वही स्थित होता है जिसका मन सन्तुलित और सम्यक् होता है। स्वस्थ शब्द दो अर्थ की व्यंजना देता है—शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक सन्तुलन। हड्डियों का हमारे स्वास्थ्य के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। अस्थि जितने अच्छे होते हैं और अस्थि के साथ जुड़ी हुई मज्जाएं जितनी अच्छी होती हैं उतना ही स्वास्थ्य अच्छा होता है और जिसकी मज्जा अच्छी होती है, उसका मानसिक स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा होता है। शरीर और मन का सम्बन्ध है, स्वास्थ्य और स्वस्थ का परस्पर सम्बन्ध है। जो व्यक्ति स्वस्थ होता है वह सामाजिक सम्बन्धों में, सामाजिक सम्पर्कों में स्वस्थ होता है। तो इस दृष्टि से चरित्र और स्वास्थ्य दोनों जुड़े हुए हैं।

जहां धर्म की मीमांसा हुई, अध्यात्म की समीक्षा हुई, वहां दो शब्दों का विकास हुआ—अध्यात्म और नैतिकता। अध्यात्म है व्यक्तिगत सम्पर्क और नैतिकता है सामाजिक सम्पर्क। अध्यात्म अकेलेपन की सूचना करता है और नैतिकता द्वैत की, दो के सम्बन्धों की सूचना करती है।

एक व्यक्ति अपने आप में अच्छा हो सकता है। एक व्यक्ति अपने आप में निर्मल चित्त वाला हो सकता है, अध्यात्म हो सकता है, किन्तु एक व्यक्ति अपने आप में नैतिक नहीं हो सकता। जहां नैतिकता की कोई बात होगी

वहां सामने कोई दूसरा चाहिए, सम्बन्ध चाहिए, सम्पर्क चाहिए । नैतिकता हमारा व्यवहार का विज्ञान है और अध्यात्म हमारे अन्तःकरण का विज्ञान है ।

जहां सामाजिक सम्पर्क है, आदमी जहां समाज में जीता है, वहां उसे नैतिक होना जरूरी होता है । कोई व्यक्ति आध्यात्मिक हो या न हो, किन्तु नैतिक होना समाज की अपेक्षा है । यह सही बात है कि जो आध्यात्मिक होगा वह नैतिक होगा ही । किन्तु जो नैतिक होता है, उसका आध्यात्मिक होना जरूरी नहीं है । नैतिकता के लिए समाज का प्रेम, राष्ट्र का प्रेम भी आधार बनता है । किन्तु अध्यात्म के लिए व्यक्ति का अन्तःकरण ही प्रमाण होता है ।

नैतिकता का एक अर्थ है—प्रामाणिकता और दूसरा अर्थ है—सामंजस्य । नैतिकता की व्याख्या करना बहुत जटिल काम है । भारतीय आचारशास्त्रियों ने और पश्चिम के आचारशास्त्रियों ने, व्यवहारशास्त्रियों ने नैतिकता की व्याख्या में बहुत श्रम लगाया है और अधिकांश श्रम पश्चिम के आचारशास्त्रियों ने लगाया है । भारत में नैतिकता जैसी परिकल्पना स्पष्ट नहीं थी । हमारे यहां प्रामाणिकता की बात बहुत स्पष्ट थी और प्रामाणिकता की बात होती है वहां नैतिकता की अलग से चर्चा करना आवश्यक नहीं होता । किन्तु जब आज पश्चिम के आचारशास्त्र के सन्दर्भ में हम विचार करते हैं तब नैतिक शब्द का प्रयोग भी हमारे लिए जरूरी हो जाता है । तुलनात्मक दृष्टि से हम नैतिकता और प्रामाणिकता की चर्चा और समीक्षा करें ।

नैतिकता का एक अर्थ है—प्रामाणिकता । प्रामाणिकता तीन प्रकार की होती है—वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता । वचन की प्रामाणिकता भारतीय संस्कृति का एक बहुत उज्ज्वल पक्ष रहा है । जो बात मुंह से कह दी वह लोहे की लकीर बन गई । लिखने की जरूरत नहीं, किसी की साक्षी की जरूरत नहीं । बस मुंह से जो वचन कह दिया, प्राण चला जाये पर वचन को नहीं तोड़ना । हमारा इतिहास इस वचन की प्रामाणिकता से भरा पड़ा है । गुजरात के एक श्रेष्ठी की घटना का उल्लेख करना चाहता हूं । एक व्यापारी और बहुत प्रसिद्ध व्यापारी । नाम था भैंसाशाह । घटना गुजरात की है । रहने वाले थे राजस्थान के । गुजरात में गये थे । आवश्यकता हो गई व्यापार में एक लाख मुद्रा चाहिए । कहां से मिले ? अपरिचित थे, नया क्षेत्र और चाहिए

लाख रुपया। आज तो लाख रुपयों का बहुत मूल्य नहीं है, पर कल्पना करें आज से पांच सौ वर्ष पूर्व लाख रुपये का कितना मूल्य था। बड़ी विचित्र स्थितियां थीं। कल ही एक बहुत बड़े व्यापारी ने, जो आज करोड़पति है, बात बताई कि वर्ष में बारह सौ-तेरह सौ रुपया कमाते थे और घर का खर्च अच्छी तरह चल जाता, कोई कठिनाई नहीं थी। अच्छी तरह से खाते-पीते, घूमने भी चले जाते। आज तो कल्पना की बात लगती है कि बारह सौ, तेरह सौ रुपयों में पूरे वर्ष का खर्च चल जाता और आराम से जीवन बिताते। एकमात्र काल्पनिक कहानी जैसी बात लगती है। उस जमाने में एक लाख रुपया किसी से लेना कितनी बड़ी बात थी। भैंसाशाह एक बड़े सेठ के पास गया। जाकर कहा—लाख रुपया चाहिए। पूछा—आपका नाम ? भैंसाशाह प्रसिद्ध नाम है। सेठ ने कहा कि आप ले लें, लेकिन फिर भी मैं चाहता हूं कि कुछ आप अनुबन्ध कर लें तो अच्छा होगा। उसने कहा—कोई जरूरत नहीं, कोई आवश्यकता नहीं। अगर आपको विश्वास न हो तो यह मूंछ का एक बाल, भैंसाशाह की मूंछ का एक बाल रख लें और लाख रुपये दे दें। तत्काल लाख रुपये निकालकर दे दिये। काम हो गया। आज लगता है कि मूंछ के बाल की बात दूर है, पूरी मूंछ भी रख दें तो शायद लाख रुपया वापस नहीं आये। बड़ा कठिन काम है।

तीन व्यक्ति होटल में आये, भोजन किया और बिल चुकाने का प्रश्न आया तो तीनों परस्पर लड़ने लगे। होटल के मालिक ने कहा—क्यों लड़ते हो ? उन्होंने कहा—लड़ाई इस बात की है कि यह कहता है जो हमारी प्रतियोगिता में जीतेगा वही बिल चुकायेगा। क्या है तुम्हारी प्रतियोगिता? दौड़ की हम प्रतियोगिता कर रहे हैं। जो व्यक्ति सबसे पहले आयेगा वह बिल चुकायेगा। इसलिए बिल चुकाने की अभी बात नहीं, अब तो देखते हैं कौन फर्स्ट आयेगा। होटल के मालिक ने कहा—यह तो बहुत अच्छी बात है, हम भी देखेंगे। करो दौड़। दौड़ शुरू हुई। तीनों ही दौड़ने लगे। दौड़े तो दौड़ते गये कि मालिक प्रतीक्षा करता ही रहा, कौन फर्स्ट आता है ?

यह सब क्यों होता है ? जहां हमारे वचन का कोई मूल्य नहीं होता, वाणी का मूल्य नहीं होता, इस सरस्वतीदेवी की प्रतिष्ठा को खो चुकता है आदमी, तब कोई भी अर्थ नहीं होता। हमारे जीवन का सबसे मूल्यवान साधन है हमारी वाणी। वाणी ने समाज की रचना की है। यदि वाणी न हो तो समाज नहीं बन सकता। समाज के सारे सम्पर्कों में, समाज के सारे

सम्बन्धों में सबसे बड़ा कोई तत्त्व है तो वह है वाणी। आज आप ऐसे समाज की कल्पना करें जहां सब वाणीविहीन हैं। आप कल्पना करें, समाज कैसे चलेगा, कब तक चलेगा? समाज ही समाप्त हो जायेगा। पशुओं का समाज नहीं बना। गायों का, भैंसों का समाज नहीं बना। इसलिए नहीं बना कि उनकी वाणी नहीं है। व्यक्त भाषा नहीं है। व्यक्त भाषा के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। भाषा ने समाज को जन्म दिया है और उस वाणी की प्रतिष्ठा ही जब हम खो बैठते हैं तो हमारी प्रामाणिकता और नैतिकता की सारी बात समाप्त हो जाती है। हिन्दुस्तान ने, हिन्दुस्तान की आध्यात्मिक संस्कृति ने, यहां की सभ्यता ने इस बात का अनुभव किया था कि जीवन में सबसे ज्यादा मूल्य हो सकता है तो वह वाणी का हो सकता है। मन का बहुत मूल्य है, किन्तु अपने लिए। आपके मन की बात आप जानें। दूसरे को क्या मतलब! आप किसी भी व्यक्ति के बारे में बुरा सोचें, किसी भी व्यक्ति के बारे में अच्छा सोचें, दूसरे को पता नहीं चलता। मन हमारी वैयक्तिक बात है।

शरीर भी कुछ अर्थों में वैयक्तिक है, किन्तु सामाजिक सूत्रों को जोड़ने वाली है हमारी वाणी। वाणी के बिना एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ नहीं सकता। इसके द्वारा ही एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ता है और टूटता है। वाणी के द्वारा सम्बन्ध स्थापित होते हैं और वाणी के द्वारा विसम्बन्ध भी होता है। तो यह मूल सूत्र है—वाणी। हमने वाणी की प्रतिष्ठा की। वाणी को सरस्वतीदेवी का स्थान दिया। सरस्वती की उपासना की, आराधना की। आज सबसे ज्यादा फिर अप्रतिष्ठा दी है तो वाणी को दी है। वाणी का मूल्य इतना खो चुका है आदमी कि ऐसा लगता ही नहीं कि इसका भी कोई मूल्य है। दो घंटा पहले एक बात कही और दो घंटा बाद उसको बदल दिया तो क्या फर्क पड़ा। वह भी मौखिक बात थी, यह भी मौखिक बात है। मूंछ ऊंची रहे तो क्या, मूंछ नीची आ गई तो क्या फर्क पड़ा। कुछ भी फर्क पड़ने वाला नहीं है। वाचिक प्रामाणिकता प्रधान सूत्र है नैतिकता का।

प्रामाणिकता का दूसरा विषय है—आर्थिक प्रामाणिकता। अर्थ के संबंध में प्रामाणिकता का विकास हुआ था। बहुत जबरदस्त विकास हुआ था। परिभाषा की गई कि पवित्र कौन होता है? अर्थशुचिः शुचिः। जो आर्थिक मामले में पवित्र होता है वास्तव में वही व्यक्ति पवित्र होता है। आर्थिक पवित्रता की पुरानी घटनाएं भी हैं। नयी घटना भी आज हमारे सामने है।

नयी घटना है आचार्य नरेन्द्रदेव की। बहुत बड़े विद्वान् और बहुत बड़े राजनीतिज्ञ हुए हैं—आचार्यनरेन्द्रदेव। वाइस चांसलर थे। तांगे में जा रहे थे। लोगों ने पूछा—यह कैसे, महाराज! आपके पास तो कार है, फिर तांगे में कैसे? उन्होंने कहा—मैं अपने काम से जा रहा हूं। कार विश्वविद्यालय की है। मैं अभी विश्वविद्यालय के काम से नहीं जा रहा हूं, मैं अपने काम से जा रहा हूं। यह है आर्थिक प्रामाणिकता।

जोधपुर राज्य का दीवान था। दो दीये जलाया करता था अपने घर में। कोई देखने नहीं आता था, फिर भी वे अपने घर में दो दीये जलाते थे। जब राज का काम करता तो राजकी दीया जलता और जब अपने घर का काम करता तो उस दीये को बुझा देता, अपना दूसरा दीया जला लेता। यह है आर्थिक प्रामाणिकता।

अर्थ के विषय में आदमी इतना प्रामाणिक होता है कि दूसरे के हक का लेना नहीं चाहता। आज एक भ्रान्ति पैदा हो गई कि गरीब आदमी प्रामाणिक कैसे रह सकता है? इस भ्रम को तोड़ना होगा। यदि गरीब आदमी प्रामाणिक नहीं हो सकता तो उसकी गरीबी बड़ा आदमी मिटायेगा भी नहीं। बड़ा आदमी इसलिए तो अप्रामाणिक बना हुआ है कि गरीब आदमी के मन से यह धारणा नहीं निकल रही है। आज गरीब आदमी के मन से यह धारणा निकल जाये कि अच्छा समाज, अच्छा व्यक्ति वह होता है जो प्रामाणिक जीवन जीता है तो कुछ बड़े लोग अप्रामाणिकता से अपना काम नहीं चला सकते। अप्रामाणिकता को सहारा मिला हुआ है गरीब लोगों की अवधारणा का। अगर यह अवधारणा टूट जाये तो वे कब तक अकेले चल सकेंगे कुछेक लोग? किन्तु आज विश्वास हो गया है कि बिना बुराई के, अप्रामाणिकता के समाज का, व्यक्ति का काम चल ही नहीं सकता। जब यह व्यापक अवधारणा बन गई तो फिर किसी को अच्छा बनने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। मुझे लगता है, अर्थ के मामले में, आर्थिक समस्याओं के विषय में आज यदि दृष्टिकोण बदले तो उनका अधिक सुलझाव हमारे सामने हो सकता है। ये उलझी हुई हैं हमारी ही मान्यताओं और गलत धारणाओं के कारण। एक चक्रव्यूह है। कोई ऐसा अभिमन्यु नहीं दीखता जो उसमें प्रवेश पा सके और ऐसा नहीं दीखता कि वापस निकल सके। हर व्यक्ति बुराई की भाषा में जब सोचने लग जाये तो वह चक्रव्यूह और मजबूत बन जाता है। दूध में पानी मिलाने वाला सोचता है—इसमें क्या बुराई है? कोई कठिन नहीं है।

उसे बुरा लगता ही नहीं। किन्तु जब वह आटा लेने जाता है, मसाला लेने जाता है और मिलावटी आटा और मिलावटी मसाले मिलते हैं तब सिर ठनकता है। बोलता है—समाज कितना खराब हो गया है। अरे भाई ! जब तुम स्वयं कर रहे हो, समाज का एक हिस्सा बुराई करेगा, दूसरा नहीं करेगा, यह कल्पना ही नहीं की जा सकती। सुधरता है तो पूरा समाज सुधरता है, बिगड़ता है तो पूरा समाज बिगड़ता है।

हमारे सामने प्रश्न आया कि आप शिविर कर रहे हैं, किन्तु पुलिस के लोग तो इतने भ्रष्ट हैं, कैसे सुधरेंगे ? मैंने कहा कि क्या पुलिस का आदमी कोई आकाश से टपकता है ? आकाश से तो नहीं आता। उस समाज से आता है जिस समाज में आप लोग जी रहे हैं। कोई पुलिस का आदमी, कोई राज्य-कर्मचारी, कोई अध्यापक, कोई व्यापारी अकेला अच्छा भी नहीं हो सकता, बुरा भी नहीं हो सकता। यदि बुरा है तो पूरा समाज है और अच्छा है तो पूरा समाज होगा। हम यह काटकर कल्पना करें कि पुलिस के आदमी तो सब अच्छे हो जाएंगे, नैतिक हो जाएंगे और पूरा समाज अनैतिक ही रह जाएगा। यह मात्र कल्पना होगी। हम यह कल्पना करें कि राज्य-कर्मचारी तो सब अच्छे हो जाएंगे, व्यापारी ऐसे ही रहेंगे, यह कल्पना भी हमारी अतिकल्पना होगी। हम यह सोचें, निश्चित मानकर चलें कि सुधरेगा तो पूरा समाज सुधरेगा, बिगड़ेगा तो पूरा समाज बिगड़ेगा। हम एक-एक अंग को काटकर अलग कल्पना नहीं कर सकते। हमारे तन्त्र की ऐसी व्यवस्था है, ऐसी अवयव और अवयवी की संघटना है कि जिसमें से एक अवयव को अलग काटकर स्वस्थ नहीं बनाया जा सकता। यह आर्थिक प्रामाणिकता का प्रश्न पूरे समाज के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जो आज चिन्ता का विषय बना हुआ है और जिसके आधार पर समूचे समाज का भविष्य अधर में लटका हुआ है।

प्रामाणिकता का तीसरा विषय है—व्यवहार की प्रामाणिकता। एक प्रकार का व्यवहार विश्वास पैदा करता है और दूसरे प्रकार का व्यवहार अविश्वास पैदा करता है। समाज में बहुत अपेक्षा होती है कि अच्छा व्यवहार मिले। सब लोग अपेक्षा रखते हैं कि माता-पिता से यह व्यवहार मिले। पुत्र से पिता अपेक्षा रखता है कि यह व्यवहार मिले। पड़ोसी पड़ोसी से व्यवहार की अपेक्षा रखता है। जहां व्यवहार की प्रामाणिकता होती है, समाज स्वस्थ रहता है और जहां व्यवहार में अप्रामाणिकता आ जाती है,

बड़ी कठिनाइयां पैदा होती हैं समाज में। एक व्यक्ति ने बताया—मेरा पड़ोसी मेरे साथ विचित्र व्यवहार करता है। अपने घर से सारा कूड़ा-करकट निकालता है और उसे मेरे मकान के सामने डाल देता है। मैंने उसे बहुत समझाया, बहुत समझाया—भाई, ऐसा मत करो। काफी समझाने पर भी नहीं माना तो सोचा, अब क्या किया जाना चाहिए। बड़ी समस्या है, तो फिर मेरे नौकर ने भी ऐसा ही शुरू किया। सारा कूड़ा-करकट वह निकालता और उसे साथ मिलाकर दोनों को उसके घर के आगे डाल आता।

व्यवहार का यह जो एक संघर्ष होता है, व्यवहार की यह जो अप्रामाणिकता होती है, वह व्यक्ति को बड़े संकट में डाल देती है।

व्यवहार की एक कहानी है। जंगल में आदमी जा रहा था। योग ऐसा ऐसा मिला, बन्दर बैठा था पेड़ के नीचे। आदमी पेड़ के पास पहुंचा। पीछे से चीता भागता हुआ आ रहा था। आदमी ने भी देखा। बन्दर ने भी देखा। बन्दर भी पेड़ पर चढ़ गया, आदमी भी चढ़ गया। जीवन के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जहां परस्पर मैत्री जुड़ जाती है। संकट का समय मैत्री जोड़ने का होता है। आदमी सुख के समय में परस्पर में विरोध भी रख लेता है पर संकट की घड़ी में तो एकमत हो जाता है और मैत्री भी जुड़ जाती है। ऐसा होता है।

पति-पत्नी में बहुत झगड़ा चलता था। एक बार पड़ोसी ने पूछा कि तुम्हारा मत कभी मिलता ही नहीं है। लड़ते-झगड़ते रहते हो, क्या जीवन है? कभी एकमत भी हुए हो? पति बोला—एक क्षण ऐसा आया था, जब हम एकमत हुए हैं। क्या? घर में आग लग गई थी। एक ही दरवाजा था। एक ही दरवाजे से दोनों एक साथ निकेले। उस समय हम दोनों एकमत थे।

संकट की घड़ी में मैत्री जुड़ जाती है और सम्बन्ध भी जुड़ जाता है। बन्दर में और आदमी में मैत्री हो गई, दोनों पेड़ पर चढ़ गये। चीता नीचे बैठा था। आदमी ऊपर और बन्दर भी ऊपर। दोनों ऊपर बैठे हैं। काफी समय हो गया। चीते ने सोचा, अब तो पराक्रम से काम नहीं चलेगा। जहां पराक्रम से काम न चले, वहां बुद्धिबल से काम लेना चाहिए। और बुद्धिबल में भी भेदनीति से काम चलेगा। रात हो गई। सोने का समय था। दोनों ने, आदमी और बन्दर ने, एक उपाय निकाला। बन्दर ने कहा—कुछ समय तक तुम सो जाओ, मैं जागता रहूंगा। फिर मैं सो जाऊंगा, तुम जागते रहना।

दोनों ने ऐसा समझौता कर लिया आदमी सो गया। बन्दर पहरा दे रहा है, जागरूक है। आदमी तो सो रहा है, बन्दर जाग रहा है।

चीता बोला—'बन्दर ! तुम भी वन के प्राणी हो, मैं भी वन का प्राणी हूं। हम दोनों वन के प्राणी हैं। आदमी से हमारा क्या सम्बन्ध ? कोई सम्बन्ध नहीं। और देखो, आदमी बड़ा धूर्त होता है। यह जो व्यवहार करता है, बड़ा विश्वासघाती होता है। मेरी बात मानो, धक्का देकर इसको नीचे गिरा दो।'

बन्दर ने कहा—'मैं ऐसा विश्वासघात नहीं कर सकता। मैंने वचन दिया है। मैंने आत्मविश्वास दिया है। इसको मैं नहीं गिराऊंगा और विश्वास-घात नहीं करूंगा।'

चीते ने बहुत प्रयत्न किया, पर बन्दर अपनी बात पर अडिग रहा और सोचा कि जिसके साथ मैत्री कर ली, उसके साथ ऐसा जघन्य कार्य कैसे कर सकता हूं। आदमी सोता रहा, चीता भी प्रतीक्षा करता रहा।

आखिर बारी आयी मनुष्य की। बन्दर नींद लेने लगा और आदमी बैठा है। चीता बोला—देखो आदमी ! तुम अब जंगल में कैद हो और अब जंगल से शहर में तुम पेड़ को छोड़कर जा नहीं सकते। मैं यहां से सरकूंगा नहीं। आखिर तुम्हें भूखे मरना है और मर जाओगे। बन्दर तुम्हारा क्या लगता है। यह तो जंगल का प्राणी है। आखिर बन्दर ही तो है। तुम्हारा कुछ लगता नहीं। अगर तुम मेरी बात मानो, बन्दर को नीचे गिरा दो तो तुम्हें नहीं मारूंगा, तुम कुशल-क्षेम से घर जा सकोगे।' तर्क समझ में आ गया। मनुष्य ने सोचा—'तर्क बहुत अच्छा है।' आदमी का यह तार्किक दिमाग ऐसा होता है जो तर्क को पकड़ लेता है। बुद्धिमान आदमी था। बन्दर तो इतना बुद्धिमान नहीं था। तर्क समझ में आ गया। अगर चीता दो-तीन दिन यहां बैठा रहा तो भूखे मर जाऊंगा। नीचे उतरने की बात ही किसको है। बिना खाये ही मर जाऊंगा। बड़ी समस्या है, यह हटेगा नहीं। बन्दर मेरा क्या लगता है। यह भी तो एक जंगली जानवर है। इसे नीचे गिरा दूं। आदमी बन्दर को धक्का देने लगा। आखिर बन्दर तो बन्दर ही था। जागा, जागते ही देखा कि आदमी तो मुझे नीचे गिरा रहा है। तत्काल एक शाखा से दूसरी शाखा पर, एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर गया और जाकर बोला—आदमी, नमस्कार ! तेरे-जैसे धूर्त व्यवहार करने वाले होते हैं दुनिया में।

यह है व्यवहार की अप्रामाणिकता। एक आदमी के साथ कैसा व्यवहार, अपने मित्र के साथ कैसा व्यवहार, अपने पड़ोसी के साथ कैसा व्यवहार, एक सामाजिक व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार—इसे जानना जरूरी है। व्यवहार की प्रामाणिकता होती है तो समाज में आश्वासन होता है और समाज सुखी होता है। हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से आशंकित रहता है कि न जाने यह मेरे साथ कैसा व्यवहार करे। आज स्थिति विकट बन गई है। कुछ लोग पूछते हैं कि आजकल कमाने के लिए जाते हो और परदेश में बहुत ज्यादा रहते हो। देश में कम आते हो। एक भाई ने कहा—आज का जमाना नहीं रहा। दो दिन के लिए भी मुनीम के भरोसे छोड़कर आयें, फिर मुनीम का ही पता नहीं मिलता, और-और बातों का तो पता मिलता ही नहीं। इतना अविश्वास पैदा हो गया। जिस समाज में पारस्परिक अविश्वास हो जाता है, वह समाज कभी सुखी जीवन नहीं जी सकता। सुख का सबसे पहला सूत्र होता है—विश्वास ! आज विश्वास की प्रतिष्ठा नहीं रही। पति पत्नी का विश्वास नहीं करता, पत्नी पति का विश्वास नहीं करती। हमारी दुनिया अविश्वास पर आधारित हो गई है। इस अविश्वास के कारण शांति ही समाप्त हो गई।

प्रामाणिकता के तीन सूत्र हैं—वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता। जिस समाज में प्रामाणिकता का विकास होता है, वह समाज आगे बढ़ता है, उन्नति करता है। जिस समाज में प्रामाणिकता नहीं होती, उस समाज का भाग्य हमेशा खतरे में झूलता रहता है। समाज में सबसे पहला आश्वासन का सूत्र होता है—प्रामाणिकता। उसको भी जब खण्डित कर दिया जाता है तो समाज कैसे सुख की सांस ले सकता है और कैसे भरोसे के साथ जीवन-यापन कर सकता है ? यह बात कुछ समझ में नहीं आती। पर पता नहीं आज के इस बौद्धिक युग में, वैज्ञानिक युग में और प्रगतिशील विचारणा के युग में इतनी अप्रामाणिकता की बात क्यों चलती ही जा रही है ? आश्चर्य तो होता है। सोचने में जरा संकट भी पैदा है कि यह विरोधाभास क्यों चल रहा है। एक ओर वैचारिक धरातल पर, तार्किक धरातल पर, बौद्धिक धरातल पर बहुत प्रगति की है मनुष्य ने और जहां अन्तःपक्ष का, भावना पक्ष का प्रश्न था उस पक्ष में काफी प्रगति हुई है। उल्टा चला है। हम इस बात पर निश्चित विश्वास करें कि प्रामाणिकता के बिना कोई भी समाज प्रगतिपथ पर नहीं बढ़ सकता।

मैं इस चर्चा को सम्पन्न करना चाहता हूं एक घटना के साथ। घटना विदेश की है। किन्तु अच्छी बात कहीं की हो, हमारे लिए स्वीकार्य होनी चाहिए। एक बहुत बड़े राजनेता ने यह घटना सुनाई थी कि एक भारतीय व्यक्ति लन्दन में था और वह जिस घर में ठहरा हुआ था उसका मालिक दूध-वितरण का काम करता था। एक दिन उसकी लड़की बहुत उदास थी। भारतीय मित्र ने पूछा—बहन ! आज इतनी उदास क्यों हो ? वह बोली—क्या करूं, आज दूध की सप्लाई तो पूरी करनी है और मेरे पास आज दूध कम है। बड़ी चिन्ता हो रही है कि मैं सप्लाई कैसे कर पाऊंगी ? यह क्या कोई समस्या है भारतीय के लिए ? समस्या जैसी बात ही नहीं। उसने कहा —'इतनी चिन्तित और इतनी उदास क्यों? ऐसी क्या बात है, हिसाब लगाया कि इतना ही तो कम है। और तुम्हारे पास तो इतना ढेर मन दूध है, उसमें इतना-सा पानी मिला दो, तुम्हारी बात पूरी हो जाएगी। समस्या पूरी हो जाएगी।' उसने सुना। उसका सिर ठनका। वह अपने पिता के पास गई, जाकर बोली—पिताजी ! किस राक्षस को अपने घर में स्थान दे रखा है ? वह तो राक्षस है, आदमी नहीं है। ऐसी बुरी सलाह देता है कि दूध में पानी मिला दो। क्या मैं दूध में पानी मिलाकर अपने राष्ट्र के नागरिकों के स्वास्थ्य के प्रति अन्याय करूं ? ऐसी बुरी सलाह देने वाले को अपने घर से निकाल दो।

कल्पना करें, क्या स्थिति थी। कहा गया था कि दुनिया के लोग हिन्दुस्तान में आये और यहां के अग्रजन्मा विद्वान से आचार सीखकर गये। क्या हम आज उस पुरानी बात को दुहरा सकते हैं—

'एतद्देशप्रसूतस्य, शकासादग्र जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः॥'

आज क्या शिक्षा मिलेगी, बड़ी विचित्र स्थिति है। इस दृष्टि से हमें पुनर्विचार करने की जरूरत है। केवल आप लोगों के लिए ही नहीं कह रहा हूं कि केवल पुलिसकर्मी ही विचार करें, पूरे समाज की दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत कर रहा हूं कि समूचे समाज को आज पुनर्विचार की जरूरत है। यदि पुनर्विचार नहीं हुआ इस विषय पर तो अप्रामाणिकता, पारस्परिक अविश्वास और अनैतिकता मनुष्य जाति को भयंकर संकट में डाल देगी, जिससे उबरना उसके लिए असंभव हो जाएगा। अनैतिकता, अप्रामाणिकता समाज का सबसे बड़ा संकट होता है। आर्थिक संकट उतना भीषण नहीं होता, जितना संकट समाज की अनैतिकता का होता है। इस दृष्टि से, सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से हम प्रामाणिकता के पहलू पर पुनर्विचार करें।

करुणा

कल ही एक भाई ने पूछा था—नैतिकता का आधार क्या है ? मैंने जो उत्तर दिया था वह संक्षेप में था। आज मैं उसकी विस्तार से चर्चा करना चाहता हूं। नैतिकता का आधार है—करुणा। हमारी दो वृत्तियां हैं—एक है क्रूरता की वृत्ति और दूसरी है करुणा की वृत्ति। करुणा का सम्बन्ध है संवेदनशीलता से। मनुष्य जितना संवेदनशील होता है, उतनी करुणा उसमें जागती जाती है। मनुष्य जितना संवेदनहीन होता है, उतनी ही क्रूरता बढ़ती जाती है।

मेरे सामने एक प्रश्न आया कि क्या ध्यान के अभ्यास के द्वारा पुलिस-कर्मियों को पराक्रमहीन एवं शौर्यहीन बनाना चाहते हैं ? मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं पूछना चाहता हूं, क्या शौर्य और क्रूरता एक ही हैं ? नहीं, दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। शौर्य भिन्न वस्तु है और क्रूरता भिन्न वस्तु है। रात और दिन में जितना अन्तर है उससे भी अधिक अन्तर है क्रूरता और शौर्य में। शौर्य पराक्रम है। उसे न्यून करने की बात ही नहीं होती। पराक्रम को बढ़ाया जा सकता है। उसका विकास किया जा सकता है। उसका विकास वांछनीय है। क्रूरता अमानवीय दृष्टिकोण है, राक्षसी कार्य है। उसे कम करना जरूरी है।

एक संस्कृत कवि ने कहा है—

'विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

विद्या विवाद के लिए, धन अहंतुष्टि के लिए और शक्ति दूसरों को पीड़ित करने के लिए—ये तीन बातें हैं। दुष्ट व्यक्ति के लिए ये तीनों प्राप्त हैं और सज्जन व्यक्ति के लिए ये तीनों विपरीत रूप में होती हैं। उसके लिए विद्या विवाद के लिए नहीं, ज्ञान के लिए होती है, धन अहंकार का कारण न बनकर दान का कारण बनता है और शक्ति का उपयोग दूसरों को पीड़ित करने के लिए नहीं, किन्तु दूसरों की रक्षा के लिए होता है। वह क्रूर नहीं होता। उसमें करुणा का अजस्र स्रोत बहता रहता है।

दंडनीति का इतिहास बहुत पुराना है। समाज की उत्पत्ति के साथ-साथ दंडनीति का विकास हुआ। प्रागैतिहासिक युग में आदमी का जीवन भिन्न प्रकार का था। वह पाषाण-युग में जी रहा था। वह युग का आदि-काल था। उसमें न समाज बना था और न कुछ और। व्यक्ति व्यक्ति था। वह खेती करना भी नहीं जानता था। न शस्त्र थे, न मकान थे और न वस्त्र। सब कुछ प्राकृतिक। एक प्रकार से पशु का जीवन जी रहा था आदमी। आदमी की आवश्यकताएं बहुत कम थीं। उनकी पूर्ति वृक्षों से पूरी हो जाती थी। जो सहज मिलता, उससे वह अपना जीवन-यापन कर लेता था।

जब कुछ विकास हुआ, चेतना जागृत हुई, तब परस्पर छीना-झपटी होने लगी। एक-दूसरे के अधिकार को हड़पने की बात होने लगी। लूट-खसोट होने लगी। क्रूरता बढ़ने लगी। इस स्थिति में व्यवस्था की बात सोची गई। उस समय हाकार नीति का प्रवर्तन हुआ। जब कोई व्यक्ति दूसरे के अधिकार पर आक्रमण करता, तब उसे बुलाकर कहा जाता····'हा ! तूने ऐसा किया।' यह वाक्य उसके लिए मृत्युदण्ड से भी अधिक घातक होता। वह फिर वैसा कार्य कभी नहीं करता।

युग आगे बढ़ा। समाज-विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ी। मनुष्य में लोभ बढ़ा, संग्रह की भावना का विकास हुआ। अपराध बढ़ने लगे। 'हाकार' नीति के स्थान पर 'माकार' नीति का प्रवर्तन हुआ। कोई भी अन्याय करता, अनुचित कार्य करता तो उसे बुलाकर कहा जाता—ऐसा मत करो। बस, वह व्यक्ति इस वाक्य से आहत होकर वैसे कार्यों से विरत हो जाता।

युग और आगे बढ़ा। अपराध भी वृद्धिगत हुए। हाकार और माकार···· दोनों नीतियां कार्यकर नहीं रहीं, तब धिक्कार नीति का प्रवर्तन हुआ। 'धिक्कार है तुझे, तूने ऐसा कार्य कर डाला'—यह उस व्यक्ति के लिए बहुत बड़ा दंड होता था।

दंड अपने आप में छोटा या बड़ा नहीं होता। वह मनुष्य की भावना पर आधारित होता है। एक आदमी को 'धिक्' कहना बहुत बड़ी बात हो जाती है और एक आदमी की ऐसी मनोवृत्ति होती है कि उसे हजार बार धिक्कारने पर भी उसमें कोई अन्तर नहीं आता।

ज्यों-ज्यों युग आगे बढ़ा, मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ीं। हाकार, माकार और धिक्कार—तीनों नीतियों का उपयोग समाप्त हो गया। ये दंड दंड नहीं रहे। आदमी और अधिक क्रूर होता गया। तब उसे कारावास का दंड

दिया जाने लगा। राज्य-व्यवस्था का विकास हुआ। राजा हुआ, राज्यतंत्र पनपने लगा, दंडशक्ति का विकास हुआ।

पाषाण युग बीत चुका था। धातु युग आया। धातुओं से अनेक शस्त्रास्त्र बने। उन शस्त्रों के द्वारा क्रूर दंड भी चलने लगे। अपराधी के हाथ काटना, पैर काटना, आंखें निकालना—ये दंड विकसित हुए। इसके साथ-साथ यह सिद्धान्त भी विकसित होने लगा कि दंड-भय के बिना समाज स्वस्थ नहीं रह सकता। यह एक सीमा तक सच भी है क्योंकि सभी मनुष्य आत्मानुशासित नहीं होते। यदि सभी व्यक्ति आत्मानुशासित हों तो दंड की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। जहां सब अपने नियंत्रण करने वाले होते हैं, वहां दंड किसको दें? क्यों दें? परन्तु सभी लोग आत्मानुशासित नहीं होते। विभिन्न रुचि के लोग हैं। विभिन्न आचार-विचार के लोग हैं। सबका मस्तिष्कीय विकास समान नहीं होता। कुछ लोगों का मस्तिष्क बहुत विकसित होता है और कुछ लोगों का कम। वैसे लोग सभ्यता, शिष्टता और सामाजिक मूल्यों को भी नहीं जानते। जिनका दृष्टिकोण मानवीय मूल्यों पर आधारित नहीं होता, उनका निग्रह कर पाना, उन्हें अपराध से रोकना सहज-सरल नहीं है। उनका निग्रह दण्डशक्ति से ही किया जा सकता है।

दंडशक्ति के विकास की यह कहानी है। दंड न हो तो समाज में 'मात्स्यन्यायः प्रवर्तते—'मात्स्य न्याय का प्रवर्तन होता है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बड़ा आदमी छोटे आदमी को, शक्तिशाली आदमी कमजोर आदमी को खा जाएगा, उसे हड़प लेगा। बलवान् दुर्बल पर हावी हो जाएगा। इस 'मात्स्य न्याय' को समाप्त करने के लिए दंडशक्ति का विकास अत्यन्त आवश्यक है। यही आधार बना दंडशक्ति के विकास का। किन्तु इसका विकास इतना हुआ कि जो दंड सामाजिक प्राणी को निग्रह करने के लिए था वह स्वेच्छाचारिता और क्रूरता में बदल गया। शासक की जो इच्छा होती, जैसी इच्छा होती, अपराधी को दंड दे दिया जाता। कानून और न्याय सब पीछे रह जाते। किसी को अधिकार की बात कहने की तब मंजूरी नहीं होती। जैसा जंचा, वैसा दंड दे दिया। उसके लिए न कोई मानदंड और न कोई नियम-उपनियम। शासक की केवल स्वेच्छाचारिता या क्रूरता ही वहां काम करती। प्राचीन साहित्य में दंड के जो विधान और प्रयोग मिलते हैं, उनको पढ़कर आदमी कांप उठता है, उसका हृदय रोने लग जाता है, वह बरबस चिल्ला उठता है—क्या आदमी

इतना क्रूर हो सकता है ? सामान्य-से अपराध में आदमी को तेल के कड़ाहों में उबालना, कानों में गरम सीसा डालना, आंखों में गरम-गरम शलाकाएं डालना, प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अंगच्छेद करना, शिश्न को काटना, जीवित अवस्था में भीतों में चिन देना—ये भयानक दंड मनुष्य की क्रूरता के द्योतक हैं। आज इनकी कल्पना भी भयावह होती है।

जब समाज का परिष्कार हुआ, आदमी के विचार बदले, उसमें मानवीय चेतना का जागरण हुआ, तब दंडनीति में भी परिवर्तन और परिष्कार हुआ। आज भी दंडनीति को मान्यता प्राप्त है, पर उसमें से क्रूरता के अंश निकाल दिए गए हैं, निकाले जा रहे हैं। मृत्युदंड को समाप्त करने का आन्दोलन चल रहा है और अनेक राष्ट्रों ने मृत्युदंड को समाप्त कर दिया है। सभ्य समाज में फांसी या मृत्युदंड शोभा नहीं देता। आज आदमी का मन परिष्कृत हुआ है। आदमी चिन्तनशील और विचारशील बना है। आजन्म कारावास दंड ही पर्याप्त माना जाता है। फांसी आदि दंड अमानवीय कृत्य माने जाते हैं। आज कारावासों को सुधारगृहों में बदला जा रहा है। हम अनेक कारावासों में गए। वहां का रहन-सहन और बन्दियों के साथ बर्ताव देखा, बंदियों की शिल्पकला और वस्त्र-निर्माण कला देखी, बड़ा आश्चर्य हुआ। बंदियों का जीवन निर्माण में लगा हुआ है। ध्वंस से चिपटी उनकी आस्थाएं आज निर्माण में सुदृढ़ हो रही हैं। यह परिवर्तन उनके भावी-जीवन का सम्बल है। उनके मानसिक परिवर्तनों के लिए उपाय किए जा रहे है, जिससे कि उनकी क्रूरता मिटे, अपराध करने की उनकी क्रूरता मिटे, अपराध करने की भावना समाप्त हो। उनमें मानवीय चेतना जागे, करुणा जागे। यह सब राष्ट्रों को मान्य हो चुका है कि अपराधियों के साथ भी मानवीय व्यवहार होना चाहिए और दंडनीति में जो अमानवीय तथ्य हैं, उनको निकाल देना चाहिए। यदि कहीं कोई क्रूरता का व्यवहार होता है, तो समूचे विश्व में उसकी भर्त्सना होती है, निन्दा और तिरस्कार होता है। यदि सरकार भी क्रूरता का व्यवहार करती है तो सारा राष्ट्र उसके कृत्य की निन्दा करता है, फिर क्रूरता चाहे अपराधी के प्रति हो या अपने अधीनस्थ किसी कर्मचारी के प्रति हो। कभी-कभी यह इतनी जटिल समस्या बन जाती है कि सरकार ही उलट दी जाती है।

शौर्य, पराक्रम या कर्तव्यनिष्ठा एक भिन्न धारा है, और क्रूरता उससे भिन्न है। दोनों एक नहीं हैं। अगर दोनों को एक मान लेते हैं तो भ्रम पैदा

होता है और रक्षा करने वाला भी भक्षक बन जाता है, अपराधी बन जाता है। शक्ति का योग जब क्रूरता के साथ जुड़ता है तब वह शक्ति पर-पीड़न में लग जाती है। सुधारना, निग्रह करना यह भिन्न प्रकार है और क्रूरता करना—यह भिन्न प्रकार है। समाज-व्यवस्था के लिए अनुग्रह और निग्रह—दोनों परम आवश्यक तत्त्व हैं। दुष्ट को दंड देना और सज्जन की पूजा करना, दुष्ट का निग्रह और सज्जन पर अनुग्रह—यह है समाज-व्यवस्था का सूत्र। यदि ये दो शक्तियां नहीं होती हैं तो समाज की व्यवस्था नहीं चल सकती। दोनों बराबर हैं, किन्तु दंड में और निग्रह में कितना विवेक अपेक्षित होता है, इसको जानना बहुत आवश्यक है। विवेक के बिना अनर्थ घटित हो जाता है।

उस जमाने में पोपाबाई का राजा था। एक दिन ऐसा हुआ कि एक आदमी गली से गुजर रहा था। अचानक किसी के घर की भींत गिरी और वह आदमी मर गया। पोपा बाई के सामने शिकायत गई। पोपा बाई ने मकान मालिक को बुला भेजा। घर का स्वामी आया। पोपा बाई ने कहा—तुम्हारी भींत गिरने के कारण आदमी की मौत हो गई। इसके दंड-स्वरूप तुम्हें फांसी दी जाएगी। सारी सभा में सन्नाटा छा गया। स्वामी ने सोचा, कोई भय की बात नहीं है। आखिर राज्य तो पोपा बाई का है। उसने हाथ जोड़कर कहा—महाराज ! आपका निर्णय शिरोधार्य है। पर दोष मेरा नहीं है। मैं निर्दोष हूं। मकान बनाने वाले चेजारे ने इतनी कमजोर दीवार बनाई ही क्यों ? दोष उसका है। पोपा बाई ने चेजारे को बुलाकर कहा—तुम्हें फांसी पर चढ़ना होगा। तुमने इतनी कमजोर भींत क्यों बनाई ? उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—'महाराज ! दोष मेरा नहीं है जब मैं दीवार खड़ी कर रहा था तब एक बारात उधर से गुजर रही थी। उसके साथ बाजे बज रहे थे। मेरा ध्यान बाजों की ओर चला गया। ध्यान नहीं रहा। गारे में पानी अधिक गिर गया। दीवार कच्ची रह गई। मैं दोषी नहीं हूं। दोषी है बाजे बजाने वाला। पोपा बाई बोली—तुम ठीक कहते हो। बाजे बजाने वाले को बुलाकर कहा—आदमी मरा, इसके जिम्मेवार तुम हो। तुमको फांसी दी जाएगी। तुम बाजों को इतना मीठा क्यों बजाते हो कि जिससे दूसरे का ध्यान उस ओर जाए और अन्याय घटित हो जाए ? उसने कहा—महाराज ! मेरा इसमें दोष क्या है ? सारा दोष बाजे बनाने वाले का है कि वह इतना अच्छा बाजा क्यों बनाता है ? पोपा बाई ने उसे

बुला भेजा।

यह अन्तहीन शृङ्खला है। इससे समस्या का अन्त नहीं होता। समस्या का मूल हमें खोजना होगा। यदि हम चाहें कि दंडशक्ति के प्रयोग के द्वारा समाज की समस्या का अन्त हो जाए तो यह अतिकल्पना ही होगी। हमें दूसरी दृष्टि से सोचना होगा। केवल क्रूरता के द्वारा अपराध को नहीं मिटाया जा सकता। केवल दंड के द्वारा अपराधी का निग्रह नहीं किया जा सकता। हमें मूल को खोजना होगा। क्रूरता का मूल क्या है, इसे जानना होगा।

क्रूरता का मूल है—लोभ और अमानवीय दृष्टिकोण। एक व्यक्ति खाने-पीने के पदार्थों में मिलावट करता है। क्यों करता है, यह एक प्रश्न है। इसका सहज उत्तर है कि वह व्यक्ति लोभ से ग्रस्त है, और कोई दूसरा कारण नहीं है। वह किसी को मारना नहीं चाहता, किसी को सताना नहीं चाहता, परन्तु लोभवश वह अमानवीय आचरण कर लेता है। एक व्यापारी ने पशुओं के चारे में मिलावट की। हजारों पशु मारे गये। वह पशुओं को मारना नहीं चाहता था, पर लोभवश उसने मिलावट की और हजारों पशु मर गए। यह कल्पना नहीं, घटित घटना है।

एक बार हम दिल्ली से प्रस्थान कर नांगलोई गांव में ठहरे। वहां के इन्स्पेक्टर हमसे परिचित थे। वे सायंकाल आए। हमने कहा—बहुत विलंब से आए। उन्होंने कहा—महाराज! कुछ दिनों से पशुओं के मरने की शिकायतें आ रही थीं। मृत्यु का कारण ज्ञात नहीं हो रहा था। धीरे-धीरे एक सुराख मिला। हमने एक व्यापारी को पकड़ा। उसके पास संगृहीत चारे का परीक्षण किया। हमें ज्ञात हो गया कि उस चारे के कारण ही पशुओं की मृत्यु हो रही है। उस व्यापारी ने थोड़े से लाभ के लिए उस चारे में कोई ऐसी नकली चीज मिला दी थी जो जहरीली थी। आज उसी सिलसिले में व्यस्त रहना पड़ा। महाराज! धार्मिक कहलाने वाले ये उपासक, एक ओर धर्म का ढिंढोरा पीटते हैं और दूसरी ओर निर्दयता का नग्न प्रदर्शन करते हैं। कितना विरोधाभास है इनके जीवन में!

मिलावट करना जघन्यतम अपराध है, अमानवीय दृष्टिकोण है। लोभ इसका मूल कारण है, अन्यथा व्यक्ति इतने नीचे स्तर पर नहीं आ सकता। क्या कोई आदमी ऐसा सोच भी सकता है कि उसके तुच्छ स्वार्थ के लिए हजारों मनुष्य, हजारों पशु मर जाएं? किन्तु जब आदमी लोभ से पराभूत

होता है तब वह केवल यही चाहता है कि उसे पैसा मिले, फिर चाहे कोई मरे या जिए।

एक केमिस्ट की लड़की मर गई। अनुभवी डॉक्टर ने एक इंजेक्शन दिया। उसका रिएक्शन हुआ और लड़की का प्राणान्त हो गया। मृत्यु के कारण की खोज की गई। पता चला कि इंजेक्शन नकली था। खोज आगे बढ़ी तो यह ज्ञात हुआ कि वह इंजेक्शन उसी केमिस्ट द्वारा निर्मित था। उसकी लड़की के वही इंजेक्शन लगा, रिएक्शन हुआ और वह मर गई।

दवा में मिलावट करना क्रूरता का उत्कृष्ट उदाहरण है। क्रूरता का बहुत बड़ा कारण है—लोभ, पैसे का लोभ, संग्रह की वृत्ति। लोभ के कारण आदमी इतना क्रूर बन जाता है कि वह किसी परिणाम की चिन्ता नहीं करता।

प्रत्येक आदमी यह अनुभव करता है कि आज व्यक्ति के चरित्र का पतन हुआ है, अनैतिकता बढ़ी है। यह भी स्वीकृत तथ्य है कि है कि इनके बढ़ने का सबसे बड़ा कारण है—पैसे का लोभ।

कुछ लोग गरीबी को इसका मूल कारण मानते हैं, किन्तु यह सच नहीं है। गरीबी ने उतनी अनैतिकता नहीं बढ़ाई जितनी पैसे के लोभ ने बढ़ाई है। यह भी बहुत स्पष्ट है कि धनी व्यक्ति जितना अनैतिक आचरण करते हैं, गरीब आदमी उतना अनैतिकता आचरण नहीं करते। गरीब के पास अनैतिकता आचरण के उतने साधन भी नहीं हैं जितने साधन धनी व्यक्ति के पास हैं। धनार्जन के जितने बड़े स्रोत या साधन होंगे, आदमी उतना ही अनैतिक होगा। गरीब आदमी के पास कहां हैं धन के इतने स्रोत? कहां हैं इतने साधन? उसके साधन सीमित हैं। उस सीमा में ही वह अनैतिक आचरण करता है।

इसका फलित यह है कि क्रूरता का सबसे बड़ा कारण है—लोभ, धनार्जन की अति आकांक्षा या संग्रह की वृत्ति। प्रश्न है कि क्या क्रूरता को मिटाया जा सकता है? क्या इसका विसर्जन किया जा सकता है? क्या इसका कोई उपाय है? हम समस्या को जानते हैं। हमें उसके निराकरण को भी जानना होगा। समस्या का अन्त तब तक नहीं होता जब तक हम उसके निराकरण का सही उपाय नहीं जानेंगे। समस्या है तो उसके निराकरण का उपाय भी है। उपाय वही होता है जो मूल को छूता है। सहायक कारण अनेक हो सकते हैं, पर उनसे मूल समस्या का अन्त नहो होता।

समस्या का अन्त तभी होता है जब सही उपाय हस्तगत हो जाता है।

एक घटित घटना है। एक बार महाराज शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास यात्रा कर रहे थे। रास्ते में ईख के खेत आये। उनके मन में ईख चूसने की भावना जागी और उन्होंने दो-चार ईख तोड़ लिये। खेत का मालिक देख रहा था। वह दौड़ा-दौड़ा आया। वह क्रोध के आवेश में था। उसे भान नहीं रहा। क्रोधान्ध व्यक्ति भान भूल जाता है, विवेक खो देता है। वह तब अकरणीय कार्य भी कर लेता है। खेत के मालिक ने उनको नहीं पहचाना। वह आवेश से अभिभूत था। उसने गुरु रामदास के दो-चार चांटे जड़ दिए। शिवाजी के पास बात पहुंची। उन्होंने उस किसान को बुलावा भेजा। वह सामने खड़ा-खड़ा कांप रहा है। पास में गुरु रामदास भी बैठे हैं। महाराज शिवाजी ने कहा—तूने बहुत बड़ा अपराध किया है। तूने मेरे गुरु को पीटा है। बोल, तुझे क्या दंड दिया जाए ?

वह किसान थर-थर कांप रहा है। अब वह क्या बोले ? पहले वह क्रोध के आवेश में था, अब वह भय के आवेश में है। आदमी क्रोध के आवेश में अनर्थ कर लेता है, पर जब अवांछनीय परिणाम भुगतने का अवसर आता है तब भय से कांपने लग जाता है। क्रोध का बड़ा परिणाम है—भय और प्रकम्पन।

वह कांप रहा था। शिवाजी आवेश में थे। गुरु का अपमान असह्य हो गया था। शिवाजी ने कहा—'इसने जघन्य अपराध किया है। इसको फांसी दे दी जाए।'

गुरु रामदास ने सुना। उन्होंने कहा—शिवा ! ऐसा नहीं हो सकता। तुम इसको दंड नहीं दे सकते। इसने मुझे मारा है, मैं ही इसको दंड दूंगा।

शिवाजी मौन हो गए। वे गुरु के समक्ष क्या बोलते ? उन्होंने कहा—गुरुदेव ! आप ही इसे दंड दें।

रामदास ने कहा—मेरा कथन तुम्हें स्वीकृत होगा ?

—हां, गुरुदेव ! जो कुछ आप कहेंगे, मैं उसे स्वीकार करूंगा।

रामदास ने कहा—इस गरीब किसान ने मुझे पीटा है मैं उसके पीटने के कारण को जानता हूं, समझता हूं। इसे इस अपराध के फलस्वरूप पांच बीघा जमीन दान में दे दी जाए।

रामदास के कथन को सुनकर सब अवाक् रह गए। स्वयं शिवाजी किंकर्तव्यविमूढ़ थे। चांटे मारने वाले को पारितोषिक रूप पांच बीघा जमीन

का दान ! यह कैसा दंड ! यदि दस चांटे मारता तो सम्भव है दस बीघा जमीन इसे मिलती और यदि और अधिक चांटे मारता तो और अधिक जमीन मिलती। आश्चर्यकारी है यह निर्णय।

शिवाजी समझ नहीं सके कि गुरुदेव ने यह निर्णय क्यों किया ? अपने को पीटने वाले के प्रति यह बर्ताव कैसे किया ? शिवाजी को रहस्य हाथ नहीं लगा। वे समझते भी कैसे ? उनका चिंतन दूसरे प्रकार का था। वे दंडशक्ति में विश्वास करते थे। रामदास का चिन्तन भिन्न था। वे करुणा में विश्वास करते थे।

रामदास ने रहस्य को समझाते हुए कहा—'शिवा ! तुम्हें बात समझ में नहीं आयी। कोई गूढ़ रहस्य नहीं है। देखो, यह किसान गरीब है। यदि यह गरीबी से ग्रस्त नहीं होता तो ऐसा व्यवहार कभी नहीं करता। इसने गरीबी के कारण ही ऐसा व्यवहार किया है। यदि इसकी अपराध-वृत्ति को मिटाना है तो इसकी गरीबी को मिटाना होगा। इसे पांच बीघा जमीन दे दो, फिर यह ऐसा व्यवहार कभी नहीं करेगा।

यह है समस्या का समाधान और यह है समस्या का सम्यक् उपाय। हम मूल कारण की खोज नहीं करते और मूल कारण को खोजे बिना समस्या का कभी समाधान नहीं हो सकता। क्रूरता की समस्या का मूल है—अमानवीय दृष्टिकोण, फिर चाहे वह लोभ के रूप में अभिव्यक्त हो, संग्रहवृत्ति के रूप में विकसित हो। इसको मिटाने का एकमात्र उपाय है—मानवीय दृष्टिकोण का विकास। इसे ही प्राचीन भाषा में आत्मौपम्य दृष्टि कहा गया है। इसका अर्थ है—प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझना। आधुनिक भाषा में यही है मानवीय दृष्टि। इसका फलित है कि प्रत्येक व्यक्ति में यह चेतना जागे कि 'सब मेरे जैसे ही मनुष्य हैं। हम सब एक हैं। मैं भी मनुष्य हूं। वह भी मनुष्य है। मुझे मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना चाहिए।'

इस दृष्टि का विकास बहुत जरूरी है। आज सामाजिक जीवन में। जब तक इस दृष्टि का विकास नहीं होगा तब तक क्रूरता समाप्त नहीं होगी, व्यवहार नहीं बदलेगा। आदमी दूसरे आदमी के प्रति बहुत क्रूर व्यवहार कर लेता है। मिलमालिक मजदूर के प्रति, सेठ कर्मचारी के प्रति, अफसर अपने अधिनस्थ व्यक्तियों के प्रति क्रूर व्यवहार करता है। सर्वत्र क्रूर व्यवहार देखा जाता है। इसका कारण है—बड़प्पन और छुटपन का मनोभाव। यह मान लिया गया है कि एक बड़ा है, एक छोटा है। बड़ा छोटे के प्रति क्रूर व्यवहार

कर सकता है, मानो कि यह मान्यताप्राप्त स्थिति है। यहां का आदमी पशुओं के प्रति भी बहुत क्रूर व्यवहार करता है। जिस गाय से दूध लेना है, आदमी उसी को पीट देता है। ऐसा पीटता है कि गाय आगे-आगे दौड़ती है और आदमी उस पर लाठियां बरसाता हुआ पीछे-पीछे दौड़ता चला जाता है। जिस गाय से दूध लेना है, उसको पीटने से दूध कहां रहेगा? दूध सूख जाएगा। दूध भी प्रेमपूर्ण व्यवहार के बिना नहीं मिलता। जिन लोगों ने यह समझ लिया कि गाय के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से वे अधिक दूध देंगी, उन्होंने पशुओं के रहन-सहन की सुन्दरतम व्यवस्थाएं की हैं। उनके रहने के लिए मकान बनाए हैं। वहां पंखे चलते हैं। कहीं-कहीं वातानुकूलित मकान हैं। रेडियो बजते हैं। संगीत की स्वर-लहरियां थिरकती हैं। इस वातावरण में रहने वाली गायें अधिक दूध देती हैं। जिन गायों के प्रति क्रूर व्यवहार होता है, जिनको पीटा जाता है, गालियां दी जाती हैं, तिरस्कार किया जाता है, डराया जाता है, उनका दूध धीरे-धीरे सूख जाता है।

हर प्राणी प्रेमपूर्ण व्यवहार चाहता है। वैज्ञानिकों ने वनस्पति जगत् पर प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया कि जिन पौधों को प्रेमपूर्ण भावना से पानी सींचा जाता है, वे पौधे अधिक विकसित होते हैं। जिन पौधों को उपेक्षा-वृत्ति से पानी सींचा जाता है, वे कुम्हला जाते हैं। पानी वही है, सींचने वाला भी वही है, कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं है, किन्तु भावनात्मक परिवर्तन के द्वारा एक दिशा के पौधे बढ़ गए और दूसरी दिशा के पौधे मुरझा गए। जिनको आवेश में, क्रोध की स्थिति में पानी दिया गया, वे मुरझा गए और प्रेमपूर्ण भावना से सिंचन मिलने वाले पौधे बहुत बढ़ गए।

हम प्राणी से काम भी लेना चाहते हैं और क्रूरता भी करते चले जाते हैं, यह प्रतिकूल आचरण है। दुनिया का नियम है कि प्रेमपूर्ण व्यवहार से दूसरे से अधिक काम लिया जा सकता है, जीवन में सफस हुआ जा सकता है, अधिक सहयोग लिया जा सकता है परन्तु अभी तक मानवीय दृष्टिकोण जितना विकसित होना चाहिए उतना विकसित नहीं हुआ है। इसमें दोषी सभी हैं। हम किसी एक को दोषी नहीं बना सकते। एक मिल-मालिक अपने मजदूरों के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है तो मजदूर भी दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करते हैं। एक बड़ा अफसर अपने अधीनस्थ छोटे अफसरों के प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है तो वे छोटे अफसर भी अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के प्रति वैसा ही व्यवहार

करते हैं। जिस किसी के पास थोड़ी भी सत्ता है, शक्ति है, वह क्रूरता का व्यवहार न करे, यह नहीं देखा जाता। सब दोषी हैं। कोई भी दोषमुक्त नहीं है। सत्ता न मिले, कुर्सी न मिले, तब तक सब ठीक हैं, नम्र हैं। जब सत्ता हस्तगत हो जाती है, फिर न जाने क्यों सारा व्यवहार बदल जाता है। नम्रता समाप्त हो जाती है। क्रूरता का व्यवहार होने लगता है, बड़प्पन की भावना पनपती है और फिर वह सबको प्रतिबिम्ब भूत मानता है।

एक हाकिम था। उसके पास एक चारण का केस आया। हाकिम ने निर्णय सुना दिया। चारण को लगा कि न्याय नहीं हुआ है। वह कवि तो था ही। उसने तत्काल एक कवित्त कह सुनाया—

'सुण हाकम संग्राम, आंधो मत हो यार।
औरां रे दो चाहिजे, थारे चाहिजे चार॥'

'हाकिम संग्रामसिंह! सत्ता में अन्धे मत बनो। सुनो, और व्यक्तियों के लिए दो आंखें पर्याप्त हैं पर तुम न्याय की कुर्सी पर बैठे हो, तुम्हारे चार आंखें चाहिए। दो आंखें बाहर को देखने के लिए, दो भीतर को देखने के लिए।'

जब सत्ता आती है तब आदमी अन्धा हो जाता है। वह न्याय के स्थान पर अन्याय अधिक करता है। सत्ता हो और शक्ति का दुरुपयोग न हो, धन हो और शक्ति का दुरुपयोग न हो तो मानना चाहिए कि मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है। तब समझना चाहिए कि करुणा की ज्योति, करुणा की दीपशिखा प्रज्वलित हुई है। यह होने पर ही अन्याय मिट सकता है, आदमी को आदमी समझकर न्यायपूर्ण व्यवहार कर सकता है। यह निश्चित है कि किसी के पास पैसा कम हो, किसी के पास पैसा अधिक हो, किसी के पास अधिकार अधिक हों और किसी के पास कम अधिकार हों। यह भेद बुद्धि और शक्ति के तारतम्य पर आधारित है। यह होता है। कभी ऐसा नहीं होता कि सब में बुद्धि और शक्ति समान हो। तरतमता बनी रहती है। पर अन्ततः आदमी आदमी है। यदि यह तथ्य अनुभूत होता है तो आदमी की संवेदनशीलता बढ़ती है और तब समस्याओं का समाधान हो सकता है।

सामाजिक स्वास्थ्य का दूसरा सूत्र है—करुणा। जीवन में करुणा का विकास हो, संवेदनशीलता की चेतना जागे और मनुष्य प्राणी जगत् के प्रति करुणार्द्र बना रहे। ऐसा होने पर ही क्रूरता समाप्त हो सकती है।

अनुशासन और सहिष्णुता

पिता ने पुत्र से कहा—तुम इतिहास में अनुत्तीर्ण हो गए। लगता है तुमने मन लगाकर अध्ययन नहीं किया।

पुत्र ने कहा—पिताजी! क्या करूं, मुझे उस काल के प्रश्न पूछे गए जब मैं पैदा ही नहीं हुआ था। उन प्रश्नों के उत्तर मैं कैसे देता?

मनुष्य की एक मनोवृत्ति है कि वह अपनी दुर्बलता को स्वीकार नहीं करता। वह दुर्बलता पर परिस्थिति का आवरण डाल देता है। अपनी दुर्बलता से बचने का सीधा उपाय है—परिस्थितिवाद। उतना कारगर उपाय दूसरा कोई नहीं है। आदमी कह देता है—'मैं क्या कर सकता था, परिस्थिति ही ऐसी थी।' परिस्थिनि बहुत बड़ा बहाना है।

परिस्थिति का अपना मूल्य है। मनुष्य परिस्थिति के चक्र के साथ जीता है। वह कभी अनुकूल होता है और कभी प्रतिकूल। वह निरन्तर चलता रहता है। सदा अनुकूलता ही रहे, ऐसा कभी नहीं होता और सदा प्रतिकूलता ही रहे, ऐसा भी कभी नहीं होता। किन्तु हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट होना चाहिए कि जिसका जितना मूल्य है उसको उतना ही मूल्य दिया जाना चाहिए। परिस्थिति को मूल्य देना कोई बुरी बात नहीं है, किन्तु उसको अतिरिक्त मूल्य देना बुरी बात है। जहां परिस्थिति का मूल्य है वहां व्यक्ति का भी मूल्य है।

प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति में दो कारण होते हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। घड़े का उपादान कारण है मिट्टी और निमित्त कारण है—कुम्भकार, पानी, हवा, दंड, चाक आदि। वस्त्र का उपादान कारण है—रूई और निमित्त कारण है—किसान, खेत, बुनाई आदि। उपादान के बिना केवल निमित्त कारण कुछ नहीं कर सकते। रूई नहीं है तो मिल वस्त्रों का निर्माण नहीं कर सकते। मिट्टी नहीं है तो कुम्भकार घड़ा नहीं बना सकता। रूई हो और वस्त्र-निर्माता न हो तो भी वस्त्र नहीं बन सकता। दोनों का योग ही कार्य को निष्पन्न कर सकता है। उपादान भी जरूरी है और निमित्त भी जरूरी है। दूसरे शब्दों में मूल कारण भी हो ओर निमित्त कारण भी हो।

यह नियम जीवन की प्रत्येक घटना के साथ लागू होता है। जीवन की जो भी घटनाएं, छोटी या बड़ी, घटित होती हैं, उनमें उपादान कारण भी होता है और निमित्त कारण भी होता है। परिस्थिति एक निमित्त कारण है। हम निमित्त को अस्वीकार नहीं कर सकते। मनुष्य परिस्थिति से प्रभावित होता है, किन्तु हम सारा दायित्व परिस्थिति पर ही डाल दें तो यह बचने का बहाना होता है, सचाई को नकारने की बात होती है। हम दोनों को बराबर स्थान दें। परिस्थिति आदमी को प्रभावित करती है, पर आदमी की अपनी दुर्बलता भी तो होती है साथ में। परिस्थिति के साथ आदमी की कमजोरी का पक्ष भी तो है। आदमी यह नहीं देखता, इसीलिए परिस्थिति एक वाद के रूप में सिद्धान्त बन बया। यह एकांगी पक्ष है, संतुलित पक्ष नहीं है। संतुलित पक्ष होगा परिस्थितिवाद और व्यक्ति का स्वयं का कर्तृत्ववाद। दोनों साथ जुड़े हुए हैं।

परिस्थिति की अपनी शक्ति है। व्यक्ति की अपनी शक्ति है। व्यक्ति का कर्त्तृत्व इतना प्रखर होता है कि उससे परिस्थिति बदल जाती है। मनुष्य में परिस्थिति को बदलने की क्षमता है।

आज आदमी के बदलने की बात सम्भव नहीं हो रही है, क्योंकि परिस्थितिवाद का एक चक्र उसके सामने है। आदमी का सूत्र है—जब तक परिस्थिति नहीं बदलेगी, आदमी कैसे बदलेगा ? इसी के आधार पर एक मान्यता बन गई कि आदमी का स्वभाव बदल नहीं सकता और जब आदमी बड़ा हो जाता है तब तो बदल ही नहीं सकता। राजस्थानी भाषा में इसी का वाचक एक दोहा है—

'जांका पड़्या स्वभाव जासी जीव स्यूं
नीम न मीठा होय, सींचो गुड़-घीव स्यूं ।।'

इस पद्य में कुछ सचाई है, पर वह सम्पूर्ण सत्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसको सम्पूर्ण सत्य मान लेने पर भ्रांति हो सकती है।

आज का युग वैज्ञानिक युग है। प्रत्येक बात पर शोध और अनुसंधान हो रहा है। अब बदलने की बात असम्भव नहीं रही है। मनुष्यों पर कम प्रयोग हो रहे हैं, पशुओं पर अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं। बन्दरों पर, मेंढकों और चूहों पर प्रयोग हो रहे हैं। मस्तिष्क के वे केन्द्र खोज लिए गए हैं जिन्हें स्टिमुलेट, उत्तेजित करने से प्राणी के स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है।

दो बिल्लियां हैं। एक के सिर पर इलेक्ट्रोड लगाकर उसके भूख के केन्द्र को शांत कर दिया गया है। दोनों के सामने भोजन लाया गया। एक बिल्ली तत्काल उसे खाने लग गई और दूसरी बिल्ली शांत बैठी रही। भोजन से उसका मन विचलित नहीं हुआ, क्योंकि उसका भूख का संवेदन शांत हो चुका था। बन्दर के हाथ में केला दिया। वह खाने की तैयारी करने लगा। इतने में ही उसके सिर पर इलेक्ट्रोड लगाकर भूख के केन्द्र को शांत कर दिया। उसने तत्काल केला फेंक दिया।

आहार, भय, नींद, वासना, उत्तेजना—इनके उत्पत्ति-केन्द्र विद्युत् के झटके देकर शान्त कर दिये जाते हैं। विज्ञान ने इन केन्द्रों को खोज निकाला है।

चूहे और बिल्ली का जन्मजात विरोध है। चूहा बिल्ली से डरता है और बिल्ली चूहे को देखते ही उस पर झपटती है। दोनों के सिर पर इलेक्ट्रोड लगा दिए गए। अब न चूहा बिल्ली से डरता है और न बिल्ली चूहे पर झपटती है। चूहा बिल्ली की गोद में खेलता है। बिल्ली उसे अपने बच्चों की भांति प्यार करती है। यह व्यवहार का परिवर्तन कैसे हुआ? इन सब प्रयोगों के आधार पर माना जा सकता है कि आदमी की आदतें बदल सकती हैं। उसका व्यवहार और आचार बदल सकता है।

प्राचीन साहित्य में यह उल्लिखित मिलता है कि वीतराग व्यक्ति के पास सिंह और बकरी एक घाट पर पानी पीने लग जाते हैं। वे अपने वैर को भूल जाते हैं। ऐसा क्यों होता है, इसकी व्याख्या वहां प्राप्त नहीं है, किन्तु आज की खोजों के बाद इसके व्याख्या-सूत्र अज्ञात नहीं रहे। हमारा सारा व्यवहार हमारी विद्युत् के द्वारा नियंत्रित होता है। हमारे शरीर में बहुत विद्युत् है। हजारी प्राण-विद्युत् और जैविक-विद्युत् हमारे आचार-व्यवहार को नियंत्रित करती है। यदि इस विद्युत् की धारा को बदला जा सके तो भावना में परिवर्तन आ जाता है। भावना के द्वारा विद्युत् में परिवर्तन आ जाता है। वीतराग व्यक्ति में से विद्युत् की ऐसी धाराएं, ऐसी रश्मियां निकलती हैं कि उसके पास आने वाले दूषित व्यक्ति की भावनाएं समाप्त हो जाती हैं, भावनाएं बदल जाती हैं और वैरभाव की वृत्ति समाप्त हो जाती है।

निकट आने वाले व्यक्ति की विद्युत् वीतराग की विद्युत् से इतनी प्रभावित होती है कि उसमें से सारा दोष निकल जाता है, भावना बदल जाती है। यह सारा विद्युत् का ही चमत्कार है।

हमारा यह दैनंदिन का अनुभव है कि हम किसी एक व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं, मन प्रफुल्लता से भर जाता है। दूसरे व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं, मन उदास हो जाता है, वह चिन्ता से भर जाता है। इसका कारण क्या है ? हमारे चारों ओर एक आभामण्डल है। प्रत्येक प्राणी के पास आभामण्डल है, ओरा है। जिसका आभामण्डल पवित्र विद्युत्-धाराओं से बना है, अच्छे रंगों से बना है, हरे-नीले-पीले या रक्त वर्ण से बना है, उस व्यक्ति के आसपास का वातावरण पवित्र और निर्मल बन जाता है। उस व्यक्ति के पास जाने मात्र से प्रमोद जागता है, आनन्द और उल्लास जागता है। जिस व्यक्ति का आभामण्डल खराब रंगों से निर्मित है, अन्धकार के रंगों से बना है, उसके पास जाने मात्र से घृणा की भावना जागती है, मन दुःखी और उदास बन जाता है।

एक कहानी है। राजा की सवारी निकल रही थी। सर्वत्र जय-जयकार हो रहा था। सवारी बाजार के मध्य से गुजर रही थी। राजा की दृष्टि एक व्यापारी पर पड़ी। वह चन्दन का व्यापार करता था। राजा ने व्यापारी को देखा। मन में घृणा और ग्लानि उभर आयी। उसने मन ही मन सोचा—'यह व्यापारी बुरा है। इसे मृत्युदंड दे देना चाहिए।' नगर-परिभ्रमण कर राजा महलों में पहुंचा। मंत्री को बुलाकर कहा—मंत्रीवर ! न जाने क्यों उस व्यापारी को देखकर मेरा मन उद्विग्न हो गया और मन में आया कि उसको मार डाला जाए। मन्त्री ने कहा—राजन् ! मैं सारी व्यवस्था करता हूं। मंत्री उस व्यापारी के पास गया। औपचारिक बातें हुईं। व्यापारी ने कहा—मंत्रीवर्य ! चन्दन का भाव प्रतिदिन कम होता जा रहा है। मेरे पास चन्दन का बहुत संग्रह है। लाखों रुपयों का घाटा हो रहा है। मन आकुल-व्याकुल है, चिन्ता से भरा है। राजा के सिवाय चन्दन कौन खरीदे ? राजा भी क्यों खरीदेगा ? यह प्रतिदिन काम में आने वाली वस्तु नहीं है। यह तो मरणवेला में प्रचुर मात्रा में काम आती है। मैं घाटे से दबा जा रहा हूं। सच कहूं, आज जब राजा की सवारी निकल रही थी तब राजा को देखकर मेरे मन में आया कि यदि आज राजा की मृत्यु हो जाए तो मेरा सारा चन्दन बिक जाए, अच्छे मूल्य में बिक जाए।'

मंत्री ने सुना। राजा के उदास होने या व्यापारी को मृत्युदंड देने की भावना के जागने का रहस्य समझ गया।

विचार संक्रमणशील होते हैं। वे बिना कहे दूसरे तक पहुंच जाते हैं।

विचारों की रश्मियां होती हैं, तरंगें होती हैं और वे तरंगें पूरे आकाशमंडल में फैल जाती हैं और सम्बन्धित व्यक्ति के मस्तिष्क से टकराकर उसे प्रभावित करती हैं।

मंत्री ने व्यापारी से कहा—हमें चन्दन की आवश्यकता है। तुम्हारे पास जितना चन्दन हो, वह हमारे पास भेज देना। राजकोष से उसका मूल्य मंगवा लेना।

व्यापारी यह सुनकर प्रफुल्लित हो गया। उसका मन आनन्द से भर गया। उसके मन में आया कि राजा चिरायु हो। वह कृपालु है। वह हजार वर्ष जीए।

राजा की मरण-कामना करने वाला व्यापारी राजा को आशीष देने लगा। उसके लम्बे जीवन की सतत कामना करने लगा।

कुछ समय बीता। एक दिन राजा पुनः नगरावलोकन के लिए निकला। उसी व्यापारी की ओर उसकी दृष्टि गई। मन में सोचा—कितना भला लगता है यह आदमी। ऐसे अच्छे आदमियों से ही हमारे नगर की शोभा है, श्री है।

व्यापारी की भावना के साथ-साथ राजा की भावना बदल गई। यह है बेतार का तार। दोनों ने आपस में बातचीत नहीं की, पर अशब्द के शब्द ने सब कुछ बता डाला।

भावना का प्रभाव होता है। व्यक्ति के अच्छे विचार निर्मल आभामंडल का निर्माण करते हैं और उसके निकट आने वाले प्राणियों को प्रभावित करते हैं।

परिस्थिति का प्रभाव होता है और अपने विचारों तथा वृत्तियों का भी प्रभाव होता है, रसायनों का भी प्रभाव होता है।

आदमी नहीं बदलता, इस बात में भी सचाई है और आदमी बदलता है, इसमें भी सचाई है। स्वभाव और व्यवहार नहीं बदलते, यह भी सत्य है और स्वभाव तथा व्यवहार बदलते हैं, यह भी सत्य है। दोनों सापेक्ष हैं। सापेक्षता के आधार पर निर्णय लेना होता है। यदि हम यह मानकर बैठ जाएं कि आदमी नहीं बदल सकता तो समाज का और अधिक पतन होगा, सुधार की बात उठेगी ही नहीं। इसके विपरीत यदि हम इस सम्भावना को सदा ध्यान में रखें कि आदमी बदल सकता है तो हमारे प्रयत्न चालू रह सकेंगे और उन प्रयत्नों का निश्चित परिणाम भी आयेगा। आवश्यकता है कि

बदलने के साधनों पर पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। उन साधनों के प्रस्तुतीकरण में विज्ञान का बहुत बड़ा हाथ रहा है। धर्म के पास केवल एक साधन बचा है। वह है—उपदेश। यह कटु सत्य है कि उपदेश से सौ में से पांच आदमी बदल सकते हैं। किसी व्यक्ति पर उपदेश की कोई बात चोट कर जाती है और वह बदल जाता है। वह चोट भीतरी रसायनों में परिवर्तन लाती है और तब आदमी का व्यवहार बदल जाता है। पर ऐसी चोट सारे उपदेश नहीं कर पाते, इसीलिए उपदेश से बदलने की बात बहुत कम रहती है। जो अधिक संवेदनशील होता है, वह किसी एक शब्द को इतनी गहराई से पकड़ लेता है कि भीतर में गहरा प्रहार लगता है। तब उसका भीतरी रसायन बदलता है। वह है उपादान कारण। जब उपादान बदलता है तब निमित्त अकिंचित्कर हो जाता है।

एक समय था जब धर्म के क्षेत्र में अभ्यास चलता था, तब आदमी में परिवर्तन आता था। प्रश्न हुआ कि मन बहुत चंचल है, उस पर नियंत्रण कैसे किया जा सकता है? उत्तर मिला—अभ्यास से उसको नियन्त्रित किया जा सकता है—'अभ्यासेन च कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।'

यहां नहीं कहा—'उपदेशे न च कौन्तेय!' बदलने का पहला साधन है—उपदेश और दूसरा है—वैराग्य। वैराग्य सब में नहीं हो सकता। अभ्यास सब कर सकते हैं। सौ में से सौ व्यक्ति अभ्यास कर सकते हैं और उसके परिणामस्वरूप बदल सकते हैं। अभ्यास किसी एक व्यक्ति या वर्ग के अधिकार की बात नहीं है। वह सबका है। सब उसको अपना सकते हैं।

दो कोण हमारे सामने हैं। एक है—उपदेश का कोण, शिक्षा या शिक्षण का कोण, मस्तिष्कीय शिक्षण का कोण और दूसरा है—अभ्यास या प्रयोग का कोण। हम दोनों की कसौटी करें। अभ्यास से बदला जा सकता है, उपदेश से बदलना संभव नहीं है। कारण बहुत स्पष्ट है। हम सोचें कि आदतों का निर्माण कहां होता है? आदतों का निर्माण शब्दों के आधार पर नहीं होता। आदतों का मूल होता है अवचेतन मन में और वे प्रकट होती हैं चेतन मन के स्तर पर। यह हमारा स्थूल मस्तिष्कीय स्तर है। हम उपदेश सुनते हैं। उपदेश के शब्द कानों के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुंचते हैं, उसे झंकृत कर समाप्त हो जाते हैं। वे वहां तक नहीं पहुंच पाते जहां आदतों का निर्माण होता है, जहां आदतें बनती हैं और बिगड़ती हैं। जो आदतें हमें प्रभावित करती हैं, वहां तक बेचारे शब्द पहुंच ही नहीं पाते। फिर शब्दों,

से, उपदेश से बदलने की बात प्राप्त ही नहीं होती। आदतों को बदलने के लिए आन्तरिक चेतना को प्रभावित करना होगा और उसका एक उपाय है—ध्यान। ध्यान का अर्थ है—चेतना की गहराई में जाना और वहां जाकर चेतना का स्पर्श करना। ध्यान के माध्यम से हम भीतर जाते हैं, उस केन्द्र का स्पर्श करते हैं जहां आदतों का अस्तित्व है, जहां आदतें बनती हैं। वहां जब कोई बात पहुंचती है तब आदतों में परिवर्तन प्रारम्भ होता है।

ग्रन्थियों के विभिन्न स्राव होते हैं। वे हमें बहुत प्रभावित करते हैं। उन स्रावों को बदले बिना आदतों को नहीं बदला जा सकता।

हम असहिष्णुता की चर्चा कर रहे थे। असहिष्णुता भी एक आदत है। यहां भी दो कोण हो सकते हैं। आदमी कह सकता है कि मैं असहिष्णु नहीं था, किन्तु परिस्थिति ने मुझे असहिष्णु बना दिया। असहिष्णु वह होता है जिसमें दूसरों की कमियों को सहने की क्षमता नहीं है। वह न कमियों को सह सकता है और न विशेषताओं को सह सकता है और न अनुकूलता को सह सकता है और न प्रतिकूलता को सह सकता है।

सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या है कि व्यक्ति अनेक के साथ रहता है, जीवन-यापन करता है, परन्तु उनकी कमियों और विशेषताओं को सहन नहीं कर सकता। यह स्वयं के लिए बहुत बड़ा खतरा है। दूसरे के लिए भी खतरा है। वह स्वयं बेचैनी का जीवन जीता है और अकारण ही जीवन में अनेक कष्टों को आमन्त्रित कर लेता है।

एक आदमी था। वह सदा प्रसन्न रहता था। एक दिन उसको उदास देखकर मित्र ने पूछा—मित्र! तुम सदा प्रसन्न रहते थे। तुम्हारी सारी अनुकूलताएं थीं। पर आज तुम बहुत उदास दीख रहे हो, यह क्यों उसने कहा—मेरी प्रसन्नता गायब हो गई। आज से नहीं, बारह महीनों से वह गायब है। इसका भी कारण है। पहले इस गांव में मेरा मकान सबसे ऊंचा था। न जाने एक व्यक्ति कहां से आ टपका कि उसने मेरे मकान से भी ऊंचा मकान बना डाला। उसी दिन से मेरी प्रसन्नता समाप्त हो गई।

इसकी कोई दवा नहीं है। आयुर्वेद विज्ञान में, मेडिकल साइन्स में, साइकोलॉजी में इसकी कोई दवा नहीं है। यह साइकोसोमेटिक बीमारी भी नहीं है। इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं बना। दूसरे की विशेषता को, दूसरे की सम्पन्नता को सहन न करना ही इसका कारण है। ऐसी बीमारी का विधायक पक्ष यह है कि व्यक्ति अपनी शक्ति को बढ़ाए, तीन मंजिले मकान

के स्थान पर पांच मंजिला मकान बनाने, पांच मंजिले के स्थान पर सात मंजिला मकान बनाने की क्षमता को विकसित करे और अधिक कमाए, और अधिक श्रम करे। यह उसका विधायक पक्ष है। मनुष्य का दृष्टिकीण पोजिटिव कम होता है, नेगेटिव अधिक। उसकी एप्रोच नेगेटिव होने के कारण वह दुःखी होता है। इससे असहिष्णुता का भाव जागता है और असहिष्णुता राहू की भांति चांद को निरंतर ग्रसित करती रहती है। सामाजिक जीवन को स्वस्थ रखने का एक उपाय है—सहना।

लड़की ससुराल के लिए प्रस्थान कर रही थी। मां ने शिक्षा देते हुए कहा—बेटी ! तुम पराए घर को अपना घर बनाने जा रही हो। तीन बातों का विशेष ध्यान रखना—

१. सास-ससुर को सहना, इसलिए कि कुल खंडित न हो और बहू की मर्यादा का लोप न हो।

२. देवर को सहना, इसलिए कि जो समझाने योग्य होता है उसे समझाना चाहिए, उसके साथ विद्रोह नहीं करना चाहिए।

३. नौकर को सहना, इसलिए कि क्षुद्र के साथ क्षुद्रता का व्यवहार न हो।

सबको सहना होता है। मैं यह नहीं कहता कि अन्याय को सहना चाहिए, अपराध को सहना चाहिए। पारिवारिक या सामाजिक जीवन में व्यवहार तभी निभ सकता है जब सभी एक-दूसरे को सहन करते हों। घर का लड़का उद्दंड हो गया हो तो उसे सहना ही पड़ता है, अन्यथा बहुत बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। पड़ोस के वातावरण को भी सहना पड़ता है, अन्यथा सुखपूर्वक नहीं रहा जा सकता।

सहिष्णुता का विकास शक्ति का विकास है। इस शक्ति के सहारे दूसरों की कमियों को भी सहा जा सकता है और दूसरों की विशेषताओं को भी सहा जा सकता है। आज अनुशासन की समस्या बहुत जटिल हो गई है क्योंकि मनुष्य असहिष्णु बन गया है। सहिष्णुता के बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। अनुशासन एक परिणाम है और सहिष्णुता की शक्ति है उसका कारण। पिता की बात पुत्र नहीं मानता क्योंकि उसमें सहने की क्षमता नहीं है। पुत्र तत्काल कह देता है—'मुझे कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है, मैं भी आदमी हूं, वयस्क हूं, मैं भी सोचता हूं, आप मुझे बार-बार क्यों कहते हैं ?' अध्यापक विद्यार्थी को उसके हित की बात कहता है। विद्यार्थी तत्काल कह देता है—मास्टर साहब ! आपका काम पढ़ाना है,

शिक्षा देना नहीं। आप पाठ्यक्रम के अनुसार अध्ययन करा दें, सीख देने की कोई जरूरत नहीं है।'

कहीं भी सहिष्णुता दृष्टिगोचर नहीं होती। सर्वत्र असहिष्णुता का साम्राज्य दिखाई देता है।

एक कहानी है। बया पक्षी ने बन्दर से कहा—'भाई बन्दर! वर्षा से कांप रहे हो। तुम्हारे हाथ हैं, पैर हैं। तुम सब कुछ कर सकते हो। देखो, मैंने भी अपना घर (घोंसला) बना लिया है। तुम भी घर बनाकर आराम से रहो। वर्षा और आतप से फिर कष्ट नहीं पाओगे। मैं सुखपूर्वक रह रहा हूं। तुम मेरे से अधिक शक्तिशाली हो, आदमी जैसे हो, फिर दुःख क्यों पा रहे हो? घर बनाकर सुख से रहो।'

'बन्दर बोला—छोटे मुंह बड़ी बात! मुझे सीख दे रहे हो! चुप रहो!'

बन्दर बया के घर पर झपटा और उसे तोड़कर नीचे गिरा दिया। इसी-लिए कवि ने कहा है—

'हाथ तेरे पांव तेरे, मनुज सरीखी देह रे।
झोंपड़ी तूं छाय बन्दर, ऊपर बरिसे मेह रे॥
सूचीमूखी दुराचारी रंडे पंडितवादिनी।
असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृहभञ्जने॥'

आज असहिष्णुता चरमसीमा तक पहुंच चुकी है। दो भाई हैं। दो मित्र हैं। तब तक भाईचारा और मित्रता निभती है जब तक आपस में कुछ कहा-सुना नहीं जाता। मन के प्रतिकूल कहते ही भाईचारा टूट जाता है, मित्रता समाप्त हो जाती। शिष्य गुरु के प्रति विनीत होता है, समर्पित होता है, विनय और समर्पण तब तक अखंड रहता है जब तक गुरु शिष्य को कुछ कठोर शब्द नहीं कहते और शिष्य का स्वार्थ संपादित होता रहता है। कुछ कहा, कुछ ताप दिया कि शिष्य मोम की तरह पिघलकर बिखर जाएगा, टूट जाएगा।

अनुशासन तब तक सम्भव नहीं है जब तक सहिष्णुता का विकास नहीं होता। हम अनुशासन लाने का बहुत प्रयत्न करते हैं। हम चाहते हैं कि अनु-शासन का विकास हो, विद्यार्थी और पुलिसकर्मी में अनुशासन आए, मजदूर और कर्मचारी में अनुशासन आए। हर क्षेत्र में अनुशासन बढ़े। सब चाहते हैं किन्तु वे इस आधारभूत तत्त्व को भूल जाते हैं कि सहिष्णुता की शक्ति का

विकास हुए बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। इसलिए हमारा सारा प्रयत्न सहिष्णुता की शक्ति को विकसित करने के लिए होना चाहिए। तब अनुशासन स्वयं फलित होगा।

आदमी बहुत भ्रम पालता है। वह अच्छा परिणाम चाहता है, पर कारण-सामग्री की उपेक्षा कर देता है। आदमी बीज नहीं बोता, पर फल पाना चाहता है। यह है बिना कारण के कार्य करने वाली बात। आदमी कार्य पर अधिक ध्यान केन्द्रित करता है। वह तो परिणाम है। वह अपने आप होगा। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा। ध्यान केन्द्रित होना चाहिए कारण पर, बीज पर, साधन-सामग्री पर।

एक व्यक्ति बीज बो रहा था। दूसरे ने पूछा—'भाई, क्या बो रहे हो?' उसने कहा—'नहीं बताऊंगा कि मैं क्या बो रहा हूं।' तब वह बोला—'मत बताओ। जब बीज उगेंगे, तब स्वतः पता चल जाएगा।' उसने कहा—'यदि यह बात है तो मैं बीज बोऊंगा ही नहीं, फिर कैसे पता चलेगा?'

बड़ी विचित्र बात है। आदमी अनुशासन के बीज बोता ही नहीं, और सब क्षेत्रों में अनुशासन देखना चाहता है। अनुशासन एक कार्य है। वह बिना कारण के कैसे निष्पन्न होगा?

इस संदर्भ में एक प्रश्न हो सकता है कि सहिष्णुता का विकास कैसे हो सकता है।

सहिष्णुता की शक्ति का विकास करने के लिए अग्र मस्तिष्क (फ्रन्टल लॉब) या एमोशनल एरिया) पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्रेक्षा-ध्यान की दृष्टि से इसे शांति केन्द्र, ज्योतिकेन्द्र का स्थान कहा जाता है। असहिष्णुता की आंच यहां है। यह चूल्हा जल रहा है। तापमान का नियंत्रण हाइपोथेलेमस द्वारा होता है। मस्तिष्क का एमोशनल एरिया ही सारी उत्तेजनाओं, आवेगों और असहिष्णुता का जनक है। इसको बदले बिना या इस पर नियंत्रण किये बिना दृष्टिकोण की शक्ति का विकास नहीं हो सकता। इसको बदलने का कारगर उपाय है—ज्योतिकेन्द्र और शान्तिकेन्द्र पर ध्यान करना। यह एक बात है। दूसरी बात है कि इन केन्द्रों पर सफेद रंग का ध्यान करना। ये दो प्रयोग हैं, दो अभ्यासक्रम हैं। ये दोनों मस्तिष्क के एमोशनल एरिया पर नियंत्रण करते हैं, उसे शांत करते हैं। इस पर नियंत्रण जैसे-जैसे होता जाएगा, वैसे-वैसे उत्तेजनाएं और आवेग कम होते जाएंगे और सहिष्णुता की शक्ति का विकास होता जाएगा। जब सहिष्णुता का

विकास होगा तब अनुशासन की शक्ति अपने आप आएगी। इस स्थिति में आदमी किसी बात को सुनकर तत्काल उत्तेजित नहीं होगा, असहिष्णु नहीं होगा। वह सोचेगा—'कहने वाला जो बात कह रहा है, उसका तात्पर्य क्या है, प्रयोजन क्या है।' यह सोचकर वह उस बात में से सारतत्त्व को ग्रहण कर, शेष को छोड़ देगा।

एक अंग्रेज ने महात्मा गांधी को पत्र लिखा। उसमें गालियों के अतिरिक्त कुछ था नहीं। गांधीजी ने पत्र को पढ़ा और उसे रद्दी की टोकरी में डाल दिया। उसमें जो 'आलपिन' लगा हुआ था, उसे निकालकर सुरक्षित रख लिया। वह अंग्रेज गांधीजी से प्रत्यक्ष मिलने के लिए आया। आते ही उसने पूछा—'महाराज! आपने मेरा पत्र पढ़ा या नहीं?' महात्माजी बोले—'बड़े ही ध्यान से पढ़ा है।' उसने फिर पूछा—'क्या सार निकाला आपने?' गांधी ने कहा—'एक आलपिन निकाला है। बस, उस पत्र में इतना ही सार था। जो सार था, उसे ले लिया। जो असार था, उसे फेंक दिया।'

जब सहिष्णुता का विकास होता है तब आदमी संतुलित हो जाता है। वह न प्रियता में फूलता है और न अप्रियता में कुम्हलाता है। कभी-कभी प्रियता भी धोखे में डाल देती है। कभी-कभी प्रियता भी खतरनाक हो जाती है। मित्रता के बहाने जितना धोखा दिया जा सकता है, उतना धोखा शत्रुता के बहाने नहीं दिया जा सकता। मित्र जितना खतरनाक हो सकता है उतना शत्रु खतरनाक नहीं हो सकता। प्रियता के बहाने आदमी जितना धोखा खाता है, उतना धोखा अप्रियता से नहीं दिया जा सकता। जब सहिष्णुता का विकास होता है तब प्रियता में भी विवेक करने की शक्ति जाग जाती है और अप्रियता में भी विवेक करने की शक्ति जाग जाती है।

सहिष्णुता के विकास का सूत्र है—शांतिकेन्द्र और ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान करना, तद्विषयक चिन्तन और विचार करना।

सह-अस्तित्व और समन्वय

सहिष्णुता का प्रतिपक्ष है—असहिष्णुता। असहिष्णुता ने मानवजाति के समक्ष अनेक समस्याएं पैदा की हैं। उनमें मुख्य हैं—साम्प्रदायिकता और जातीयता। इन दोनों ने मनुष्य को विभक्त कर डाला। 'एकैव मानुषी जातिः'—मनुष्य जाति एक है, यह शाश्वत धारणा खंडित हो गई। मनुष्य इतने टुकड़ों में बंट गया, जिसकी कोई गणना नहीं है। बंटना एकान्ततः बुरी बात नहीं है। बंटना उपयोगिता भी हो सकती है। आदमी उपयोगिता के लिए अनेक भेद-रेखाएं खींचता है। परन्तु आज कुछ विचित्र हो गया है। भेदरेखा की उपयोगिता नष्ट हो गई। परस्पर द्वेष और शत्रुता पैदा हो गई। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु की दृष्टि से, विरोधी की दृष्टि से देखने लग गया। इससे मार-काट, हत्या बढ़ी। इसके पीछे एक ही चेतना काम करती है और वह है असहिष्णुता की चेतना।

आदमी भिन्नता और विरोध को सहन नहीं कर पाता। यह सच है कि हम जिस दुनिया में जीते हैं, उसमे पग-पग पर भिन्नता है। विचार की भिन्नता है, आचार और रुचि की भिन्नता है। रहन-सहन और पहनावे की भिन्नता है, भोजन और आवास की भिन्नता है। सर्वत्र भिन्नता ही भिन्नता है। इस भिन्नता को समाप्त नहीं किया जा सकता। यह कभी संभव नहीं है कि सभी एक विचार के हो जाएं। जिस दिन सभी आदमी एक विचार के हो जायेंगे तो मनुष्य जाति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा। सबका एक विचार होने का अर्थ है—विचारों की स्वतंत्रता का समाप्त हो जाना, मनुष्य का यांत्रिक हो जाना। जब तक मनुष्य यांत्रिक नहीं होगा तब तक मनुष्य जाति का एक विचार हो जाना कभी संभव नहीं है। यह मनुष्य की अपनी विशेषता है कि उसके सोचने का तरीका अपना है, स्वतंत्र है। सभी आदमी अपने-अपने ढंग से सोचते हैं। यंत्र में और आदमी में यही तो अन्तर है। यन्त्र को ढांचे में ढाला जा सकता है। जड़ वस्तु को एक रूप में, समान रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, पर आदमी को कभी एक रूप में नहीं ढाला जा सकता। आदमी को एक रूप बनाने से उसकी सुन्दरता बढ़ेगी नहीं, नष्ट ही होगी

आदमी को एक-जैसे विचार के लिए विवश कर डाला, उसे एक ढांचे में ढाल दिया तो वहां उसकी चेतना की विशेषता ही समाप्त हो जाएगी। हम कभी नहीं चाहते कि आदमी यांत्रिक बने, यंत्र-मात्र बन जाए और एक ढांचे में ढल जाये। हम चाहते हैं उसकी मौलिकता और विशेषता बनी रहे। वह अपने ढंग से स्वतंत्र रूप से सोचे और काम करे।

आदमी-आदमी की भिन्न रुचि होती है। हम सबको एक रुचि वाले कैसे बनाएं? भोजन की रुचि भी एक नहीं होती। परिवार के दस सदस्य हों तो दस प्रकार की रुचियां होंगी। किसी को करेला अच्छा लगता है और किसी को खराब। एक कहेगा कि करेले से मुंह कड़वा हो गया और दूसरा जो चीनी की बीमारी से ग्रस्त है, कहेगा कि करेला बहुत उपयोगी है, लाभदायी है। किसी को मीठा अच्छा लगता है और किसी को नमकीन। हम रुचि की भिन्नता को कैसे मिटाएं? हमारी इस दुनिया में रुचि की भिन्नता बनी रहेगी, आचार और विचार की भिन्नता बनी रहेगी। यह वास्तविकता है, इसे नहीं मिटाया जा सकता। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष दो ही मार्ग हैं। एक मार्ग यह है कि हम भिन्नता को सहन करें और दूसरा मार्ग है कि जहां भी भिन्नता है वहां हम संघर्ष करें। तीसरा कोई मार्ग नहीं है।'

सबसे अच्छा मार्ग है—सहन करना, समन्वय करना और सह-अस्तित्व की चेतना को विकसित करना।

आदमी भिन्नता से कब तक लड़ेगा? कब तक संघर्ष करता रहेगा? लड़ाई का कभी कहीं अन्त नहीं होता। अन्त तब होता है जब मनुष्य जाति ही समाप्त हो जाती है। लड़ते-लड़ते सब समाप्त हो जाएंगे तब लड़ाई स्वतः बन्द हो जायेगी। किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं है। यदि मनुष्य जाति को जीना है, जीवित रहना है तो उसे कोई विकल्प ढूंढ़ना होगा, मार्ग निकालना होगा। वह विकल्प और मार्ग है—सह-अस्तित्व और समन्वय की चेतना का विकास। इसके विकास के द्वारा ही असहिष्णुता की भावना को मिटाया जा सकता है।

पंडित नेहरू ने एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच सह-अस्तित्व की बात पर बल दिया था। आज हम उस बात की चर्चा न करें। पर क्या पारिवारिक जीवन में सह-अस्तित्व आवश्यक नहीं है? बहुत जरूरी है, अत्यन्त आवश्यक है। परिवार में सह-अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है। तभी शान्त-सहवास रह सकता है, अन्यथा नहीं। शांत-सहवास जीवन की सबसे बड़ी सफलता है।

साथ में रहना और प्रेमपूर्वक रहना बहुत बड़ी बात है। बहुत अधिक प्रेम हो और वे यदि कुछ काल तक साथ में रह जाएं तो प्रेम को टूटते देरी नहीं लगती। दो को साथ में रखकर देख लो कि उनका घनिष्ठ प्रेम कैसे खंड-खंड होकर बिखर जाता है। जब तक साथ नहीं रह लें तब तक घनिष्ठता बनी रहती है। साथ रहे कि घनिष्ठता टूटी। साथ रहकर घनिष्ठ प्रेम बनाए रखना, एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। क्योंकि आदमी पग-पग पर टकरा जाता है। यह टकराव स्वार्थ के कारण, मान्यताओं के कारण, धारणाओं के कारण होता है। उस स्थिति में सह-अस्तित्व और समन्वय की चेतना से ही वह तनाव या टकराव समाप्त हो सकता है।

पुत्र वयस्क हो चुका था। उसने एक दिन पिता से कहा—'पिताजी! आज से मैं आपके साथ भोजन नहीं करूंगा।' यह कथन तनाव पैदा करने वाला था। पर पिता समझदार था। उसने तत्काल कहा—'बेटा! कोई बात नहीं है। इतने दिनों तक तुम मेरे साथ भोजन करते रहे तो आज से मैं तुम्हारे साथ भोजन करने लग जाऊंगा। कोई खास बात नहीं है।'

पुत्र प्रसन्न हो गया। तनाव मिट गया। आक्रोश समाप्त हो गया। बात बनी की बनी रह गई। कोई अन्तर नहीं आया। पुत्र के मन में अहं जाग गया कि अब मैं पिता के साथ भोजन क्यों करूं? पिता ने उसके अहं को परोक्षतः पुष्ट करते हुए कह दिया—'मैं तुम्हारे साथ भोजन करने लग जाऊंगा।' यह है समन्वय की दृष्टि। समन्वय के दृष्टिकोण ने समस्या को सुलझा दिया। किन्तु आदमी में अनेक प्रकार के आग्रह होते हैं, पूर्वाग्रह और अभिनिवेश होते हैं। एक बात पकड़ ली तो फिर उसे छोड़ने का मन ही नहीं होता। जैसे मकोड़ा टूट जाता है, पर अपनी पकड़ नहीं छोड़ता, वैसे ही आदमी टूट जाता है, पर आग्रह को नहीं छोड़ता। मकोड़ा अज्ञानी है। उसकी चेतना विकसित नहीं है। आदमी ज्ञानी है। उसकी चेतना बहुत विकसित है। वह पकड़ को, आग्रह को छोड़ भी सकता है। सामाजिक या पारिवारिक जीवन में आग्रह जितना कम होता है उतना ही जीवन सुखद और शांत रहता है। आग्रही व्यक्ति छोटी-सी बात को इतना तान देता है कि वह बड़ी समस्या पैदा कर देती है। सारी उलझनें पूर्वाग्रह के कारण पैदा होती हैं। दोनों ओर का पूर्वाग्रह स्थिति को बिगाड़ देता है। एक व्यक्ति यदि आग्रह को छोड़ देता है तो स्थिति सुलझ जाती है। रस्सी को दो व्यक्ति दोनों छोर को पकड़कर खींचते हैं। खींचते-खींचते रस्सी बीच में से टूट जाती है और दोनों व्यक्ति

धड़ाम से जमीन पर गिर जाते हैं। जब एक व्यक्ति खींचता है और दूसरा उसको ढीली कर देता है तो खींचने वाला गिरता है, ढील देने वाला खड़ा रह जाता है। खींचने का अर्थ ही है समस्या का उलझना। समस्या सुलझती नहीं।

जीवन जीने की कला है खिचाव और ढील का समन्वय। सह-अस्तित्व के लिए दोनों जरूरी हैं। खिचाव के साथ ढील देने की कला भी हम जानें। एक तथ्य बहुत स्पष्ट है कि जहां भेद होता है, तनाव होता है वहां विरोध की स्थिति पैदा हो जाती है। यह क्यों होता है ? निकट की रिश्तेदारी में भी यह अपवाद नहीं है। जहां भेदरेखा आयी कि चेतना बदल गई। चेतना का परिवर्तन क्यों होता है ?

एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनों विनीत और सेवाभावी थे। दोनों गुरु की सेवा-शुश्रूषा करना चाहते थे। पगचंपी कराते समय गुरु ने अपने दोनों पैरों को दोनों शिष्यों में बांट दिया। एक शिष्य बाएं पैर की पगचंपी करता और दूसरा शिष्य दाएं पैर की पगचंपी करता है। दोनों शिष्यों की चेतना बंट गई। जब दायां पैर बायी ओर जाता तो उसकी पगचंपी करने वाला शिष्य झटका देकर उसे अपनी ओर ले जाता और जब बायां पैर दायीं ओर जाता तो दूसरा शिष्य भी वैसे ही करता। गुरु को बहुत परेशानी होती पर शिष्यों की चेतना बंट चुकी थी। गुरु को उसका परिणाम भुगतना पड़ा।

भेदरेखा खिचते ही चेतना में परिवर्तन आ जाता है। इस समस्या का समाधान मनोवैज्ञानिक ढंग से खोजना होगा जिससे कि भेद होने पर भी चेतना में विरोध न जागे। यह एक बहुत बड़ी समस्या है। इसका समाधान मनुष्य जाति को खोजना चाहिए। आज के मनोवैज्ञानिकों, चिन्तकों और विचारकों को इस समस्या के समाधान में योग देना चाहिए। यदि समाधान नहीं खोजा गया तो मनुष्य जाति इतनी बंट जाएगी कि न जाने उसका अन्त कहां होगा ? संघर्ष और लड़ाइयां इतनी बढ़ जाएंगी कि मनुष्य जाति का ही अंत दीखने लग जाएगा।

एक भेदरेखा खिचती है और एक सम्प्रदाय जन्म ले लेता है। उस सम्प्रदाय से दूसरा सम्प्रदाय निकलता है और तब परस्पर टकराव और विरोध प्रारम्भ हो जाता है। कल तक जो साथ थे, कोई टकराव और विरोध नहीं था, आज अलग होते ही टकराव होने लग जाता है। दो भाई कल तक प्रेम से साथ रहते थे। आज अलग हुए। चूल्हे ही अलग नहीं जले, मन भी अलग

हो गया, बंट गया।

भारत की प्रकृति में भेद की बात शीघ्र उठ खड़ी होती है। दस व्यक्ति मिलकर व्यापार प्रारम्भ करते हैं, कम्पनी का गठन होता है। काम चलता है। जब व्यापार बढ़ता है, लाभ बढ़ता है, तब आपस में टकराव होने लगता है। जो कम्पनी सफलता के शिखर को चूमने ही वाली थी कि उसमें टूट-फूट होती है। सदस्य अलग-अलग बिखर जाते हैं और तब सफलता के शिखर को छूने की बात स्वप्न-सी बन जाती है। सौ-पचास वर्षों तक साझे में काम करने वाली कम्पनियां भारत में विरल ही मिलेंगी। दस वर्ष होते-होते बंटवारा शुरू हो जाता है और कम्पनी बिखर जाती है। ऐसी ही कोई विशिष्ट चेतना है यहां के मनुष्य की। इस स्थिति के निराकरण के लिए समाजशास्त्री और धर्म-नेताओं को गंभीरता से विचार करना होगा और समन्वय की भावना को विकसित करना होगा। समाज में जीना है तो साथ में जीना होगा, फिर चाहे समाज में रहने वाले लोग भिन्न-भिन्न जाति के हों, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को मानने वाले हों। आदमी अकेला नहीं जी सकता। उसे साथ में जीना है। जब साथ में ही जीना है तब वैर-विरोध और संघर्ष में कैसे जिया जा सकता है? लड़ते-झगड़ते जीना भी कोई जीना है, वह तो जीता-जागता नरक है। उसमें कोई आनन्द नहीं, खुशी नहीं, सौमनस्य नहीं, वह दुःखपूर्ण और कष्टप्रद होता है। जीवन में आनन्द और सौमनस्य तब आता है जब आदमी आदमी को सहन करना है। एक आदमी दूसरे की कमी और विशेषता को सहन करता है, भिन्न आचार और विचार को सहन करता है।

हमारी इस दुनिया में यह मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है। दो परस्पर लड़ते हैं तब एक कहता है—इस गांव में या तो मैं रहूंगा या यह रहेगा। दोनों एक साथ इस गांव में नहीं रह सकते। पार्टी के सदस्यों में टकराव होता है। दो पार्टियां बन जाती हैं। दोनों एक-दूसरे के अस्तित्व को खत्म करने का प्रयत्न करती हैं।

आदमी भूल जाता है कि इस दुनिया में सबको रहने का अधिकार है। हमारी दुनिया में विरोधी वस्तुएं भी साथ-साथ रहती हैं। इस दुनिया में आग है तो पानी भी है। अंधकार है तो प्रकाश भी है। हजारों, लाखों, करोड़ों वर्ष बीत गए, हमारी दुनिया में अंधकार भी वैसा का वैसा है। अंधकार भी जी रहा है और प्रकाश भी जी रहा है। सर्दी भी जी रही है और गर्मी भी जी रही है। क्या कभी ऐसा संभव हो सकता है और अंधकार कह

सकता है कि या तो मैं ही रहूंगा या प्रकाश ही रहेगा। सर्दी कह दे कि या तो मैं ही रहूंगी या गर्मी ही रहेगी। यह कभी नहीं हो सकता। इस दुनिया में दोनों के लिए अवकाश है। शरीर की गर्मी यदि कह उठे कि शरीर में या तो मैं ही रहूंगी या ठंड ही रहेगी, तो आप सोचें, शरीर का क्या होगा? आदमी मुर्दा बन जायेगा। आदमी तब तक ही जीवित है जब तक शरीर में गर्मी भी है और सर्दी भी है। उसमें एक संतुलित तापमान है। कोरी गर्मी बढ़ जाए तो आदमी मर जाता है। कोरी सर्दी बढ़ जाए तो भी आदमी मर जाता है।

इस दुनिया में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसका प्रतिपक्ष शब्द न हो। जिसका अस्तित्व होता है उसका प्रतिपक्ष भी होता है। प्रत्येक वस्तु का प्रतिपक्ष है। जिसका प्रतिपक्ष न हो वह सत् नहीं होता, उसका अस्तित्व ही नहीं होता। जिस शब्द का प्रतिपक्ष नहीं है तो उसका अर्थ भी नहीं हो सकता। कल्पना करें कि यदि दुनिया से अंधकार मिट जाएगा तो प्रकाश का अर्थ भी समाप्त हो जाएगा। प्रकाश का अर्थ हम तभी समझ सकते हैं जबकि अंधकार का अस्तित्व है, अंधकार हमारे सामने है। हम तभी समझ सकते हैं कि अन्धकार वह होता है जिसमें दिखाई नहीं देता और प्रकाश वह होता है जिसमें दिखाई देता है। यदि चोर समाप्त हो जाए तो साहूकार का अर्थ भी समाप्त हो जाएगा।

यह संसार विरोधी-युगलों का संसार है। सारे जोड़े हैं, युगल हैं और वे भी विरोधी-युगल। सब कुछ द्वन्द्व है। द्वन्द्व के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ—युगल और दूसरा अर्थ है—लड़ाई, संघर्ष, युद्ध। जो युगल होगा वह विरोधी ही होगा। समान जाति का युगल नहीं होता। स्त्री-पुरुष, नर-मादा, नित्य-अनित्य, शाश्वत-अशाश्वत, अंधकार-प्रकाश, सर्दी-गर्मी आदि-आदि युगल हैं।

हम इस सत्य को मानकर चलें कि इस दुनिया में विरोध रहेगा, भिन्नता रहेगी, प्रतिपक्ष रहेगा। इसे कोई मिटा नहीं सकता। इसमें हमें नये मार्ग की खोज करनी होगी। वह मार्ग होगा सह-अस्तित्व का, समन्वय का। इसका अर्थ है—हम साथ में रह सकें और समन्वय के द्वारा साथ में रह सकें। इसके द्वारा साम्प्रदायिक वैमनस्य, जातीयता की भावना मिट सकती है।

किसी व्यक्ति में ये भावनाएं नहीं होनी चाहिए, किन्तु अधिकारी में तो ये होना ही नहीं चाहिए। यदि अधिकारी में ये होती हैं तो अन्याय घटित हो सकता है। जब-जब किसी राजा या शासक के मन में सांप्रदायिक या जाती-

यता की भावना पनपी है तो बड़े-बड़े अन्याय हुए हैं, नर-संहार हुए हैं। आज सम्राट् अशोक और अकबर को महत्त्व दिया जाता है। उसके पीछे यही रहस्य है कि दोनों ने समन्वय की छाया में राज्य किया था, समन्वय की साधना की थी। सम्राट् अशोक और अकबर ने अपने-अपने राज्य में ऐसी स्थिति पैदा की थी जो इतिहास में महत्त्व के साथ उल्लिखित है। सम्राट् अशोक के शिला-लेखों में यह उत्कीर्ण है—सभी संप्रदाय प्रेम के साथ रहें, कोई किसी के साथ विरोध न करें। यह उल्लेख सामाजिक इतिहास में, मानवजाति के इतिहास में स्वर्णांकित उल्लेख है। जिन शासकों ने साम्प्रदायिक आग्रह से काम लिया उनके राज्य खंड-खंड होकर बिखर गए और प्रजा भी बहुत दुःखी हुई। अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह सभी को विकास का अवसर दे। जाति-भेद और सम्प्रदाय-भेद को वह दफनाकर चले। वह समन्वय का वातावरण बनाए और समन्वय की नींव पर अपने निर्णय ले।

महाराजा रणजीतसिंह जी बहुत बड़े अनुभवी शासक थे। उनका यश सर्वत्र व्याप्त था। उनके राज्य में हिन्दू भी सुखी थे, मुसलमान भी सुखी थे। एक बार ऐसा हुआ, मुसलमानों का उत्सव-दिवस था। ताजिया निकल रहा था। सारे शहर में धूमधाम थी। जिस मार्ग से ताजिया गुजर रहा था, वहां एक स्थान पर बहुत बड़ा वटवृक्ष था। मार्ग संकरा था। ताजिये का ऊपरी हिस्सा वटवृक्ष से टकरा रहा था। मुसलमान भाइयों ने उस वटवृक्ष की डाली को काटना चाहा, जिससे कि ताजिया वहां से निकल सके, आगे बढ़ सके। वटवृक्ष की शाखा को काटने की बात हिन्दुओं को चुभ गई। वे अड़ गए। टकराव की स्थिति बन गई। दोनों ओर से उत्तेजना की स्थिति बनी। मर-मिटने के लिए दोनों ओर से व्यक्ति तैयार थे। बात तन गई। स्थिति तनाव-पूर्ण बन गई। महाराजा रणजीतसिंहजी को पता चला। वे तत्काल उस स्थान पर आए, स्थिति का अध्ययन किया। समन्वय के आलोक में समस्या पर विचार किया और अचानक एक समाधान उनके मस्तिष्क में उभर आया। उन्होंने तेज आवाज में कहा—हिन्दू भाई अपने स्थान से सौ कदम पीछे हट जाएं और मुसलमान भाई भी अपने स्थान से सौ कदम पीछे हट जाएं। दोनों पीछे हट गए। तब महाराजा ने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि जो सड़क ऊंची है उसे खोदकर नीची कर दें। सड़क की खुदाई हुई। उसको ठीक कर दिया गया। फिर महाराजा ने मुसलमानों से कहा—अब ताजिये को धीरे से आगे बढ़ाएं। ताजिया वटवृक्ष की शाखा को बिना

छुए आगे बढ़ गया। वे बहुत प्रसन्न हुए। इधर हिन्दू भाई भी खुशियों से उछल पड़े। शाखा को काटने की नौबत नहीं आयी। ताजिया आगे बढ़ा। दोनों पक्षों को समाधान मिल गया। रास्ता ऊंचा था, तब तक वटवृक्ष बाधक था। रास्ता नीचा कर दिया, बाधा मिट गई। सारा तनाव मिट गया, टकराहट मिट गई।

जब आदमी समन्वय की चेतना से समाधान खोजता है तो कठिन कार्य भी सरल बन जाता है। प्रत्येक समस्या का समाधान हो सकता है। समस्या है तो समाधान भी है। ऐसी एक भी समस्या नहीं है, जिसका समाधान न हो। जहां समन्वय की चेतना का विकास होता है, जहां सापेक्षता की चेतना जागृत होती है, वहां कुछ भी असंभव नहीं होता। एक अंगुली को दूसरी अंगुली की अपेक्षा रहती है। विरोध कहां नहीं है। हम हाथ को देखें। चार अंगुलियां और अंगूठा विरोधी हैं। दोनों भिन्न दिशाओं में हैं। पूरी मानव-जाति का विकास इस विरोध के आधार पर हुआ है। यदि अंगूठा उंगलियों की समरेखा में होता तो मनुष्य जाति का विकास कभी नहीं होता। संस्कृति और सभ्यता का विकास कभी नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति का विकास इसी विरोध के कारण हुआ है। अंगूठा अंगुलियों की विरोधी दिशा में है, इसलिए लिपि का, चित्रकारिता का और शिल्प का विकास हुआ है। दोनों की भिन्न दिशागामिता ने विकास में योग दिया है। इनमें भिन्नता है, पर हम समन्वय करना जानते हैं, इसीलिए कोई टकराव नहीं होती। अंगूठा भी नहीं लड़ता और और अंगुलियां भी नहीं लड़तीं। आवश्यकतावश दोनों सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। लिखना है तो अंगुली मिल जाती है अंगूठे से। कोई कार्य करना है तो दोनों परस्पर मिल जाते हैं।

विरोध प्रकृति में है। विरोध का अर्थ है—भिन्न दिशा में होना। प्रति-पक्ष होना, यह हमारे वस्तु जगत् की प्रकृति है। यह शारीरिक संरचना और सृष्टिसंरचना की प्रकृति है। इस प्रकृति को कभी नहीं बदला जा सकता। बदलने में कोई लाभ भी नहीं होगा। क्या अंगुलियों और अंगूठे को एक कर देने से काम हो पाएगा? विरोध को मिटा दें तो सारी उपयोगिता ही समाप्त हो जाएगी। पांच हैं, इसलिए उनकी उपयोगिता है। एक-एक अंगुली की अपनी उपयोगिता है। पांचों को एक कर द, पिंड बन जाएगा। उससे कोई काम नहीं हो सकेगा। मनुष्य और पशु में यही तो बड़ा अन्तर है। मनुष्य के पास दस अंगुलियां हैं, पशु के पास वे नहीं हैं। इन दस अंगु-

लियों ने ही सब कुछ किया है। व्यक्ति अपने आपको गरीब मानता है, दरिद्र मानता है पर जिसके पास दस अंगुलियां हैं वह गरीब नहीं हो सकता, दरिद्र नहीं हो सकता। दरिद्र वह होता है जिसे अपनी दस अंगुलियों पर भरोसा नहीं होता।

ये दस हैं, इसलिए दिन-प्रतिदिन हम विकास करते जा रहे हैं। आज दस न हों या सबको एक कर दें तो विकास समाप्त हो जाएगा, सारी सुन्दरता मिट जाएगी।

हम यह कभी न सोचें कि सब एक हो जाएं, सारी जातियां एक हो जाएं, सारे धर्म और राष्ट्र एक हो जाएं। यह असम्भव और दुरूह कल्पना होगी और साथ ही साथ यह अनुपयोगी कल्पना भी होगी।

हमारी सुन्दरता भिन्नता में है, नानात्व में है। इसके साथ समन्वय की चेतना विकसित होती है नानात्व बहुत उपयोगी होता है।

प्रश्न होता है कि समन्वय की चेतना का विकास कैसे होता है?

जो व्यक्ति अपने स्वार्थ, मान्यता और असहिष्णुता—इन तीनों वृत्तियों पर शासन करता है, उसमें समन्वय का विकास होता है। जिस व्यक्ति में स्वार्थ की प्रबलता है, जिसमें मान्यता का आग्रह है और जो असहिष्णु है, वह समन्वय की चेतना को जागृत नहीं कर सकता। स्वार्थ का भी समीकरण करना होता है।

पुराने समय में साम्प्रदायिक संघर्ष और जातीयता का संघर्ष—ये दो संघर्ष थे। आज तीसरा संघर्ष और सामने आया है। वह है—वर्ग-संघर्ष। इसका जन्म आज की राजनीति से हुआ है। यह वर्ग-संघर्ष भी तब तक नहीं मिट सकता, जब तक स्वार्थों का समीकरण नहीं होता। आज एक वर्ग के स्वार्थ दूसरे वर्ग के स्वार्थों से टकराते हैं। मिल-मालिकों का स्वार्थ मजदूरों से टकराता है। सम्पन्न व्यक्ति के स्वार्थ गरीब आदमी से टकराते हैं। यह टकराव इसीलिए है कि स्वार्थों का समीकरण नहीं होता।

एक घटना है। कुम्हार के दो लड़कियां थीं। एक किसान के यहां ब्याही थी और दूसरी का विवाह एक कुम्हार के यहां हुआ था। एक दिन पिता पुत्रियों से मिलने गया। किसान के यहां विवाहित बेटी ने कहा—पिताजी! बड़ी मुसीबत है। खेत बो दिए गए हैं। बरसात नहीं आ रही है। आकाश में बादल हैं ही नहीं। सारा श्रम नष्ट हो जाएगा। आप प्रार्थना करें कि बरसात आ जाए। पिता दूसरी बेटी के यहां गया। उसने कहा—पिताजी!

सारे भांड आंवे में पक रहे हैं। कहीं वर्षा आ गई तो सब नष्ट हो जाएंगे। प्रार्थना करती हूं कि वर्षा न आए। आप भी यही प्रार्थना करें।

पिता असमंजस में पड़ गया। उसने सोचा—अब क्या करूं ? एक बेटी कहती है कि मेरे लिए भगवान से प्रार्थना करें कि बरसात आये और एक कहती है, भगवान् से प्रार्थना करें कि बरसात न आए। वह बेचारा किसके लिए क्या प्रार्थना करे। उसने सोचा—ऐसे तो काम नहीं बनेगा। उसने दोनों लड़कियों को बुलाया और कहा—तुम चाहती हो कि वर्षा आए और यह चाहती है कि वर्षा न आए। एक काम करो, तुम दोनों बहनें हो। तुम दोनों के मन में विरोधी विचार नहीं होने चाहिए। एक-दूसरे के प्रति अमंगल की भावना न पनपे। एक उपाय सुझाता हूं, तुम एक काम करो कि वर्षा आ जाये, अच्छी खेती हो तो आधा हिस्सा इस लड़की का होगा। वर्षा न आए और खेती न हो सके और तुम्हारा आंवा ठीक पके तो आधा हिस्सा इस लड़की का होगा। दोनों ने स्वीकार कर लिया। दोनों की एक-दूसरे के प्रति अमंगल की भावना समाप्त हो गई।

स्वार्थों का जहां संघर्ष होता है, स्वार्थों का टकराव होता है, वहां भी समीकरण की बात सम्भव हो सकती है। ऐसा नहीं कि समीकरण न हो सके। किन्तु जब समीकरण नहीं होता, तब स्वार्थ टकराते रहते हैं और झगड़े चलते रहते हैं। इसी प्रकार मान्यताओं का टकराव होता रहता है। वहां भी समीकरण की बात बन सके तो बहुत अच्छा होता है। ऐसा हुआ है। पुराने जमाने में अनेक बार ऐसी स्थितियां आयीं और वहां समीकरण किया गया, बहुत अच्छी स्थिति बन गई।

महाराज जयसिंह और सिद्धराज—ये गुजरात के दो प्रसिद्ध शासक हुए हैं। ये सभन्वयवादी थे। आचार्य हेमचन्द्र उनके गुरुतुल्य थे। एक बार महाराज सिद्धराज शिवमन्दिर में गए। आचार्य हेमचन्द्र साथ थे। वहां किसी व्यक्ति ने कहा कि आचार्य हेमचन्द्र आपके साथ तो हैं पर ये शिव की स्तुति नहीं करते। महाराज ने पूछा—आचार्यवर ! क्या आप शिव की स्तुति कर सकते हैं ? उन्होंने कहा—क्यों नहीं कर सकता। कर सकता हूं। उन्होंने तत्काल महादेव पर चवालीस श्लोक लिखे और प्रथम श्लोक में उन्होंने कहा—

'भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा. हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥'

मुझे नाम से कोई मोह नहीं है। मुझे आकार से कोई मोह नहीं है। जिस आत्मा के भव-बीज के उत्पादक राग-द्वेष समाप्त हो चुके हैं, क्षीण हो चुके हैं, फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन हो, उन सबको मेरा नमस्कार।

बात सारी समन्वय में बदल गई। यह हमारी समन्वय की चेतना जागे। हम भेद में से अभेद को खोज सकें, विरोध में अविरोध को खोज सकें और समन्वय के द्वारा टकराव की स्थिति को टाल सकें, सह-अस्तित्व और समन्वय का विकास कर सकें तो समाज सुन्दर होगा, स्वस्थ होगा और हमारा सामाजिक स्वास्थ्य विकसित होगा। इसके बिना सामाजिक स्वास्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती। जो लोग प्रशासन में जाने वाले हैं, प्रशासन के क्षेत्र में जिन्हें काम करना है। उनके लिए बहुत आवश्यक है कि वे सह-अस्तित्व और समन्वय की चेतना को जागृत करने का अभ्यास करें।

व्यसन-मुक्ति

ध्यान की साधना प्रकाश की साधना है, ज्योति की साधना है। यह जागरण की साधना है। चेतना की दो अवस्थाएं होती हैं—एक है मूर्च्छा की अवस्था और दूसरी है जागरण की अवस्था। मूर्च्छा की अवस्था त्याज्या है और जागरण की अवस्था उपादेय है। जो जागता है, उसका विकास होता है, उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो मूर्च्छित होता है, उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है, बुद्धि और समृद्धि कम होने लग जाती है। इसलिए मनुष्य ने सदा अपने विकास के लिए जागरण का प्रयत्न किया है। उसने चेतना में कुंठा और मूर्च्छा उत्पन्न करने वाली सारी स्थितियों की वर्जना की है।

व्यसन चेतना को मूर्च्छित करने वाली एक अवस्था है। व्यसन का अर्थ है—कष्ट। यह कष्ट का पर्यायवाची शब्द है। जो चित्त की वृत्ति या चैतसिक अवस्था मनुष्य को कष्ट में डाल देती है, उस वृत्ति का नाम भी व्यसन हो जाता है। व्यसन-मुक्ति का आन्दोलन बहुत पुराना है। व्यसन सात हैं। सामाजिक जीवन में उनका परिहार बहुत आवश्यक है।

मादक वस्तु का सेवन एक व्यसन है। जो पदार्थ मादकता पैदा करता है, चेतना को मूर्च्छित करता है, उसका सेवन व्यसन है।

भारत के सभी धर्मों में वर्जनाओं का महत्त्व रहा है। 'यह मत करो', 'वह मत करो'—इन वाक्यों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। मन को भाने वाला सिद्धान्त तो है—सब कुछ करो। जो मन में आए सो करो। सुनने में यह सिद्धान्त अच्छा लगता है, किन्तु यह अनेक जटिलताएं पैदा कर देता है। उन जटिलताओं में समाज जीवित नहीं रह सकता। फिर चोर कहेगा, मन में आया इसलिए चोरी कर ली। समाज की व्यवस्था समाप्त हो जाएगी। यदि वर्जनाएं न हों तो समाज चल ही नहीं सकता। उसमें व्यवस्थाएं नहीं रह सकतीं। 'यह करो', 'यह मत करो'—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं, तब समाज संतुलित रह सकता है। केवल निषेध या केवल विधेय से संतुलन बिगड़ जाता है। आजकल कुछ लोग कहते हैं कि समाज में निषेध नहीं होना चाहिए। सब कुछ विधायक होना चाहिए। यह एकांगी दृष्टिकोण है। निषेध

बहुत आवश्यक होता है । एक दृष्टि से वह विधेयक का पूरक होता है, बाधक नहीं ।

नशा करने की आदत बहुत जटिल होती है । आदमी कह देता है, कभी-कभी तम्बाकू पी ली तो क्या हुआ ? दो-चार घूंट शराब के ले लिये तो क्या हुआ ? ठंडे देशों में शराब पीनी ही पड़ती है । वहां उसकी मात्रा अधिक होती है, किन्तु गर्म देशों में यदि थोड़ी मात्रा में शराब का सेवन किया जाए तो क्या हानि हो सकती है । थोड़ी मात्रा में ली गई शराब स्वास्थ्यप्रद और बीमारी को मिटाने वाली होती है । ये तर्क हैं । प्रत्येक निषेध और विधेय के लिए तर्क दिए जा सकते हैं । किन्तु तर्क का रास्ता सही नहीं है । एक तर्क होता है । दूसरा उसका प्रतितर्क हो सकता है । तर्क हो और प्रतितर्क न हो, यह कभी सम्भव नहीं होता । प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना तर्क होता है । तर्क के आधार पर मैं यदि किसी बात का प्रतिपादन करता हूं तो मुझे यह भी मान लेना चाहिए कि मेरे तर्क का खंडन भी हो सकता है । दुनिया में एक भी तर्क ऐसा नहीं है जिसका खंडन न हो । आज तक जितने तर्कशास्त्री हुए हैं उन्होंने अपने तर्क प्रस्तुत किए । शताब्दियों के बाद कोई ऐसा व्यक्ति जन्मा जिसने उन पुराने सभी तर्कों का खंडन कर दिया । तर्कशास्त्र का इतिहास इसका साक्षी है । कोई महान् तार्किक होता है और वह अपने तर्क-बल से सारे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है । दो-चार शताब्दियों के बाद कोई दूसरा तार्किक होता है और वह उन तर्कों का खण्डन कर अपने तर्क प्रस्तुत करता है । फिर उन तर्कों का खंडन करने वाला भी मिल जाता है । यह तर्क जगत् का निश्चित क्रम है । कोई इसका अपवाद नहीं होता ।

मैं केवल तर्क के आधार पर यह नहीं कह रहा हूं कि व्यसन हमारे लिए बुरे हैं, किन्तु दूसरे कुछेक पहलू हैं जिनसे उनकी व्यर्थता सिद्ध होती है ।

पहली बात है, मादक वस्तुओं के सेवन से शारीरिक हानि होती है, स्वास्थ्य बिगड़ता है । यह तथ्य डॉक्टरों द्वारा स्थापित हो चुका है । वे अनेक माध्यमों से इसका प्रचार करते हैं । सिगरेट के प्रत्येक पैकेट पर लिखा होता है—'तम्बाकू पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है ।' शराब भी हानिकारक है । पर आदमी इतना जान लेने पर भी उसे छोड़ना नहीं चाहता या कहा जा सकता है कि उससे वे चीजें छूटतीं नहीं ।

प्रश्न होता है कि आदमी बुराई क्यों करता है ? बुरा क्यों बनता है ? एक संस्कृत कवि ने आदमी के बुरे बनने के चार कारण निर्दिष्ट किए हैं—

'केचिदज्ञानतो नष्टाः, केचिद् नष्टाः प्रमादतः ।
केचिज्ज्ञानावलेपेन, केचिद् नष्टैश्च नाशिताः ॥'

बुरे बनने के चार कारण हैं—

१. अज्ञान ।

२. प्रमाद ।

३. ज्ञान का अहं ।

४. बुरे की संगत ।

कुछ व्यक्ति अज्ञान के कारण बुराई में फंस जाते हैं, व्यसन में फंस जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं। वे अज्ञानी हैं। बरबादी का दूसरा कारण है प्रमाद। कुछ लोग बुराई को बुराई जानते हैं पर उसका आचरण करते जाते हैं। एक भाई सिगरेट पीता था। उसका स्वास्थ्य गड़बड़ा गया। उसके मित्रों ने कहा—तुम सिगरेट पीना छोड़ दो। तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ता जा है। उसने कहा—क्या मैं नादान हूं ? क्या मैं नहीं जानता ? मैं ग्रेजुएट हूं, मूर्ख नहीं हूं। मैं जानता हूं कि स्वास्थ्य खराब होता है, पर मैं इसे छोड़ूंगा नहीं। यह सारा प्रमाद के कारण होता है। लोग जानते हुए भी बुराई को पकड़े रहते हैं।

कुछ लोग ज्ञान के अहं के कारण बिगड़ जाते हैं। उनमें ज्ञान का अहं इतना तीव्र होता है कि वे दूसरे की बात सुनते ही नहीं। वे सोचते हैं—हमें कौन क्या समझाए ? क्या हम दूसरों से कम जानते हैं ? वैसे लोग अपने ही अहं के कारण बुराई में पड़े रहते हैं और नष्ट हो जाते हैं।

नष्ट होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है—नष्टैश्च नाशिताः—बुरे व्यक्तियों की संगत। कुछ लोग स्वयं बुराई में फंसे रहते हैं और चाहते रहते हैं कि दूसरे भी उनका अनुकरण करें, उस बुराई को सीखें और अपनाएं। जब कोई व्यक्ति शराबी की संगति करता है तो शराबी कहता है—अरे, दो घूंट शराब पीने में नुकसान ही क्या है ? देखो तो सही, चखोगे तब जानोगे कि क्या मजा है शराब में। लोग व्यर्थ ही इसे बुरी मानते हैं, शराब पीना व्यसन बतलाते हैं। आज के समाज में जीने वाला व्यक्ति, आज की सभ्यता और मित्रमंडली में रहने वाला व्यक्ति मदिरा से कैसे बच सकता है ? शराब में न फंसने वाला व्यक्ति भी इन तर्कों से फंस जाता है और धीरे-धीरे शराब की आदत को पाल लेता है।

यह नष्ट होने का महत्त्वपूर्ण कारण है। जो बिगड़ चुके हैं वे चाहते हैं

कि उनका बहुमत हो, दूसरे भी बिगड़ें और उनका अनुसरण करें।

आदमी के बिगड़ने के ये चार कारण हैं। कुछ लोग व्यसनों में फंसना नहीं चाहते, पर इन कारणों से फंस जाते हैं और फिर उनके लिए वहां से निकलना कठिन हो जाता है।

अभी-अभी हमने आचार्यश्री तुलसी के साथ दक्षिण-यात्रा की। हम तमिलनाडु में गए। प्रदेश सुन्दर और मनोहारी है। उपज भी बहुत है, पर लोग बहुत गरीब हैं। हमने ऐसे सुन्दर और उपजाऊ प्रदेश में पलने वाली गरीबी का कारण ढूंढ़ा। हमें ज्ञात हुआ कि वहां के लोग बचाना जानते ही नहीं। एक दृष्टि से वे असंग्रही हैं। जो कुछ कमाते हैं, उसे उसी दिन खर्च कर डालते हैं। उनका पूरा पैसा शराब पीने और सिनेमा देखने में खर्च हो जाता है। प्रातः फिर वही हालत रहती है। छोटे-छोटे गांवों में शराब की दुकानें और सिनेमागृह मिलते हैं। सारा पैसा इन्हीं में फूंक दिया जाता है। उनके घरों की हालत बड़ी खराब रहती है। स्त्रियां परेशान और बच्चे भूखे। फिर भी उन आदमियों की यह लत नहीं छूटती।

अभी-अभी वहां की महिलाओं ने संगठित रूप से सरकार को आवेदन-पत्र दिया था और उसमें मांग की थी कि उनके पतियों को शराब और सिनेमा के शिकंजे से छुड़ाया जाए। उनकी आर्थिक विपन्नता के ये दो कारण हैं। पुरुष नहीं जान पाता कि घर-गृहस्थी को चलाने में स्त्रियों को कितनी कठिनाइयां भुगतनी पड़ती हैं।

भारत गरीब देश है। यहां पैदावार कम और आनुपातिक गरीबी है। अनुपात में आय बहुत कम है। ऐसी स्थिति में इन व्यसनों के सेवन में यदि धन खर्च होता है तो बहुत बड़ी आर्थिक हानि होती है।

वृत्तियां दो प्रकार की होती हैं। एक है मौलिक मनोवृत्ति और दूसरी है अर्जित वृत्ति। आदत मौलिक नहीं होती। वह अर्जित होती है। कोई भी आदमी जन्म से शराबी या जुआरी नहीं होता। ये आदतें धीरे-धीरे अर्जित होती हैं। वे आदमी को पकड़ लेती हैं। एक शराबी से पूछा गया—तुम शराब पीते हो? उसने उत्तर दिया—पहले तो मैं शराब पीता था, अब शराब मुझे पीती है। यह यथार्थ है। आदमी शराब पीता है, तम्बाकू पीता है। जब वह यह जान जाता है कि शराब और तम्बाकू हानिकारक तत्त्व हैं, तब वह उन्हें छोड़ने का संकल्प करता है। पर समय आने पर सारी आंतें टूटने लगती हैं, नसें फटने लगती हैं और वह शराब भी पी लेता है। अब

शराब स्नायविक मांग बन जाती है। समय आते ही स्नायु शराब की मांग करते हैं और तब आदमी को शराब पीनी ही पड़ती है। उसका संकल्प ढीला बन जाता है। तब उसका यह कथन यथार्थ की तुलना में तुलता है—पहले मैं शराब पीता था, अब शराब मुझे पी रही है। प्रत्येक आदत का एक नियम होता है। प्रारम्भ में आदमी शौकियाना उस वस्तु का सेवन करता है। दो-दस बार उसका सेवन करता है और वह वस्तु उसको पकड़ लेती है। एक संस्कृत कवि ने इसी भावना को बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है—

करोत्यादौ किञ्चित् सघृणहृदयस्तावदशुभं,
द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं प्रकुरुते।
तृतीयं निःशंको विगतघृणमन्यत् प्रकुरुते,
ततः पापाभ्यासात् सततमशुभेसु प्रमते॥

आदमी जब किसी अशुभ कार्य में या बुरी आदत में प्रवृत्त होता है तब उसके मन में प्रारम्भ में घृणा होती है। वह उस कार्य को करना नहीं चाहता, पर वह वैसे ही उसे कर डालता है। दो-तीन बार करने के पश्चात् वह आदत स्नायुगत हो जाती है और फिर उसे वह सतत करनी पड़ती है। उससे छुटकारा तब सरल नहीं होता।

आदमी की बहुत सारी आदतें स्नायुगत होती हैं। पहली बार जब कोई भी व्यक्ति सीढ़ियों पर चढ़ता है, तब बहुत सावधानी बरतता है। उन्हीं सीढ़ियों से दो-चार बार उतरने-चढ़ने के पश्चात् उतनी सावधानी अपेक्षित नहीं होती। पर अपने आप चढ़ते-उतरते हैं। यह स्नायुगत अभ्यास है।

नशे की आदत भी स्नायुगत हो जाती है। उसे छोड़ना तब सरल नहीं होता। क्या शराब पीने वाला या तम्बाकू पीने वाला नहीं जानता कि इन वस्तुओं के सेवन से उसका स्वास्थ्य बिगड़ता है, आर्थिक हानि उठानी पड़ती है? वह यह जानता है। अच्छी तरह से जानता है और उन्हें छोड़ना भी चाहता है, पर वह छोड़ नहीं सकता, क्योंकि वे स्नायविक मांग बन चुकी होती हैं।

हमने पढ़ा कि अमेरिका में सैनिकों को ध्यान का प्रयोग कराया जा रहा है। उसका कारण यह है कि उनमें शराब की आदत बहुत बढ़ गई है। उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। सरकार चिन्तित है। उनमें अपराध बढ़ रहे हैं। जब चेतना जागृत होती है तब अपराध कम होते हैं। ध्यान चेतना-जागृति

का सशक्त माध्यम है। जब चेतना में मूर्च्छा होती है तब अपराध की मनोवृत्ति बढ़ती है। इस स्थिति में अपराधों को नहीं रोका जा सकता। मूर्च्छा हो और अपराध न हो, यह कभी संभव नहीं है। भारत में, अपेक्षाकृत आज भी कम अपराध है। अभी यह देश विकासशील है, विकसित नहीं। विकसित देशों में अपराध बहुत होते है। प्रश्न होता है, विकसित देशों में इतने अपराध क्यों ? आदमी में इतना पागलपन क्यों ? एक विद्यार्थी ने अपने दस साथी विद्यार्थियों को भून डाला, उन्हें गोली से मार डाला। पुलिस ने कारण पूछा। उसने कहा—मेरे मन में प्रसिद्ध होने की भावना जागी और मैंने यह कार्य कर डाला। पत्र-पत्रिकाओं में लाल सुर्खियों में मेरा नाम छपने का इससे अच्छा उपाय और क्या हो सकता था ? इस हत्याकांड के पीछे यही भावना काम कर रही थी।

बड़ी विचित्र मनःस्थिति होती है आदमी की। उसकी मनोवृत्ति ऐसी बन जाती है कि सारी विवेक-चेतना नष्ट हो जाती है, लुप्त हो जाती है। मूर्च्छा जैसे-जैसे बढ़ती है, अपराध की मनोवृत्ति भी वैसे-वैसे विकसित होती जाती है। क्या विकसित राष्ट्रों में बौद्धिकता की कमी है ? वे राष्ट्र बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टि से सबसे आगे हैं। उनमें टेक्नोलॉजी का प्रचुर विकास है। आर्थिक दृष्टि से वे सम्पन्न हैं। भौतिक विकास की दृष्टि से वे चरम शिखर को चूम रहे हैं। उन देशों में अपराध बढ़ रहे हैं। आदमी का पागलपन बढ़ रहा है। इसका मूल कारण है—मूर्च्छा और मादक वस्तुओं का सेवन।

आज के विद्यार्थी भी मादक वस्तुओं के सेवन में किसी से पीछे नहीं हैं। विश्वविद्यालयों के परिसर इनसे मुक्त नहीं हैं। जब पाश्चात्य देशों के विद्यार्थी ऐसा करते हैं तब भारतीय विद्यार्थी को ऐसा करना ही होता है। ऐसा करने में वह गौरव का अनुभव करता है।

हम इस सूत्र को विस्मृत न करें कि मूर्च्छा और अपराध दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। आचार्यों और समाजशास्त्रियों ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि जीवन व्यसन-मुक्त होना चाहिए। आदमी को मदिरा से बचना चाहिए। मदिरा का पहला प्रभाव यह होता है कि आदमी की चेतना भ्रष्ट हो जाती है, चेतना विलुप्त हो जाती है।

एक शराबी सड़क के किनारे खड़ा था। वह नशे में धुत था। पुलिस ने पूछा—यहां क्यों खड़े हो ? उसने कहा—मेरे सामने सारा नगर घूम रहा है। ज्योंही मेरा घर आएगा, मैं घर में घुस जाऊंगा। घर की प्रतीक्षा में खड़ा हूं।

जहां चेतना लुप्त होती है, वहां सब कुछ लुप्त हो जाता है। शेष कुछ भी नहीं बचता। मदिरापान के समर्थन में अनेक तर्क दिए जा सकते हैं। उसके खंडन में भी अनेक तर्क दिए जा सकते हैं। तर्कों के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। अनुभव कहता है कि चेतना निरन्तर जागृत रहनी चाहिए। उसका कभी भी मूर्च्छित होना वांछनीय नहीं है। मादक वस्तुएं चेतना को मूर्च्छित करती है। इसके आधार पर व्यसन-मुक्ति की प्रयोजनीयता को समझा जा सकता।

केवल जानना ही पर्याप्त नहीं होता। बुराई को बुराई जानने वाला भी उससे छुटकारा नहीं पा सकता। उसको छोड़ने के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है।

घर में चोर घुस गए। पत्नी ने जान लिया, देख लिया। वह पति से बोली—चोर घर में घुस आए हैं। सेठ ने कहा—जानता हूं। पत्नी चुप हो गई। चोर कमरे में घुसे। पत्नी ने पति से कहा—चोर कमरे में घुसकर तिजोरी खोल रहे हैं। पति बोला—जान रहा हूं। पत्नी चुप हो गई। चोर कीमती सामान लेकर चलने लगे। पत्नी ने पति को जानकारी दी। पति बोला—जानता हूं, चुप रह। बार-बार क्यों कह रही है? वह कहता रहा और चोर सारा सामान लेकर चले गए।

किसी को कहा जाए कि यह बुराई है, ऐसा मत करो। वह तत्काल कहता है—'तुम क्या बताते हो? मैं स्वयं जानता हूं।' जानते-जानते सारा जीवन बीत जाता है। सार कुछ नहीं होता। मानने और जानने का चक्र चलता रहता है। आदमी बुराइयों को संरक्षण देता चला जाता है। वह कभी उनसे बच नहीं सकता। बुराइयों से बचने का एकमात्र उपाय है अपना अनुभव और अपना अभ्यास। ध्यान की प्रक्रिया केवल बुराई का ज्ञान कराने की प्रक्रिया नहीं है। यह आंतरिक प्रक्रिया है। यह चेतना के सहज परिवर्तन की प्रक्रिया है। ध्यान का सबसे बड़ा लाभ है—चेतना का जागरण। जैसे-जैसे चेतना का का जागरण होगा, वैसे-वैसे मूर्च्छा लाने वाली सारी बातों के प्रति अपने आप अरुचि होने लग जाएगी। शराब पीने वाले को शराब से और तम्बाकू पीने वाले को तम्बाकू से दुर्गन्ध आने लग जाएगी। यह गन्ध कहां से आती है? जैसे ही भीतर की चेतना जागती है तब मूर्च्छित चेतना जिस बात को स्वीकारती है, जागृत चेतना उस बात को नहीं स्वीकारती। यही तो यथार्थ परिवर्तन है।

एक होता है आरोपण और एक होता है रूपान्तरण। पिता पुत्र पर यह बात थोप देता है कि तुम्हें शराब नहीं पीनी है, तम्बाकू नहीं पीनी है। यह है आरोपण। आरोपण रूपान्तरण नहीं होता। पुत्र पिता के समक्ष वह काम नहीं करेगा। वह सिगरेट नहीं पीएगा, मदिरा नहीं पीएगा। वह नहीं पीने का प्रदर्शन करेगा, पर वह बात छूटेगी नहीं। वह छिप-छिपकर उनका सेवन करेगा। जैसे ही एकान्त मिला, कोई देखने वाला नहीं होगा, तब वह वैसा आचरण करेगा, जिसका निषेध कर दिया गया है, आरोपण कर दिया गया है। निषेध की बात का आरोपण होता है। वह थोपी हुई बात होती है। कानून की मर्यादा आरोपण है, वह रूपान्तरण नहीं है। चेतना की मर्यादा रूपान्तरण है, वह आरोपण नहीं है। यही तो अन्तर है कानून की मर्यादा और चेतना की मर्यादा में। कानून की मर्यादा समूह की मर्यादा है। आदमी किसी के सामने वैसा आचरण नहीं करेगा जो कानून मे निषिद्ध है। वह बुराई समाज के सामने नहीं करेगा, किन्तु वह एकान्त में उसे कर लेगा। क्योंकि यह आरोपित मर्यादा है, आरोपित वर्जना है, चेतना की मर्यादा नहीं है, चेतना की वर्जना नहीं है। चेतना की मर्यादा में एकान्त या समूह, देखते हुए या छिपकर करने की बात ही समाप्त हो जाती है। फिर प्रकाश में न करने और अंधकार में करने, अकेले में करने और समूह में न करने की बात समाप्त हो जाती है। वह जिसे नहीं करना है, कभी नहीं करेगा और इसलिए नहीं करेगा कि उसकी न करने की मर्यादा आरोपित नहीं है, चेतना के द्वारा स्वीकृत है। यह तर्क से समर्थित नहीं, किन्तु चैतन्य जागरण से समर्थित है। चेतना का रूपान्तरण ध्यान द्वारा घटित होता है। यह दो-चार-दस दिनों में घटित होने वाला रूपान्तरण नहीं है। इसके लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं—श्रद्धा, दीर्घकाल और सातत्य।

सबसे पहली बात है श्रद्धा। जो प्रक्रिया हम करना चाहते हैं, उसके प्रति श्रद्धा का भाव पैदा हो, आकर्षण हो और हमें यह महसूस हो कि यह प्रक्रिया रूपान्तरण के लिए आवश्यक है। जब तक आवश्यकता का अनुभव नहीं होगा, तब तक सफलता नहीं मिलेगी। जैसे जीवन-यात्रा के लिए रोटी खाना आवश्यक है, पानी पीना आवश्यक है, वैसे ही मानसिक यात्रा को चलाने के लिए चैतसिक यात्रा को चलाने के लिए संकल्पशक्ति और निर्विकल्पता का विकास जरूरी है। यह श्रद्धा पैदा हो।

दूसरी बात है—दीर्घकालिता। अभ्यास लम्बे समय तक चले। कोई भी

सफलता दस-बीस दिनों में नहीं मिल जाती। लम्बे समय के अभ्यास के बाद वह हस्तगत होती है।

तीसरी बात है—सातत्य। आदमी लम्बे समय तक एक प्रक्रिया का अभ्यास करता है। किन्तु वह निरन्तर वैसा नहीं करता। आज करता है, दो-चार दिन करता है, फिर दस दिन छोड़ देता है। फिर प्रारम्भ करता है, दो-चार दिन करता है, फिर पांच दिन नहीं करता। ऐसा करने वाला कभी सफल नहीं होता। अभ्यास निरन्तर होना चाहिए, अन्यथा लाभ स्थायी नहीं होगा।

श्रद्धा, दीर्घकालिता और सातत्य—ये तीन तथ्य अनिवार्य हैं पुरानी आदत को बदलने के लिए और नयी आदत का निर्माण करने के लिए। इन तीनों के अभाव में न पुरानी आदत बदलती है और न नयी आदत का निर्माण होता है।

व्यसन-मुक्ति भी तभी संभव है जब ध्यान में रस आने लगे। रस रस होता है। जब एकाग्रता के रस की अनुभूति होती है तब दूसरे सारे रस फीके पड़ जाते हैं।

ध्यान और पदार्थ—ये दो हैं। ध्यान है चेतना के जागरण का बिन्दु और पदार्थ है चेतना के उपयोग का बिन्दु। दोनों की प्रकृति में अन्तर है। एक संस्कृत कवि ने रूपक की भाषा में कहा है—ईख ! तू सुन्दर है, सरस और मधुर है। तेरे में और भी अनेक विशेषताएं हैं, पर एक कमी है। वह यह कि जैसे-जैसे तेरा सेवन किया जाता है, वैसे-वैसे तू नीरस बनता जाता है।

ईख को चूसने वाले जानते हैं कि प्रारम्भ में वह बहुत मधुर होता है, और चूसते-चूसते छिलका रह जाता है, नीरस रह जाता है। यह सरसता से नीरसता का एक उदाहरण है।

प्रत्येक पदार्थ की यही प्रकृति है। भोग की यही प्रकृति है। इसका अतिक्रमण नहीं होता। यह है पदार्थ की प्रकृति।

दूसरी है—चेतना की प्रकृति। वह इससे भिन्न है। प्रारम्भ में उसका सेवन नीरस लगता है, किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता है, सरसता आती जाती है। जब दीर्घकाल तक निरन्तर उसका सेवन चलता है, ध्यान चलता है, तब उसमें और अधिक सरसता आ जाती है और आदमी उस स्थिति में सब कुछ छोड़ सकता है, किन्तु जागरण की प्रक्रिया को नहीं छोड़ सकता।

पदार्थ की और चेतना की प्रकृति सर्वथा भिन्न होती है। ध्यान-प्रक्रिया के

पहले दिन के अभ्यास में जितनी नीरसता लगती है, दस दिन के अभ्यास-काल के बाद नहीं लगती। पहले दिन जो दूरी होती है ध्यान के साथ उनकी वह दस दिन के पश्चात् इतनी दूरी नहीं होती। जो ध्यान के अभ्यास से गुजरते हैं, उनको ऐसा अवश्य ही अनुभव होता है।

व्यसन-मुक्ति ध्यान की एक फलश्रुति है। व्यसन इसलिए बुरा है कि उसके द्वारा चेतना का विलोप होता है, चेतना का भ्रंश होता है, जागरूकता कम होती है, मूर्च्छा बढ़ती है। ध्यान की प्रक्रिया से चेतना जागती है, मूर्च्छा कम होती है और एकाग्रता का विकास होता है। ध्यान ही एक ऐसा माध्यम है जिससे आदतों का रूपान्तरण सम्भव है, वर्जनाओं से वह कभी संभव नहीं है।

रचनात्मक दृष्टिकोण

स्वस्थ और रुग्ण

सामाजिक स्वास्थ्य का छठा सूत्र है—रचनात्मक दृष्टिकोण।

व्यक्ति स्वस्थ भी होता है और रुग्ण भी। स्वास्थ्य की परीक्षा तीन दृष्टियों से की जाती है—शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से और भावनात्मक दृष्टि से। आदमी शरीर की दृष्टि से स्वस्थ होता है, रुग्ण होता है, मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है, रुग्ण होता है, भावनात्मक दृष्टि से स्वस्थ होता है, रुग्ण होता है।

इसी प्रकार समाज स्वस्थ भी होता है और रुग्ण भी होता है। जब समाज का दृष्टिकोण सही नहीं होता तब समाज रुग्ण हो जाता है और जब समाज का दृष्टिकोण सही होता है तब वह स्वस्थ हो जाता है। दृष्टि और आचार-व्यवहार दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। आदमी का आचार-व्यवहार वैसा ही होगा जैसा उसका दृष्टिकोण होगा। पहले दृष्टि बनती है, फिर आचार-व्यवहार होता है। मिथ्या दृष्टिकोण वाला समाज रुग्ण होता है और सम्यक् दृष्टिकोण वाला समाज स्वस्थ होता है। रचनात्मक दृष्टिकोण समाज के स्वास्थ्य का लक्षण है।

रचनात्मक दृष्टिकोण क्या है ?

प्रश्न है कि रचनात्मक दृष्टिकोण किसे कहा जाए ? जो दृष्टिकोण स्वार्थ-प्रधान होता है वह रचनात्मक नहीं होता, ध्वंसात्मक होता है। स्वार्थ का संयम किए बिना दृष्टिकोण रचनात्मक नहीं हो सकता। जिस समाज में स्वार्थ को संयमित करने की क्षमता होती है, उसका दृष्टिकोण रचनात्मक होता है। बहुत सारे लोग केवल अपने विषय में ही सोचते हैं। जहां स्वयं का स्वार्थ प्रधान बनता है, वहां समाज गौण हो जाता है। यह समाज की रुग्णता का एक चिह्न है।

स्वार्थप्रधान दृष्टिकोण

एक आदमी जंगल में पेड़ काट रहा था। उसे वहां एक कुल्हाड़ी मिली। उसने सोचा—यह कुल्हाड़ी मुझे मिली है। यह मेरी है। दूसरा साथी उसके

पास ही काम कर रहा था। वह बोला—यह मत कहो कि कुल्हाड़ी मुझे मिली है। मैं भी तो तुम्हारा साथी हूं। तुम्हारे साथ काम कर रहा हूं। यह कहो—कुल्हाड़ी हमें मिली है। वे इस प्रकार आपस में बातें कर रहे थे। इतने में ही थोड़ी दूरी पर कुल्हाड़ी का मालिक, जो वहीं काम कर रहा था, वह बोला—यह कुल्हाड़ी मेरी है। अब जिसने पहले कुल्हाड़ी को देखा था, उसने अपने साथी से कहा—'अरे, कुल्हाड़ी का मालिक आ गया। हम तो अब पकड़े गये।'

यह सुनकर साथी बोला—'कुल्हाड़ी तुम्हें मिली है, इसलिए यह मत कहो—हम पकड़े गये। यह कहो—मैं पकड़ा गया।'

दृष्टि का कितना बड़ा अन्तर ? जहां वस्तु को लेने की बात आती है, वहां कहा जाता है—कुल्हाड़ी हमें मिली है और जहां पकड़े जाने की नौबत आती है, वहां कहना पड़ता है—मैं पकड़ा गया।

स्वार्थप्रधान दृष्टिकोण से समाज बहुत बीमार होता है। यह सामाजिक बीमारी का सबसे बड़ा कारण है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए सोचता है। वह यह नहीं सोचता कि उस चिन्तन से समाज का क्या होगा ? जब समाज बीमार होगा तब क्या व्यक्ति उस बीमारी से प्रभावित हुए बिना रह सकेगा ? यह कभी संभव नहीं है। व्यक्ति और समाज अलग-अलग नहीं हैं। समाज का घटक है व्यक्ति। व्यक्ति इकाई है और समाज उन इकाइयों का समूह।

व्यक्ति बीमार होगा तो समाज बीमार होगा। समाज बीमार होगा तो व्यक्ति बीमार होगा। ऐसी कोई भी खिड़की नहीं है कि उसे बन्द कर देने पर बाहर की दुर्गन्ध न आए। हवा नहीं आएगी तो दम घुटने लगेगा। एक की बीमारी का परिणाम सारे समाज को भुगतना पड़ता है। आदमी इस तथ्य को नकारता जा रहा है, इसीलिए समाज बीमार से बीमार होता चला जा रहा है।

स्वार्थ-संयम

रचनात्मक दृष्टिकोण का पहला सूत्र है—स्वार्थ-संयम की क्षमता। व्यक्ति में स्वार्थ नहीं होता, यह नहीं मानना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ को कभी छुड़ाया नहीं जा सकता। यह मनुष्य की प्रकृति है। किन्तु स्वार्थ-संयम की क्षमता का विकास किया जा सकता है। एक सीमा तक स्वार्थ मान्य हो हो सकता है, किन्तु स्वार्थ इतना असीम न बन जाए कि व्यक्ति सब कुछ

स्वार्थ के लिए ही करे। यह असीम स्वार्थ समाज के लिए खतरनाक होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति-व्यक्ति में स्वार्थ पर नियमन करने की क्षमता जागे।

कर्त्तव्य बोध

रचनात्मक दृष्टिकोण का दूसरा सूत्र है—कर्त्तव्य-बोध। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का बोध होना चाहिए। जिस समाज में कर्त्तव्य-बोध नहीं होता, वहां ध्वंस शुरू हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्तव्य होता है, दायित्व होता है। जहां कर्त्तव्य-बोध और दायित्व-बोध होता है, वह समाज स्वस्थ होता है। जब कर्त्तव्य और दायित्व की चेतना लुप्त हो जाती है तब समाज रुग्ण हो जाता है।

तालाब भरा, पानी से या दूध से

एक राजा के मन में यह कल्पना जागी कि उसे नागरिकों की परीक्षा कर यह जान लेना है कि उनमें कर्त्तव्य-बोध की चेतना जागृत है या नहीं? वे केवल आदेश और नियन्त्रण का ही पालन करते हैं या उनमें कर्त्तव्य और दायित्व की चेतना भी विकसित है? यह शाश्वत प्रश्न है। हर शासक के सामने यह प्रश्न रहा है। प्रजा में यदि कोरे नियन्त्रण का ही भय रहता है तो समाज कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। जो शासन के सूत्रधार होते हैं, वे सदा यह सोचते रहते हैं कि जनता में आन्तरिक चेतना भी जागे। कर्त्तव्य और दायित्व की चेतना भी जागे। शासक यह अनुभव करता है कि केवल डंडे के बल पर ही समाज को सम्यक् रूप से नहीं चलाया जा सकता।

राजा ने परीक्षा के विषय में मंत्री से परामर्श किया। एक उपाय ढूंढ़ निकाला। दूसरे दिन सारे शहर में यह घोषणा करवा दी गई—'शहर में जितने भी स्त्री-पुरुष हैं, आज रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने से पूर्व, नव-निर्मित तालाब में एक लोटा दूध का डालें। वहां कोई निरीक्षक नहीं रहेगा, देखने वाला नहीं रहेगा। यह आत्मानुशासन का परीक्षण है। सब कर्त्तव्य का अनुभव करें और एक-एक लोटा दूध तालाब में डालें।'

सबने घोषणा सुनी। एक आदमी के मन में यह विकल्प आया—शहर में हजारों स्त्री-पुरुष हैं। सब दूध डालेंगे। यदि मैं एक लोटा पानी डाल दूंगा तो क्या अन्तर आएगा, कौन देखेगा? वह पानी से भरा लोटा लेकर चला और तालाब में डाल आया। जब एक के मन में यह विकल्प उठ सकता है तो दूसरे के मन में क्यों नहीं उठेगा? अवश्य उठ सकता है। दूसरे आदमी ने

सोचा, तीसरे और चौथे ने भी यही सोचा। तालाब भर गया। हजारों लोटे उसमें उंडेले गए।

प्रातःकाल हुआ। राजा के मन में एक कल्पना थी कि सर्वत्र पानी का तालाब होता है, पर मेरे राज्य में, नगर में, दूध का तालाब होगा। यह इतिहास की एक विचित्र घटना होगी।

राजा उल्लास भरे हृदय से स्थान पर गया। मंत्रीगण भी साथ थे। दूध से भरे तालाब को देखने के लिए सब लालायित थे। राजा ने देखा, तालाब लबालब भरा है—दूध से नहीं, पानी से। राजा ने मंत्री से पूछा—यह क्या? क्या आदेश नहीं सुनाया गया? मंत्री बोला—आदेश सबने सुना है, आदेश का पालन सबने किया है। दूध के बदले पानी से तालाब भर गया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि हम अपने नागरिकों में कर्त्तव्य-बोध की चेतना नहीं जगा पाए और जहां कर्त्तव्य-बोध की चेतना नहीं जागती वहां ऐसा ही होता है, दूध के बदले पानी से तालाब भर जाता है।

कर्त्तव्य और दायित्व का बोध

सामाजिक स्वास्थ्य के लिए बहुत जरूरी होता है कर्त्तव्य-बोध और दायित्व-बोध, कर्त्तव्य की चेतना का जागरण और दायित्व की चेतना का जागरण। आखिर दण्ड और यंत्रणा से कब तक कार्य चलेगा? क्या पूरे जीवन-काल तक आदमी नियंत्रण से रहेगा? क्या यह भय निरन्तर सिर पर सवार ही रहेगा? भयभीत समाज सदा रोगग्रस्त रहता है, वह कभी स्वस्थ हो नहीं सकता। भय सबसे बड़ी बीमारी है। भय तब होता है जब दायित्व और कर्त्तव्य की चेतना नहीं जागती। जिस समाज में कर्त्तव्य और दायित्व की चेतना जाग जाती है, उसे डरने की जरूरत नहीं होती।

अर्जन के साथ विसर्जन

रचनात्मक दृष्टिकोण का तीसरा सूत्र है—अर्जन के साथ-साथ विसर्जन भी हो। आज की बीमारी का बहुत बड़ा लक्षण है—अर्जन और संग्रह। आदमी अर्जन और संग्रह में ज्यादा रस लेता है। आदमी चाहता है कि संग्रह का अधिक से अधिक उपयोग अपने ही लिए हो। संग्रह का भोग सबके लिए न हो। यह बीमारी का मूल है। जब तक अर्जन के साथ विसर्जन की बात नहीं जुड़ जाती तब तक समाज स्वस्थ नहीं बन सकता।

आदमी प्रकृति की ओर ध्यान दे। आदमी खाता है साथ-साथ विसर्जन भी करता है। यदि आदमी खाता ही चला जाए, शौच न करे तो दो दिन में

बीमार हो जाता है। बड़ी मुसीबत होती है जब आदमी केवल लेता है, छोड़ता नहीं। जब लेने और छोड़ने का चक्र बराबर चलता है तब सब कुछ ठीक होता है, अन्यथा गड़बड़ी पैदा हो जाती है। प्रवाह स्वच्छ रहता है क्योंकि पानी आता है और आगे सरक जाता है। यह क्रम चलता रहता है। गढ़े में पानी इकट्ठा हो जाता है, उसमें आता ही आता है, उससे निकलता नहीं, तब पानी गंदला बन जाता है।

आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि अर्जन के साथ विसर्जन की बात जुड़ी हुई नहीं है। इसीलिए ध्वंसात्मक भावनाएं, हिंसा की प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं। जब हिंसात्मक घटनाएं और क्रांतियां घटित होती हैं तब सारा वातावरण विक्षुब्ध हो जाता है। यह मूल नहीं है। यह चिंता की बात नहीं है। यह तो लक्षण है। कोई भी हिंसात्मक प्रवृत्ति होती है, यह सामाजिक अस्वास्थ्य का लक्षण है। डकैतियां, चोरियां होती हैं, ये भी सामाजिक अस्वास्थ्य का लक्षण हैं, परिणाम हैं। आदमी परिणाम की चिंता करता है, परिणाम को मिटाना चाहता है, कारण की चिंता नहीं करता। इसीलिए अस्वास्थ्य नहीं मिटता। मूल कारण की खोज होनी चाहिए।

आज का समाज अर्जन-प्रधान और संग्रह-प्रधान बन गया। उसने विसर्जन और असंग्रह की बात भुला दी। केवल धनवान ही विसर्जन करे, यह बात नहीं है। सबमें विसर्जन की भावना जागनी चाहिए। अर्जन के अनुपात से विसर्जन होता है, तब रचनात्मक दृष्टिकोण आगे बढ़ता है। अधिक आय, अधिक विसर्जन। थोड़ी आय, थोड़ा विसर्जन।

रचनात्मक दृष्टिकोण के तीन सूत्र हैं—

१. स्वार्थ-संयम की क्षमता।

२. कर्त्तव्य-बोध और दायित्व-बोध का जागरण।

३. अर्जन के साथ विसर्जन की संयुति।

इन तीन सूत्रों के द्वारा हम सामाजिक स्वास्थ्य का अनुमापन कर सकते हैं। जिस समाज में ये तीन सूत्र प्रचलित हैं वह समाज स्वस्थ है, रचनात्मक हैं। जिसमें ये तीन सूत्र प्रचलित नहीं हैं, वह समाज रुग्ण है, ध्वंसात्मक है।

रचनात्मक दृष्टिकोण की उपलब्धियां

रचनात्मक दृष्टिकोण की अनेक उपलब्धियां हैं। जब समाज का दृष्टिकोण रचनात्मक नहीं होता तब वह इन उपलब्धियों से वंचित रह जाता है। आज का समाज उसका शिकार है। रचनात्मक दृष्टिकोण की पांच उपलब्धियां

हैं—

१. मानसिक शान्ति
२. समस्या-मुक्ति
३. अनासक्ति
४. करुणा
५. सत्यनिष्ठा

रचनात्मक दृष्टिकोण वाले समाज में ये पांच घटनाएं स्वतः घटित होती हैं।

१ मानसिक शान्ति

आज के इस तनावपूर्ण युग की बड़ी समस्या है मानसिक अशांति। उसका मूल कारण है कि आदमी का दृष्टिकोण रचनात्मक नहीं है। जब दृष्टि रचनात्मक होती है तब मानसिक शांति अपने आप आती है। और तब आदमी परम प्रसन्न रहता है। उसकी उलझनें समाप्त हो जाती हैं। वह भयमुक्त जीवन जीता है।

२. समस्या-मुक्ति

रचनात्मक दृष्टि से समस्या से छुटकारा मिल जाता है। समस्या उलझती नहीं। वह आती है और सुलझ जाती है। एक होता है समस्या का चक्र और एक होती है केवल समस्या। समस्या का चक्र पीड़ाकारक होता है। समस्या तो आती है और चली जाती है। जब समस्या का चक्र बन जाता है तब सुलझने की बात नहीं होती। एक समस्या दूसरी को पैदा करती है और दूसरी समस्या तीसरी समस्या को पैदा कर देती है। यह निरन्तर चक्र चलता है, कहीं अन्त नहीं आता। वह अनन्त बन जाता है। समस्याओं के पुट लगते जाते हैं, कहीं भी वे समाप्त नहीं होते। जब दृष्टिकोण रचनात्मक होता है तब समस्याओं का चक्र नहीं होता, समस्या अन्तहीन नहीं होती। वह आती है और उसका समाधान मिल जाता है।

३. अनासक्ति

आवश्यकता-पूर्ति की बात सदा रहती है, पर यथार्थ के प्रति गाढ़ आसक्ति नहीं होती। आवश्यकता-पूर्ति एक बात है और आसक्ति दूसरी बात है। अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरी करना यह तो अनिवार्यता है, किन्तु पदार्थों के प्रति आसक्त हो जाना, अनिवार्यता नहीं है। यह तो स्वयं का ही व्यामोह है।

४. करुणा

रचनात्मक दृष्टिकोण से करुणा की वृत्ति का विकास होता है, क्रूरता समाप्त होती है। ध्वंसात्मक दृष्टिकोण में क्रूरता पनपती है और समाज को उसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं।

५. सत्यनिष्ठा

रचनात्मक दृष्टिकोण के अभाव में व्यक्ति की निष्ठा सत्य के प्रति नहीं होती। उसकी निष्ठा वस्तु या पदार्थ के प्रति होती है। सत्यनिष्ठ होने और वस्तुनिष्ठ होने में बहुत बड़ा अन्तर है। वस्तु की उपयोगिता को स्वीकार करना, वस्तु का उपयोग करना एक बात है और वस्तुनिष्ठ होना दूसरी बात है। निष्ठा परम के प्रति होनी चाहिए। जो परम नहीं है, चरम नहीं है, उसके प्रति निष्ठा होती है तो बहुत बड़ा खतरा पैदा हो जाता है। भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—'परं पश्यत माऽपरं।' पर (परम) को देखो, अपर (अपरम) को मत देखो।

अपरा-परा विद्या

भारत में विद्याओं की दो धाराएं रही हैं—एक है पराविद्या की धारा और दूसरी है अपराविद्या की धारा। अपराविद्या भौतिक विज्ञान की ओर ले जाती है, वह पदार्थ-विज्ञान सिखाती है। उसके द्वारा आदमी अपनी आजीविका का संचालन करता है, उसे पूरी करता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना काम नहीं चल सकता। इसको छोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु इसी में हमें नहीं अटक जाना चाहिए, नहीं रुक जाना चाहिए। यह अन्तिम बिन्दु नहीं है। यह मध्य विराम है। यहां अटकना नहीं है। यहां जो अटकता है, वह भटक जाता है। अपरा विद्या में अटक जाने के कारण ही भ्रष्टाचार और अनैतिकता पनपती है। क्योंकि जो व्यक्ति अपरा विद्या को ही अन्तिम बिन्दु मान लेता है, उसकी विद्या धन में केन्द्रित हो जाती है। वह पदार्थनिष्ठ बन जाता है। उससे आगे उसकी दृष्टि नहीं जाती। वह येन-केन-प्रकारेण अर्थ-संग्रह की ओर उन्मुख होता है। उसके लिए साधन-शुद्धि की बात समाप्त हो जाती है। यहां एक विचार विकसित हुआ था कि साध्य कितना ही ऊंचा हो, यदि उसकी प्राप्ति के साधन शुद्ध नहीं हैं तो साध्य का मूल्य कम हो जाएगा। साध्य शुद्ध है तो साधन भी शुद्ध होना चाहिए। धन कमाना एक साध्य है। यह जीवन-यापन के लिए जरूरी है।

पुरुषार्थ चतुष्टयी

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह पुरुषार्थ चतुष्टयी गृहस्थ समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। सभी संन्यासी नहीं हो सकते। घर को छोड़ सब गुफा-वासी नहीं बन सकते। उनमें कामना होती है। काम भी एक पुरुषार्थ है। जब काम है, कामना है, तो उसकी पूर्ति भी होनी चाहिए। उसकी पूर्ति का साधन है अर्थ, धन। काम साध्य है और उसका साधन है अर्थ। यदि काम और अर्थ दो ही रहें तो समाज स्वस्थ नहीं रह सकता। वह उन्नत और विकासशील नहीं हो सकता। इसके लिए मोक्ष और धर्म की खोज हुई। मोक्ष साध्य है। यह हमारा अन्तिम साध्य है। सब दुःखों से छुटकारा पा लेना ही अन्तिम लक्ष्य है। उसका साधन है धर्म। मोक्ष साध्य है और धर्म साधन है। इस प्रकार पुरुषार्थ चतुष्टयी में दो साध्य हैं और दो साधन हैं—काम साध्य है, अर्थ साधन है। मोक्ष साध्य है, धर्म साधन है।

भारतीय दर्शन की यह विशेषता है। उसने केवल भौतिकता को ही सब कुछ नहीं माना। उसने सर्वोपरि सूत्र दिया आध्यात्मिकता को। दोनों का समन्वय उसने सिखाया। कोरी भौतिकता भी कार्यकर नहीं होती और कोरी आध्यात्मिकता भी कार्यकर नहीं होती। भौतिकता से दुःखों का अन्त नहीं किया जा सकता तो आध्यात्मिकता से रोटी नहीं मिल सकती। धर्म से रोटी और कपड़ा नहीं मिल सकता। धर्म से मकान और सुख-सुविधा नहीं मिल सकती। यदि कोई कहे कि धर्म करो, सब कुछ हो जाएगा—यह झूठ है, मिथ्या धारणा है। धर्म से सब कुछ नहीं होता। जो काम धर्म से होने का है वही काम धर्म से होगा। जो काम धर्म से नहीं होने का है वह काम धर्म से कैसे होगा? धर्म से पेट नहीं भर सकता। पेट भरेगा खेती करने से। यदि किसान खेती न कर जप और ध्यान में लग जाए और यह मान बैठे कि जप और ध्यान से अन्न उत्पन्न हो जाएगा तो यह उसकी भूल होगी। जप और ध्यान का अपना मूल्य है, अपनी उपयोगिता है। सबकी अपनी-अपनी सीमा है। सबकी सापेक्षता है। निरपेक्ष कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है। हम किसी तथ्य को निरपेक्ष मूल्य नहीं दें। हम यह भी कल्पना न करें कि सब आदमी काम-मुक्त हो जायेंगे, निष्काम हो जायेंगे, यह कभी संभव नहीं है। सामाजिक प्राणी में कामना रहेगी तो उसकी पूर्ति के लिए धन भी कमाना होगा, अर्थार्जन भी करना होगा। यदि इन दो का ही अस्तित्व हो तो दोनों निरंकुश बन जायेंगे। कामना भी निरंकुश हो जाएगी और अर्थ का अर्जन

भी निरंकुश हो जाएगा। छीना-झपटी, लूट-खसोट पनपेंगे। आदमी की इस निरंकुशता पर नियंत्रण करने के लिए उपाय की खोज की। उसने धर्म का सहारा लिया। धर्म निरंकुशता पर अंकुश लगा सकता है।

स्वस्थ समाज में केवल काम और अर्थ ही पर्याप्त नहीं होते। उसमें तीसरा पुरुषार्थ धर्म भी होना चाहिए। यह काम पर भी अंकुश रखेगा और अर्थार्जन के साधनों पर भी अंकुश रखेगा। अर्थार्जन के साधन अशुद्ध न हों। आज का आदमी सोचता है—धन कमाना है तो फिर साधन पर विचार क्या करना है? जिस किसी साधन से धन मिले, उसे काम में लेना चाहिए। इस विचार ने अप्रामाणिकता को जन्म दिया और आज वह चरम शिखर को छू रही है।

येन केन प्रकारेण

'येन केन प्रकारेण' वाली उक्ति का चित्र एक संस्कृत कवि ने बहुत ही सुन्दर खींचा है—

घटं भिन्द्यात् पटं छिन्द्यात्, कुर्याद् रासभरोहणम्।
येन केन प्रकारेण, प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्।

एक आदमी के मन में प्रसिद्ध होने की भावना जागी, उसने उपाय खोजे। चिन्तनशील व्यक्तियों से विचार-विमर्श किया, पर कोई उपाय हाथ नहीं लगा। उसमें कोई ऐसी विलक्षणता तो थी नहीं कि लोग उसको आंखों पर बिठा लेते। ऐसा कोई उसका अवदान नहीं था कि उसकी प्रमुखता मानी जाती। पर प्रसिद्धि की भूख उसकी बढ़ी। एक व्यक्ति मिला, उसने कहा—तुम्हारे पास इतनी क्षमता तो है नहीं कि अच्छा काम कर प्रसिद्ध बनो। अच्छा काम करने वाला प्रसिद्ध होता है तो बुरा काम करने वाला भी प्रसिद्ध हो जाता है। पहला मार्ग तुम्हारे लिए असम्भव है। तुम दूसरे मार्ग को चुनो। उस मार्ग के तीन अवलम्बन हैं—घड़ों को फोड़ना, कपड़ों को फाड़ना और गधे की सवारी करना।

तुम बाजार में जाओ और वहां बिकने के लिए जो घड़े पड़े हैं, उन्हें लाठी से फोड़ डालो। तुम्हारी इस प्रवृत्ति पर लोग एकत्रित होंगे और तुम सारे नगर में प्रसिद्ध हो जाओगे।

यदि ऐसा न कर सको तो अपने कपड़े फाड़ डालो, नंगे होकर बाजार से गुजरो। सबकी दृष्टि तुम पर टिकेगी, तुम प्रसिद्ध हो जाओगे।

यदि यह भी न कर सको तो गधे की सवारी करो और बीच बाजार से

गुजरो। सबका ध्यान तुम्हारी ओर खिंच जाएगा और तुम्हारे फोटो लिये जाएंगे। अखबारों में छपेंगे और तुम प्रसिद्ध हो जाओगे।

'येन केन प्रकारेण' की सीमा में साधन-शुद्धि का प्रवेश ही नहीं होता। वहां जिस किसी तरीके से लक्ष्य प्राप्त करने का ही ध्यान रहता है। समाज की रुग्णता का यह बहुत बड़ा कारण है। वही समाज स्वस्थ रहता है जो सत्यनिष्ठ होता है, प्रामाणिकता को सर्वोपरि मूल्य देता है। जब एक आदमी प्रामाणिकता से च्युत होता है तो दूसरा च्युत क्यों नहीं होगा? जब सभी लोग अप्रामाणिकता के चक्रव्यूह में फंस जाएंगे तो कोई कैसे सुखी रह पाएगा?

ठगाई किसकी?

आज हिंसा अहिंसा के कंधों पर बैठकर चल रही है। आज बेईमानी ईमानदारी के कन्धों पर बैठकर चल रही है। यदि सारे बेईमान हो जाएं तो बेईमानी चल ही नहीं सकती। बेईमानी को ईमानदारी का सहयोग है, तभी वह चलती है।

एक किसान शहर में आया। गहनों की दूकान पर गया। गहने खरीदे, सोने के गहने, चमकदार। दूकानदार ने मूल्य मांगा। किसान ने कहा—मेरे पास मूल्य नहीं है, रुपये नहीं हैं। घी का घड़ा भरा हुआ है। आप इसे ले लें और गहने मुझे दें। सौदा तय हो गया। दूकानदार भी प्रसन्न और किसान भी प्रसन्न।

किसान घर गया। अपने गांव के सुनार को गहने दिखाये। उसने परीक्षण कर कहा—तुम ठगे गये। नीचे पीतल है और ऊपर स्वर्ण का झोल। किसान ने सोचा—मैंने सेठ को ठगा तो सेठ ने मुझे ठग लिया।

सेठ घर गया। घी को दूसरे बर्तन में डालना चाहा। ऊपर घी था, नीचे कंकड़-पत्थर। माथे पर हाथ रखकर सोचा—मैं ठगा गया। मैंने किसान को ठगा और किसान ने मुझे ठग लिया।

किसान सोचता है—मैंने सेठ को ठग लिया। सेठ सोचता है—मैंने किसान को ठग लिया। कोई नहीं ठगा गया। सौदा बराबर हो गया। जब पूरा समाज अनैतिक होता है तो कौन किसको ठगेगा? कौन ठगा जाएगा? सभी सोचते हैं मैंने उसको ठग लिया, पर ठगे सभी जाते हैं। बेईमानी जब व्यापक होती है, तब सब ठगे जाते हैं। अकेला कोई नहीं ठगा जाता।

समाज में ईमानदार लोग भी रहते हैं। इस ईमानदारी के कंधे पर

चढ़कर बेईमानी चल रही है। सत्य के आधार पर असत्य और अहिंसा के आधार पर हिंसा चल रही है। यदि सारे हिंसक बन जाएं तो हिंसा अधिक नहीं चल सकती।

हम इस बात का गहराई से चिन्तन करें कि सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है सत्य की निष्ठा, पराविद्या की निष्ठा। अपरा पर ही नहीं रहना है। उस पर अटकने का परिणाम भयंकर होता है। अपरा और परा का सन्तुलन बना रहे, भौतिकता और आध्यात्मिकता का सन्तुलन बना रहे। हम परम को भी देखें, अपरम को भी देखें। सत्यनिष्ठा रचनात्मक दृष्टिकोण की पांचवीं उपलब्धि है।

कहने वाला, सुननेवाला

रचनात्मक दृष्टिकोण के स्वरूप और उपलब्धियों के विषय में संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। आप लोगों ने वैयक्तिक स्वास्थ्य और वैयक्तिक चरित्र तथा सामाजिक स्वास्थ्य और सामाजिक चरित्र के विषय में सुना। अब कहनेवालों का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता सुननेवालों पर। सुनने के बाद दो स्थितियां होनी चाहिए—मनन और आचरण। सुने हुए तथ्यों पर प्रत्येक व्यक्ति मनन करे, श्रद्धा करे और फिर आचरण करे। इसमें सब स्वतन्त्र हैं। कहने वाला स्वतंत्र है तो सुनने वाला भी स्वतंत्र है। कहनेवाला यदि इस प्रबन्ध के साथ कहे कि ऐसा करना ही पड़ेगा तो कहने वाला भी भ्रम में है और सुननेवाला भी भ्रम में है। कहनेवाले का प्रयोजन तब पूरा हो जाता है जब वह अपनी बात पूरे रूप में कह डालता है। इसके बाद सुनने वालों की सीमा प्रारम्भ होती है। वे भी पूर्ण स्वतन्त्र हैं।—जो उन्हें अच्छा लगे, उस मार्ग का अवलम्बन लें। एक मार्ग है वैयक्तिक और सामाजिक बीमारी का। दूसरा मार्ग है वैयक्तिक और सामाजिक स्वास्थ्य का। ये दो मार्ग हैं। दोनों मार्ग बहुत दूर तक जाते हैं। दोनों समानान्तर रेखा की भांति चलते हैं। साथ-साथ चलते हैं पर कहीं मिलते नहीं। अब मार्ग के चुनाव का प्रश्न आप पर छोड़ देता हूं। जो मार्ग आपको अच्छा लगे, उसको अपनाएं। चुनाव की यह स्वतंत्रता व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता है।

मनोबल के सूत्र

(पुलिस एकेडेमी, जयपुर : २६ मार्च १९८१ से ४ अप्रैल १९८१)

मनोबलं प्रवर्धते

१. बहिस्तनानि द्रव्याणि, मित्त्वा चान्तर्दृशा स्वयम् ।
जीवनं पश्यतो नित्यं, मनोबलं प्रवर्धते ।।

२. मन्दं मन्दं श्वसन् योऽस्ति, सोहमित्यात्तभावनः ।
परात्मानुभवस्तस्य, मनोबलं प्रवर्धते ।।

३. यस्मिन् प्रवर्तते वायुः, चित्तं तत्रैव वर्तते ।
शरीर-मनसोरैक्ये, मनोबलं प्रवर्धते ।।

४. शिथिलीकरणं साधु, जागरूकत्वसंयुतम् ।
नित्यमभ्यस्यतो नूनं, मनोबलं प्रवर्धते ।।

५. आहारे वर्जयन् नित्यं, अपोषण-कुपोषणे ।
शरीरं वाहयेत् तस्य, मनोबलं प्रवर्धते ।।

६. संयतं चापि निद्राति, जागर्ति चापि संयतम् ।
सततं यतमानस्य, मनोबलं प्रवर्धते ।।

७. एकत्वानुभवो दीर्घं, एकान्ते वासमिच्छतः ।
अव्यस्तानुभवस्तस्य, मनोबलं प्रवर्धते ।।

८. शब्दादिविषये तावद्, इन्द्रियाणामगोचरे ।
चित्तं प्रवर्तते तस्य, मनोबलं प्रवर्धते ।।

९. ऊर्जाकेन्द्रे कृतध्यानः, सूर्यातपं च सेवते ।
प्राणशक्तेः प्रकर्षेण, मनोबलं प्रवर्धते ।।

१०. नियत्यां पुरुषार्थेऽपि, चिन्तने चाप्यचिन्तने ।
विश्वासो वर्तते तस्य, मनोबलं प्रवर्धते ।।

अज्ञात द्वीप की खोज

समुद्र को दो रूपों में देखा गया है—शान्त और तरंगित। जीवन को भी इन दो रूपों में देखा गया है—शान्त और तरंगित। जीवन कभी बहुत शान्त होता है और कभी तरंगें ही तरंगें, उत्ताल तरंगें, ऊर्मियां ही ऊर्मियां। कल्पना नहीं की जा सकती, यह वही जीवन है; कल्पना नहीं की जा सकती, यह वही समुद्र है। जब भयंकर तूफान आता है, समुद्र का रूप बदल जाता है। जब भाव की तरंगें, विचार की तरंगें उठती हैं जीवन का स्वरूप भी बदल जाता है। यह वही जीवन है, ऐसा सोचना, अनुमान करना भी कठिन हो जाता है। उन तरंगों के बीच, उन तरंगों के नीचे एक शान्त समुद्र होता है। एक शान्त जीवन होता है। उसे खोजना बहुत जरूरी है। जीवन एक महा-ग्रन्थ है। दुनिया में इससे बड़ी कोई पुस्तक नहीं है। इससे बड़ा कोई ग्रन्थ नहीं है। यह महाग्रन्थ है, जिसका प्रत्येक पृष्ठ रहस्यों से भरा है। प्रत्येक पृष्ठ को समझना, उसके रहस्यों को जानना, सबसे बड़ी पहेली है। आज तक हजारों-हजारों लोगों ने प्रयत्न किया पर इस महाग्रन्थ को पढ़ने में सफल नहीं हुए।

जीवन तीन तत्त्वों से निर्मित हुआ है—श्वास, प्राण और चेतना। श्वास ज्ञात है। प्राण कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात है। चेतना बिल्कुल अज्ञात है। चेतना के बारे में हमारी जानकारी सबसे कम है। प्राण के बारे में उससे ज्यादा और श्वास के बारे में और ज्यादा। श्वास स्पष्ट है, हम जान लेते हैं। हमारे जीवन का लक्षण बना हुआ है श्वास। श्वास लेने वाला जीवित आदमी होता है और श्वास न लेने वाला मृत होता है। यह हमारी पहचान है और बहुत पुरानी पहचान है।

प्राण के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। प्राण श्वास का हेतु है। प्राण है तो श्वास आता है और प्राण नहीं है तो श्वास नहीं आता। हमारे जीवन में प्राणशक्ति का एक प्रवाह है। जीवन का मतलब ही होता है—प्राण। प्राण धारण करना, जीना। हमारा श्वास प्राण पर निर्भर है। लोग यह मानते हैं कि शरीर में विटामिन्स पर्याप्त हैं, तत्त्व पर्याप्त हैं—जितना

कैल्शियम चाहिए, फास्फोरस चाहिए, पोटेशियम चाहिए, लवण और खनिज चाहिए, वे सारे हैं इसलिए हमारा जीवन चल रहा है, और कहीं स्वास्थ्य में गड़बड़ होती है, दवा लेते हैं और उसकी पूर्ति कर देते हैं, मानते हैं कि हमारा जीवन ठीक चल रहा है। पर इस बात की ओर हम ध्यान दें कि ये सारे तत्त्व, सारे जीवन-स्वत्व भी तभी काम करते हैं जब प्राण की धारा का प्रवाह ठीक चलता है। यदि प्राण की धारा का प्रवाह ठीक नहीं है और प्राणशक्ति चुक जाती है तो संसार की सारी दवाइयां ले लें, किसी की सामर्थ्य नहीं कि जिला सके। किसी की ताकत नहीं कि जी सके। दवाइयां भी तभी काम करती हैं जब प्राणशक्ति ठीक होती है। भोजन भी तभी काम करता हैं जब प्राण की धारा ठीक होती है। स्वास्थ्य भी तभी ठीक काम करता है जब प्राण का प्रवाह ठीक होता है। तो श्वास से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है—हमारा प्राण।

इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है हमारी चेतना। यह एक अज्ञात द्वीप है, इस समुद्र में कुछ द्वीप ज्ञात हैं और यह एक अज्ञात द्वीप है। इसे अभी तक खोजा नहीं गया। इसे खोजना बहुत बड़ीं समस्या है। चेतना को पकड़ना कठिन है और इसलिए कि श्वास स्थूल है, प्राण सूक्ष्म है और चेतना सूक्ष्मतम है। सूक्ष्मतम को खोजना बहुत बड़ी समस्या है।

हमने ध्यान का अभ्यास शुरू किया है, केवल प्रीति के लिए नहीं, केवल शिथिलीकरण के लिए नहीं। जब शिथिलीकरण होता है तब एक प्रकार का आनन्द जागता है। जब तनाव कम होता है, शरीर शिथिल होता है, एक प्रकार की प्रीति जागती है, सुख का अनुभव होता है। यदि ध्यान का उद्देश्य मात्र प्रीति, मात्र आनन्दानुभूति हो तो वह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। ध्यान का उद्देश्य है—सत्य की खोज, अज्ञात की खोज। जो हमने नहीं जाना, जो सच्चाइयां हमारे सामने प्रकट नहीं हुईं, उन सच्चाइयों को जानना ध्यान का उद्देश्य है। सोचते होंगे कि ध्यान करते हैं तो सबसे पहले कायोत्सर्ग, पूरा शिथिलीकरण, आंखें बन्द, आखें मूंद लेते हैं। यदि ध्यान का मतलब समस्याओं से आंखें मूंदना हो तो ध्यान भी एक पलायनवादी प्रवृत्ति बन जायेगी। ध्यान पलायनवाद नहीं है, समस्याओं से आंख-मिचौनी करना नहीं हैं, किन्तु समस्याओं के स्रोत को खोजना, समस्याओं को और अधिक उजागर करना और उनका समाधान खोजना है।

बहुत बातें खुली आंखों से नहीं देखी जातीं, वे बातें मुंदी आंखों से देखी

जा सकती हैं। देखने का अपना-अपना नियम है। कुछ बातें खुली आंखों से देखी जाती हैं तो कुछ आंखें मूंदकर देखी जाती हैं। सबका नियम एक नहीं होता, दर्शन के अपने-अपने नियम होते हैं। आंखें मूंदने पर जो सच्चाइयां सामने प्रकट होती हैं वे खुली आंखों से प्रकट नहीं होतीं। हमारे सामने समस्याएं हैं, हम स्वीकार करें इस बात को। प्रत्येक मनुष्य के सामने समस्याएं होती हैं। इस दुनिया में जन्म ले और उसके सामने समस्या न हो; यह मानना सबसे बड़ा असत्य है। कोई भी आदमी हमारी दुनिया में जन्म लेगा, उसे समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। औरों की बात छोड़ दें, मैं कहना चाहूंगा कि लोग कहते हैं कि भगवान् सबसे बड़ा होता है, लोगों की भाषा में कहना चाहता हूं कि भगवान् भी अगर अवतार ले ले तो दुनिया में अवतार लेने के बाद उसे समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। वह भी समस्या से मुक्त नहीं हो सकता।

हमारी परिस्थितियां, हमारा वातावरण, हमारी संक्रमणता, यह सौर-मण्डल का प्रभाव, सामाजिक प्रभाव, विचारों का प्रभाव, मानसिक चिन्तन का प्रभाव, यह स्मृतियों और कल्पनाओं का मंथन ऐसा है कि कोई भी आदमी समस्या से मुक्त रह नहीं सकता और समस्या से मुक्त होकर जी नहीं सकता। कुछ समस्याएं काल्पनिक होती हैं तो कुछ वास्तविक होती हैं। भूख लगती है, समस्या है, रोटी की समस्या है, इसे हम काल्पनिक नहीं मान सकते। काल्पनिक कैसे ? वास्तविक समस्या है। रोटी खाते हैं, समस्या का समाधान हो जाता है। रोटी नहीं मिलती है, समस्या प्रबल हो जाती है। जीवन की अनिवार्य जितनी आवश्यकताएं हैं वे वास्तविक समस्याएं हैं। कुछ समस्याएं हमारी काल्पनिक भी हैं। काल्पनिक समस्याएं भी कम भयंकर नहीं होतीं। जितनी यथार्थ की समस्याएं भयंकर होती हैं उतनी ही काल्पनिक समस्याएं भयंकर, उससे भी ज्यादा भयंकर होती हैं और मुझे तो यह लगता है कि शायद आदमी काल्पनिक समस्याओं से ज्यादा आक्रांत होता है। वास्तविक समस्याएं बहुत थोड़ी हैं, इनी-गिनी। किन्तु काल्पनिक समस्याओं का कहीं अन्त नहीं है। इतनी जटिल समस्याएं जो प्रतिदिन हमारे सामने उभरती हैं, मैं इंगित कर देना चाहता हूं किस प्रकार काल्पनिक समस्याएं मनुष्य को सताती हैं।

आपने कहानी सुनी होगी, दो यात्रियों की, जो पास में बैठे थे। ट्रेन में लड़ाई हो गयी। लड़ाई का कारण, एक समस्या। समस्या काल्पनिक,

केवल काल्पनिक। एक कहता है मुझे ठंड लग रही है और दूसरा कहता है मुझे गर्मी लग रही है। एक उठता है, खिड़की को बन्द कर देता है। दूसरा उठता है खिड़की को खोल देता है। टी० टी० आया, यह अभिनय देखा और बोला—"क्या अभिनय हो रहा है रेल में! चलती गाड़ी में क्या खेल खेला जा रहा है!" एक ने कहा, "हवा बहुत तेज चल रही है, मुझे ठंड लग रही है।" दूसरा कहता है, "खिड़की बन्द हो जाती है, मुझे बहुत गर्मी लग रही है, परेशान हो रहा हूं।" टी० टी० गया खिड़की के पास में और जाकर देखा तो फ्रेम तो है लेकिन शीशा है ही नहीं। अब कैसे हवा लग रही है और कैसे गर्मी लग रही है? मात्र काल्पनिक समस्या।

पती-पत्नी के बीच भैंस लाने की योजना बन रही थी। बात चल पड़ी कि भैंस लायेंगे, दूध होगा, गर्म करेंगे और मलाई आएगी। अब पत्नी बोली कि मलाई तो मैं अपनी मां को खिलाऊंगी। पति बोला—यह कैसे हो सकता है? हमारे घर में भैंस! सब कुछ सार-सम्भाल तथा सारा श्रम तो हम करें और मलाई तुम अपनी मां को खिलाओगी, यह नहीं हो सकता। ऐसी तेज लड़ाई हो गयी आपस में कि पड़ोसी इकट्ठे हो गए। पूछा बात क्या है? तो पता चला कि मलाई को लेकर लड़ाई चल रही है। एक पड़ोसी ने कहा कि तुम्हारी भैंस मेरे खेत में आ गयी, मेरे खेत को चर गई इसलिए तुम्हें हरजाना देना होगा। वह बोला—"भैंस तो अभी लाया ही नहीं।" "तो मूर्ख आदमी! क्यों लड़ रहे हो कोरी कल्पना से।"

पति-पत्नी में झगड़ा हो गया। पत्नी कहती है कि लड़के को डॉक्टर बनाऊंगी और पति कहता है कि लड़के को वकील बनाऊंगा। पड़ोसी इकट्ठे हो गए। लोगों ने कहा—अरे! बात क्या है? बात बतायी कि स्थिति यह है। पत्नी ने कहा—मेरी कोई बात सुनी नहीं जाती, मैंने एक ही तो बात रखी जीवन में कि लड़के को मैं डॉक्टर बनाऊंगी। बीमार रहती हूं, आए दिन डॉक्टर को बुलाना पड़ता है। लड़का डॉक्टर बन जाए तो सारी समस्या हल होती है। पति ने कहा—मेरी बात भी आप लोग सुन लेना, इतने टेक्सज् हो गए, इतनी समस्याएं, वकीलों के चक्कर में फंसता हूं। अगर मेरा लड़का वकील हो जाए तो सारी समस्या हल होती है। लोगों ने कहा—बात तो अच्छी लगती है। यह डॉक्टर बनाना चाहती हैं, आप उसे वकील बनाना चाहते हैं। पर लड़के की इच्छा क्या है, यह तो जान लो। तब दोनों ने कहा—लड़का तो अभी पैदा ही नहीं हुआ है।

हमारी दुनिया में न जाने कितनी काल्पनिक समस्याएं होती हैं । यदि हम सच्चाई पर जाएं, तो पता चलेगा कि केवल कल्पना के आधार पर इतनी लड़ाइयां, इतने संघर्ष, इतने मनमुटाव । यदि यथार्थ को खोजते हैं तो कुछ भी नही निकलता । कहावत तो यह है कि खोदा पहाड़ निकली चुहिया। इन काल्पनिक समस्याओं में तो चुहिया भी नहीं निकलती । कुछ भी नहीं निकलता, कोई आधार ही नहीं मिलता ।

हमारी दोनों प्रकार की समस्याएं हैं—काल्पनिक समस्याएं और यथार्थ की समस्याएं । ये हमारे मनोबल को कमजोर करती हैं । मन का बल टूटता है । इस परिप्रेक्ष्य में हमें विचार करना है कि मनोबल बढ़े कैसे ? मनोबल कम न हो, इसका विकास कैसे हो ? भय की समस्या, हीन भावना की समस्या, पक्षपात की समस्या और असन्तुलन की समस्या—ये चार इतनी बड़ी समस्याएं हैं जो हमारे जीवन को दुर्बल बनाती हैं, मनोबल को कम करती हैं । और जिस व्यक्ति का मनोबल कम होता है वह व्यक्ति इस दुनिया में अपराधी का जीवन जीता है । दुर्बलता अपने आप में एक अपराध है ।

शक्तिशाली होना अपने आप में एक न्याय है । दुर्बल आदमी न्याय की भीख मांगता रहता है पर दुनिया का नियम है कि आज तक दुर्बल को कभी न्याय नहीं मिला । कितना भी कोई न्याय देने वाला हो पर न्याय देने वाला क्या करे ? दुर्बल आदमी न्याय लेने का पात्र नहीं होता । आज तक दुर्बल भीख मांगता रहा, पर कोई उसे न्याय नहीं दे सका । न्याय शक्ति के साथ जुड़ा हुआ है । जहां शक्ति होती है, अपने आप न्याय मिल जाता है । मान लेना चाहिए कि न्याय और शक्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं । दुर्बलता और अन्याय दोनों साथ-साथ चलते हैं । इसमें देने वाले का दोष मैं नहीं मानता ।

दुर्बलता की प्रकृति ही है कि वह न्याय को अपनी ओर आकर्षित भी नहीं कर पाती । बीच में ऐसे तर्क आ जाते हैं कि सामने वाला व्यक्ति देखता है कि मैं न्याय कर रहा हूं और उसकी दुर्बलता अपने तर्कों का ऐसा जाल बिछाती है कि सारे न्याय कहीं चले जाते हैं, पल्ले में अन्याय ही पड़ता है और अत्याचार ही पड़ता है । दुर्बलता अपने आप में एक अपराध है । दुर्बलता अपने आप में एक अन्याय है । बलशाली होना, शक्तिशाली होना, शक्ति का विकास करना, एक न्यायोचित चीज है, सब कुछ है । प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि बल का विकास हो । शरीर के बल का विकास, बुद्धि के बल का विकास, वाणी के बल का विकास, हर आदमी चाहता है । पर मनोबल

बहुत कम लोगों को मिलता है।

आपने सुना होगा, आचार्य भिक्षु को अनेक परिस्थितियां उनके सामने जटिल थीं। ऐसी स्थितियां कि सामान्य आदमी के लिए जीना भी कठिन होता। पर सब स्थितियों को सह गए। कारण क्या ? मनोबल—बहुत मजबूत मनोबल। शरीर का बल आखिर कितना होता है ? हाड़ और मांस का बल आखिर कितना होता है ? मनोबल ही बड़ा होता है। लोग कहते हैं कि महात्मा गांधी एक मुट्ठी हड्डियों का ढेर था। क्या था ? किन्तु कितना बड़ा मनोबल ? इतने बड़े साम्राज्य से निहत्थे होकर सामना किया, क्या कोई शरीर का बल काम दे रहा था ? बिलकुल नहीं। केवल मनोबल। आज तक दुनिया में जितने बड़े-बड़े लोग हुए हैं और जितने काम किये हैं, सब मनोबल के सहारे किए हैं।

हम इस विषय पर विचार करें कि कौन-सी परिस्थितियां हैं जो मनोबल को क्षीण करती हैं और कौन-सी परिस्थितियां हैं जो हमारे मनोबल को बढ़ाती हैं। ध्यान के द्वारा यदि हमारे मनोबल का विकास नहीं होता है तो मैं मानता हूं कि ध्यान की सार्थकता जीवन में घटित नहीं होगी। ध्यान एक शक्ति है और उस शक्ति के द्वारा अनेक शक्तियों का विकास होता है। उसमें मनोबल का भी विकास होता है। एक समस्या है भय जो हमारे मनोबल को क्षीण करता है। बहुत बड़ा कारण है। पता नहीं कि कितनी कल्पना भय के साथ जुड़ी होती है। अंधेरा मन को दुर्बल बनाता है। मुझे ज्यादा विस्तार देने की जरूरत नहीं। बहुत सारे लोग मानते हैं कि अंधेरा होता है और किस प्रकार की कल्पनाएं मन में उठती हैं। भूत, प्रेत, देवता, और भी न जाने क्या-क्या कल्पनाएं उठती हैं। जिन्हें भय लगता है वे ही जानते हैं। किस प्रकार की स्थितियां आती हैं। जो कमजोर लोग होते हैं, डर तब लगता है। अंधेरे में अकेले होते हैं या बैठे होते हैं बिजली के प्रकाश में। अकस्मात् बिजली चली जाती है उस समय क्या बीतता है, वे ही जानते हैं। आशंकाएं, मन मे इतनी आशंकाएं उठती हैं, कल क्या होगा ? मैंने यह क्या कर दिया ? क्या होगा ? अब क्या होगा ? कहीं घाटा न लग जाए ? कहीं यह स्थिति न बन जाए ? इतनी अशुभ कल्पनाएं मनुष्य के मन में जन्म लेती हैं कि आदमी निरन्तर उसकी उधेड़बुन में रहता है। जब तक हमें उसकी सचाई का पता नहीं चलता, हम भय से मुक्ति नहीं पा सकते। बहुत बार तो ऐसा होता है कि सुरक्षा भी हमारे लिए भय का कारण बन जाती है। है तो सुरक्षा, पर भय का कारण मान लेते हैं।

पुराने जमाने की घटना है। एक बादशाह समुद्र की यात्रा कर रहा था। जहाज में सब लोग साथ में बैठे। एक सिपाही भी साथ में था। था सिपाही पर बहुत कमजोर। दूसरों को डराने वाला, पर स्वयं बहुत डरने वाला। अब जहाज चलता है और हिलोरें लेता है। धक्के लगते हैं, कभी ऊंचा और कभी नीचा होता है। सिपाही तो रोने लग गया। बादशाह ने मन्त्री से कहा—'क्यों रोता है?' 'महाराज, इसे भय लगता है। जैसे ही जहाज हिलता है, वह सोचता है कि प्राण अब गए, अब गए, अब गए।' 'यह तो डर रहा है, समझाओ।' समझाया गया। पर समझाने से क्या होगा? समझाने की बात, शब्द तो हमारे दिमाग तक पहुंचते हैं। जहां डर लगता है, जहां भय लगता है, वहां तो शब्द जाते नहीं। एक मिनट रुकता है और फिर जैसे ही हवा तेज आती है, जहाज उलटता है, पुलटता है, धक्के लगते हैं और वह जोर से चिल्लाने लग जाता है। बादशाह परेशान हो गया, मन्त्री परेशान, सारे लोग परेशान और उसकी चिल्लाहटें कानों को बेध रही हैं। मन्त्री ने सोचा कि क्या करें? एक उपाय निकाला, एक आदमी को समझाया। कुछ आदमी गए और उसे उठाकर समुद्र में फेंक दिया। फेंका और अब तो चिल्ल-पों शुरू हो गयी, बहुत चिल्लाया, रोने लगा, डूबने लगा। डूबता है, तैरता है, डूबता है, तैरता है। आदमी कूदे, तैराक थे और पकड़कर ले आए। बिठा दिया। वह बिलकुल शांत। बिलकुल रोना शांत। अब जहाज चल रहा है, पर रोना नहीं। बादशाह ने कहा—मन्त्री! क्या कर दिया तुमने? क्या हो गया, अब रोना कहां चला गया? मन्त्री ने कहा—अब नहीं रोएगा। पहले उसे पता नहीं था कि जहाज में कितनी सुरक्षा है। हम अथाह पानी में जहाज में बैठे हैं। अथाह पानी में जहाज कितनी हमारी सुरक्षा कर रहा है यह उसे पता नहीं था। थोड़ा-सा जहाज हिलता था रोता था। जब पानी में डूबने लगा, रोने लगा, मरने लगा और डूबने की स्थिति का अनुभव हुआ तब पता चला कि जहाज का कितना मूल्य होता है? अब यह नहीं रोएगा।

सचमुच हमारे जीवन में ऐसा होता है कि सुरक्षा को हम असुरक्षा मान बैठते हैं, अपनी कल्पना के कारण, अपने भय की आशंका के कारण। आशंका की वृत्ति बड़ी विचित्र होती है। इतनी प्रकार की आशंकाएं लिये आदमी चलता है। मेरा विश्वास है कि जो व्यक्ति ध्यान में नहीं उतरता और ध्यान के द्वारा सचाई का अनुभव नहीं करता वह व्यक्ति आशंका की समस्या से अपने आपको कभी नहीं छुड़ा पाता। बुढ़ापे में क्या होगा, बीमारी में क्या

होगा ? अमुक स्थिति में क्या होगा ? लड़के ने विद्रोह कर दिया तो क्या होगा ? पत्नी ने रोटी बनाना बन्द कर दिया तो क्या होगा ? 'क्या होगा' का कभी अन्त नहीं आता जीवन में। हर व्यक्ति के जीवन में 'क्या होगा' की आशंका जुड़ी हुई है। कोई दुनिया में दवा नहीं जो इस आशंका को मिटा सके। एक बार मनोबल जाग जाता है ध्यान की शक्ति के द्वारा तो फिर 'क्या होगा' की बात ही समाप्त हो जाती है। जो होना है सो होगा। कभी होना है तब होगा। आज ही तो नहीं होना है। जब होना है तब होना है। होना भी है या नहीं, पता नहीं, पर रोना-धोना तो आज ही हो गया। नहीं होना है तो फिर उसे होना पड़ेगा। अपनी दुर्बलता के कारण आदमी इस प्रकार की कल्पना करता है, अशुभ कल्पना करता है और नहीं होने वाली घटना को भी शायद निमन्त्रित कर लेता है। जिस प्रकार का मानसिक चिन्तन बार-बार होता है तो न होने वाली घटना को भी घटित होने की सम्भावना हो जाती है। यदि मनोबल मजबूत होता है और उन सारी अशुभ आशंकाओं को टाल देता है तो होने वाली घटना भी टल जाती है।

ध्यान एक बहुत बड़ी सचाई है, ध्यान एक बहुत बड़ी शक्ति है और शक्ति के विकास का बहुत बड़ा रहस्य है। हमारी दुनिया में बहुत सारे कारण हैं जो हमारे मनोबल पर इतना प्रभाव जमाए बैठे हैं। दो-तीन कारणों की चर्चा करना चाहता हूं। एक चेतना का जगत्, एक ग्रंथियां और एक सौर-मंडल। चेतना को खोजना है तो ग्रन्थियों के स्तर पर खोजना होगा। लेश्या या भावधारा के स्तर पर खोजना होगा। चेतना की एक अवस्था का नाम है—लेश्या। जो चेतना तैजस शरीर के साथ, सूक्ष्म शरीर के साथ काम करती है उस चेतना का नाम है लेश्या और उसे कुछ लोग वृत्ति भी कहते हैं, वृत्तिस्तरीय चेतना। एक भावधारा की चेतना और वह भावधारा की चेतना प्रकट होती है शरीर में और प्रकट होने का तंत्र है—ग्रन्थि तंत्र। शरीर में कुछ ग्रन्थियां हैं—पीनियल, पिच्यूटरी, थाइराइड, पेराथाइराइड, एड्रीनल, गोनाड्स आदि। इन ग्रन्थियों में वह चेतना प्रकट होती है। और वह प्रभावित होती है सौरमंडल के द्वारा। तीन बातें जुड़ जाती हैं—चेतना, ग्रन्थियां और सौरमण्डल। सूर्य सारी ग्रन्थियों को प्रभावित करता है। चन्द्रमा हमारी ग्रन्थियों को प्रभावित करता है। मंगल, बुध, बृहस्पति ग्रन्थियों को प्रभावित करते हैं। तो ये सौरमण्डल के जो तारे हैं, स्टार्स हैं वे ग्रन्थियों को प्रभावित करते हैं। एक बाहर से, सौरमंडल के विकरणों से आने वाला

प्रभाव, दूसरा हमारी चेतना से आने वाला प्रभाव और उन दोनों को झेलने वाला हमारी ग्रन्थियों का प्रभाव। ये तीन इतने परस्पर सम्बद्ध और जुड़े हुए हैं कि इस तीनों को छोड़कर जीवन की व्याख्या नहीं हो सकती। केवल श्वास के आधार पर जीवन को नहीं समझा जा सकता, केवल प्राण के आधार पर जीवन की समस्याओं की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस महाग्रंथ को नहीं पढ़ा जा सकता जब तक लेश्या की चेतना को हम नहीं जान लेते।

हमारी जटिल समस्याएं, जटिल पहेलियां और उलझनें तभी व्याख्यात हो सकती हैं जब हम चेतना के स्तर पर जीवन को समझने का प्रयत्न करें। मनुष्य क्यों क्रोध करता है? क्यों भय करता है? क्यों हीनभावना से ग्रस्त होता है? क्यों अहंकार से ग्रस्त होता है? क्यों पक्षपात करता है? क्यों प्रिय और अप्रिय का संवेदन करता है? क्यों असन्तुलन करता है? ये सारी स्थितियां, सारी समस्याएं जो व्यक्ति की अपनी समस्याएं हैं, मानसिक समस्याएं हैं—इन सारी समस्याओं की व्याख्या चेतना के स्तर पर ही की जा सकती है। बात है कि मंगल, सूर्य, बुध और बृहस्पति से आने वाले विकिरणों का प्रभाव पड़ता है। यह कोई अन्धविश्वास नहीं है। मैं ज्योतिष को अन्धविश्वास नहीं मानता, बहुत वैज्ञानिक बात है यह। सारे विकिरण प्रभावित करते हैं व्यक्ति को। पर कब करते हैं? जब हमारी चेतना की स्थिति उसके अनुकूल होती है। यदि हम चेतना की स्थिति को बलवान् बना लेते हैं, उसके प्रतिकूल बना लेते हैं तो विकिरण आते हैं, स्पर्श करते हैं, पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाते।

एक ज्योतिषी हस्तरेखाओं को जानने वाला, सुकरात के पास आया और बोला—'मैं आपका हाथ देखना चाहता हूं और आपके भविष्य की घोषणा करना चाहता हूं।' सुकरात ने कहा—'ज्योतिषी! मेरा भाग्य मैं पलट चुका हूं। मैं मेरे भाग्य का निर्माता बन गया हूं। जब जैसा चाहूं वैसा पलट सकता हूं। तुम क्या देखोगे, मेरी कुण्डली को और क्या देखोगे मेरी हस्तरेखा को! मैं स्वामी हूं।'

जो व्यक्ति चेतना के स्तर पर अपने आपको बदल लेता है, फिर बाहर का प्रभाव कम होने लग जाता है।

ध्यान एक प्रक्रिया है चेतना को बदलने की, चेतना को समझने की और चेतना के रूपान्तर की। हम ध्यान के द्वारा अपनी चेतना का निर्माण करते हैं, उस चेतना का निर्माण करते हैं कि क्रोध की स्थिति है, वातावरण है पर

क्रोध नहीं आ रहा है। अहंकार की स्थिति है पर अहंकार नहीं जाग रहा है। लड़ने का पूरा वातावरण है, पूरी स्थिति है, पर लड़ाकू वृत्ति काम नहीं कर रही है। यह कैसे हो सकता है? यह सब चेतना के रूपान्तरण के द्वारा ही हो सकता है। मनोबल इतना बढ़ जाता है कि ये सारी स्थितियां अपना प्रभाव नहीं डालतीं। हम दूर क्यों जाएं, आचार्य भिक्षु को ही लें। किसी ने कहा कि आपका मुंह देखने वाला नरक में जाता है। उन्हें यह सुनकर गुस्सा नहीं आया। कोई व्यक्ति आकर कहे कि आपका मुंह देखने वाला नरक में जाता है, क्या गुस्सा नहीं आएगा? स्वाभाविक है, आना चाहिए। न आए तो अधिक मानता हूं। उस स्थिति में आचार्य भिक्षु ने कहा—'ठीक है, बहुत अच्छी बात है। तुम्हारा मुंह देखने वाला स्वर्ग में जाता है। बहुत अच्छा हुआ, मैंने तुम्हारा मुंह देखा, मैं स्वर्ग में जाऊंगा और तुम अपनी जानो।'

यह बात कैसे हो सकती है? तभी हो सकती है जब चेतना का रूपान्तरण हो जाए। यहां परिस्थितिवाद को एक चुनौती है। लोग विश्वास करते हैं कि जैसी परिस्थिति होती है वैसा आदमी बनता है। मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि परिस्थिति होने पर भी आदमी वैसा नहीं बनता, यदि चेतना वैसी बन जाती है।

आचार्य तुलसी के पास एक भाई आकर बोला—मैं आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूं। आचार्यश्री ने कहा—किसलिए? कहा—नहीं, करना चाहता हूं। आचार्यश्री ने कहा—शास्त्रार्थों का युग बीत गया। पुराना जमाना था, वह अखाड़ों का युग बीत गया। किसलिए करना चाहते हो? आदमी बहुत भला था, साथ ही ईमानदार भी था। ईमानदार न होता तो मन की बात नहीं कहता। उसने साफ-साफ बात कह दी—मैं आपको पराजित करना चाहता हूं, हराना चाहता हूं। आचार्यश्री ने कहा—इतनी छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा शास्त्रार्थ। यह बहुत छोटी-सी बात है, हराने की बात। तुम्हारा उद्देश्य तो यही है कि शास्त्रार्थ कर आचार्य तुलसी को हराना चाहते हो, तो क्यों इतना अड़ंगा रचते हो भई? मान लो तुम कि तुम जीते और मैं हारा। बात समाप्त है।

क्या परिस्थिति नहीं है कि कोई आदमी आकर कहे कि मैं तुम्हें हराना चाहता हूं और उत्तेजना न आए। यह कोई बात कह दे कि मैं तुम्हें हराना चाहता हूं, वह कब हराएगा, पता नहीं पर ऐड़ी से चोटी तक पसीना आ जाए और साथ-साथ लाली भी छा जाए। बड़ी समस्या होती है। हम इस अन्ध-

विश्वास में न जाएं, इस भ्रांति में न जाएं कि जैसी परिस्थिति होती है, आदमी वैसा बनता है। मानता हूं, जब तक चेतना नहीं बदलती, ध्यान के द्वारा व्यक्ति अपना रूपान्तरण नहीं करता, तब तक तो यह सचाई है कि जैसी परिस्थिति, वैसी चेतना और वैसा आदमी। किन्तु जब ध्यान के द्वारा हम एक प्रकार की अपनी चेतना का निर्माण कर लेते हैं, अपने मनोबल को बढ़ा लेते हैं तो परिस्थिति आती है और हम उससे कभी प्रभावित नहीं होते। हम वही करते हैं जो अपनी चेतना के स्तर पर घटित होता है। हजारों घटनाएं हमारे सामने हैं। यह परिस्थितिवाद आत्मवाद के सामने, चैतन्यवाद के सामने कार्यकर नहीं होता।

सन्तुलन, तटस्थता—ये सारी घटनाएं परिवर्तित चेतना में ही घटित होती हैं। मैं ध्यान को जिस रूप में देखता हूं—वह रूप है केवल एक वर्तमान का क्षण। मेरी दृष्टि में अहिंसा, ध्यान, साधुत्व ये कोई दो नहीं हैं, बिलकुल नहीं हैं। जो अहिंसा की परिभाषा है वही ध्यान की परिभाषा है। जो ध्यान की परिभाषा है वही अहिंसा की परिभाषा है। जैन आचार्यों ने अहिंसा की परिभाषा की कि राग-द्वेषमुक्त चेतना या राग-द्वेषमुक्त क्षण का नाम है—अहिंसा। जिस क्षण में, जिस चेतना में न राग, न द्वेष, उस क्षण का, उस चेतना का नाम है—अहिंसा। ध्यान की परिभाषा और क्या है? जिस चेतना में न राग, न द्वेष केवल समता, उस चेतना का नाम है—ध्यान। जब हमें प्रियता की अनुभूति नहीं, अप्रियता की अनुभूति नहीं, राग का संवेदन नहीं, द्वेष का संवेदन नही, वह हर क्षण हमारा ध्यान है। फिर चाहे हम भोजन करते हैं, चलते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं, वह भी ध्यान है। सोने में भी ध्यान घटित होता है। आप यह न मानें कि जागने में ही ध्यान होता है। सोने में भी ध्यान होता है और सोने में भयंकर विलाप भी होता है। एक आदमी नींद लेता है, नींद में भयंकर अत्याचारी होता है। एक आदमी नींद लेता है, नींद में महाध्यानी भी होता है। नींद भी हमारी चेतना की एक अवस्था है। जागना भी हमारी चेतना की एक अवस्था है। दोनों हमारी चेतना की अवस्थाएं हैं और ध्यान भी हमारी चेतना की एक अवस्था है। जब ध्यान की स्थिति चेतना में अवस्थित हो जाती है तो फिर सोते-जागते कोई फर्क नहीं पड़ता। सीता ने एक संकल्प दोहराया अपना, जब अग्नि की प्रज्वलित ज्वालाएं सामने धधक रही हैं, उसके तट पर जाकर महासती ने कहा कि मन में, वचन में और शरीर में—जागृत अवस्था में भी, स्वप्न में भी,

नींद में भी यदि राघव के सिवाय, रामचन्द्र के सिवाय किसी के प्रति पति का भाव आया हो तो अग्नि मुझे जला डाले। क्या कोई कह सकता है ? जागने की बात कहना भी कठिन है, क्या कोई नींद की बात कह सकता है ? किन्तु जिसकी चेतना बदल गयी, फिर नींद में भी वह घटना घटित नहीं हो सकती। नींद में भी वे घटनाएं तब घटित होती हैं जब हमारीं चेतनाएं रूपान्तरित नहीं होती हैं। जब चेतना ही बदल गयी तो फिर नींद क्या और जागना क्या ? यह भेद-रेखा ही समाप्त हो जाती है। इसीलिए भगवान् महावीर की वाणी हमें मिलती है—**'सुत्ता अमुणिणो, मुणिणो सया जागरंति'**—अमुनि हैं वे जो सदा सोये हुए हैं। अज्ञानी आदमी जिसे ज्ञान उपलब्ध नहीं है, जिसकी चेतना में ज्ञान घटित नहीं है वह सोया है चाहे दिन के बारह बजे हों, या चार बजे हों। सदा सोया हुआ है। और जिसकी चेतना में रूपान्तरण हो गया, ज्ञानी बन गया, मुनि बन गया, चाहे रात के बारह बजे हों या दो—सदा जागता रहता है। जागना और सोना—ये दोनों चेतना के साथ जुड़े हुए हैं। ध्यान का सबसे बड़ा उद्देश्य है चेतना का रूपान्तरण। चेतना का इस प्रकार रूपान्तरण कर लेना कि हर क्षण में चेतना वैसी चले, हर क्षण में चेतना एक समान रहे, हर वातावरण में चेतना एक जैसी रहे। बहुत कठिन समस्या मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है। इस समस्या पर हमें विचार करना है। और उसका निर्माण कैसे संभव हो सकता है, उस सम्भावना पर भी विचार करना है। आपने पहले ही सुना कि हम लोग केवल इस पर विश्वास नहीं करते कि ऐसा करना है। हम तो इस पर विश्वास कर सकते हैं कि इसकी प्रक्रिया क्या है, इसका उपाय क्या है ? यह कैसे संभव हो सकता है ? यह विश्वास है कि जितने अपाय हैं उतने ही उपाय हैं। एक भी अपाय ऐसा नहीं जिसका उपाय न हो। प्रत्येक बात का उपाय है। उपाय को हमें खोजना है। हमें यथार्थ पर विचार करना है और यथार्थ के साथ ध्यान को समझना है। यदि ध्यान को एक सत्य के रूप में, एक बदलती हुई चेतना की अवस्था के सूत्र रूप में स्वीकार करेंगे तो ध्यान से बहुत कुछ उपलब्ध होगा और मात्र ध्यान को एक हल्का-सा मनोविनोद, आराम और विश्राम के रूप में स्वीकार किया तो जो मिलना चाहिए वह पूरा नहीं मिलेगा। जब तक हमारी चेतना की एक विशिष्ट अवस्था निर्मित नहीं होती तब तक पूर्णता नहीं आती। हर बात के साथ एक-न-एक कमी रह जाती है। किन्तु जब चेतना का एक स्तर ऐसा निर्मित होता है, ये सारी

अधूरी बातें पूरी हो जाती हैं, आकांक्षा ही समाप्त हो जाती है और अधूरापन समाप्त हो जाता है, अपेक्षा समाप्त हो जाती है। हम इस प्रकार की चेतना का विकास करने के लिए और मनोबल को बढ़ाने के लिए ध्यान की विशिष्ट आराधना कर रहे हैं। वह ध्यान जो हमारी चेतना का ही एक प्रकार है, कोई अलग से नहीं। हमारी चेतना की एक ऐसी अवस्था है और वह अवस्था कि जिसके प्राप्त होने पर बहुत-सी काल्पनिक अवस्थाएं जो चेतना के समुद्र में एक तरंग के रूप में आती हैं, अपने आप विलीन होती हैं और हमारी चेतना का समुद्र सहज, शान्त बन जाता है।

अपने प्रभु का साक्षात्कार

युवराज भद्रबाहु अपने मित्र सुकेशी के साथ जा रहा था। देखा, श्मशान में मुर्दा जल रहा है। भद्रबाहु ने पूछा—'सुकेशी ! यह क्या हो रहा है ?'

सुकेशी बोला, 'राजकुमार ! मुर्दे को जलाया जा रहा है।'

नाक-भौं सिकोड़ते हुए कुमार बोला—'कोई कुरूप होगा।'

सुकेशी ने कहा—'नहीं, बहुत सुन्दर था यह !'

'तो फिर क्यों जलाया जा रहा है ?'

'मर गया और मरने के बाद जलाना ही होता है। कितना ही सुन्दर हो, जो मर गया, मरने के बाद उससे दुर्गंध आने लग जाती है। शरीर गल जाता है, सड़ जाता है। उसे जलाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।'

यह सुनते ही भद्रबाहु का अहंकार चूर-चूर हो गया। उसे अपने सौन्दर्य पर बहुत गर्व था। अपने आप को बहुत सुन्दर मानता था और अपने शरीर पर बहुत गर्व था। वह एकदम चूर हो गया।

उसने सोचा—क्या इस शरीर को भी जलना होगा ? क्या यह एक दिन जल जाएगा ?

भद्रबाहु जो सदा प्रसन्न रहता था, जो फूल सदा विकस्वर था, वह मुरझा गया, कुम्हला गया, उसमें सिकुड़न पैदा हो गई। प्रतिदिन यह मनोव्यथा उसे सताने लग गई। सुकेशी ने सोचा, काम अच्छा नहीं हुआ। महाराज भी चिन्तित हो गए कि राजकुमार को क्या हो गया ? क्या किया जाए ? बहुत समझाया, पर कुछ नहीं समझ पाया। आखिर सिद्धाचार्य, सिद्धयोगी, महाचार्य के पास ले गए। उन्होंने सारी स्थिति जानी और कहा—'कुमार ! तुम अभी भूल रहे हो। शरीर सुन्दर नहीं होता। सुन्दर होता है शरीर में होने वाला चैतन्य। शरीर का क्या सुन्दर और क्या असुन्दर ? तुम शरीर में मत उलझो। यह मात्र एक उपकरण है, एक साधन है। इसे इतना ही मूल्य दो जितना इसका मूल्य होता है।'

बहुत बार हम ठीक मूल्य प्रस्थापित करना नहीं जानते। जिसका मूल्य कम होता है, उसे अतिरिक्त मूल्य दे देते हैं और जिसका अतिरिक्त मूल्य होता है, उसे कम मूल्य देते हैं। ये सारी व्यवस्था की गड़बड़ियां मूल्यों की व्यवस्था

की गड़बड़ी के कारण होती हैं। जिसका जितना मूल्य, उसे उतना मूल्य देना जान जाएं तो जीवन की बहुत सारी समस्याएं अनायास सुलझ जाती हैं। समस्याओं की उलझनों का मूल कारण है मूल्य का अतिक्रमण। यह अतिक्रमण मिट जाए, फिर समस्या ही क्या है ?

दुनिया में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं जो सर्वथा मूल्यहीन हो और ऐसा भी कोई तत्त्व नहीं, जिसका सर्वत्र मूल्य हो। दुनिया में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो सर्वमूल्य की अधिकारी बन सके और ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो मूल्य-शून्य हो, जिसका कोई भी मूल्य न हो। अपने स्थान पर सबका मूल्य होता है।

पूज्य कालूगणी का एक वाक्य बहुत बार चित्त को आन्दोलित करता है। अंतिम अवस्था में, जीवन की संध्या में, उन्होंने सब साधुओं को याद किया और कहा—अमुक साधु ने मेरी बहुत सेवा की है। अमुक साधु ने बहुत सेवा की है। कोई छोटा साधु विशेष सेवा न कर सका तो भी उन्होंने कहा—इसने भी कम से कम पार्श्व बदलने में, करवट बदलने में, सहारा दिया है। और कुछ नहीं तो एक झोली भरकर धूली भी लाया है बाहर से। सेवा का मूल्यांकन, जिसकी जितनी सेवा उसका उतना मूल्यांकन।

हमारी समस्या का मूल आधार है कि हम जीवन के कुछ तत्त्वों को ज्यादा मूल्य देते हैं और कुछ तत्त्वों को कम मूल्य देते हैं। यदि मूल्यों का सन्तुलन स्थापित हो जाए तो फिर ध्यान सधता है, साधना स्वयं सिद्ध होती है और जीवन की समस्या स्वयं सुलझती है।

जीवन के तीन तत्त्वों की कल चर्चा की थी—श्वास, प्राण और चेतना। श्वास का हमारे जीवन में बहुत मूल्य है। प्राण का हमारे जीवन में बहुत मूल्य है और चेतना का हमारे जीवन में बहुत मूल्य है। मैं नहीं कह सकता कि तीनों का समान मूल्य है। तीनों के मूल्यों में तारतम्य है। उस तारतम्य को ठीक समझ लें और जिसका जितना मूल्य है उसको उतना मूल्य देना जान जाएं तो एक नयी दिशा का उद्घाटन होगा।

यह स्थिति तब सम्भव हो सकती है, जब हम अन्तर्दृष्टि से जीवन को देख सकें। जीवन को देखने की दो दृष्टियां होती हैं—एक है बाह्यदृष्टि और दूसरी है आन्तरिक दृष्टि। जब बाह्यदृष्टि से जीवन को देखते हैं तब जीवन की एक दूसरे प्रकार की प्रतिमा उभरती है। जब आन्तरिक दृष्टि से देखते हैं तो जीवन की दूसरे प्रकार की प्रतिमा निर्मित हो जाती है।

मनोबल की चर्चा कर रहे हैं। जीवन की बाह्यदृष्टि होती है तो मनोबल क्षीण होता है। जीवन को देखने की दृष्टि आन्तरिक होती है तो मनोबल का विकास होता है। मनोबल के विकास का पहला सूत्र है—जीवन को देखने की आन्तरिक दृष्टि का विकास।

श्वास हमारे जीवन का पहला तत्त्व है, गहन तत्त्व है। मुझे प्रतीत होता है, दुनिया के जितने बड़े विद्वान् हैं, पढ़े-लिखे लोग हैं, आज के विश्वविद्यालयों की विद्या की अनेक पद्धतियों में जिन्होंने बहुत विकास किया है, उन लोगों ने भी अपने जीवन की गहन गुत्थियों को सुलझाने के लिए श्वास का थोड़ा भी अध्ययन नहीं किया, बड़े ही आश्चर्य की बात है।

श्वास का हमारे जीवन के साथ, हमारी आदतों और वृत्तियों के साथ. लेश्याओं के साथ बहुत गहन सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। सामान्य आदमी की धारणा है कि जितने श्वास लेना है, उतना ही जीना है। एक श्वास कम नहीं होगा, एक श्वास ज्यादा नहीं होगा। यह सामान्य धारणा की चर्चा कर रहा हूं। विशेष स्थिति अलग बात है। हम एक मिनट में पन्द्रह श्वास लेते हैं। सामान्य स्थिति में बैठे-बैठे पन्द्रह श्वास लेते हैं। जब चलते हैं, श्वास की संख्या बढ़ जाती है। अठारह श्वास हो जाते हैं। बोलते हैं तो श्वास की संख्या और बढ़ जाती है। बीस श्वास हो जाते हैं। नींद लेते हैं तो श्वास की संख्या और बढ़ जाती है। तीस श्वास हो जाते हैं। आवेश आता है, क्रोध, अहंकार, इस प्रकार की उत्तेजना, वासना जब भरती है तो श्वास की संख्या चालीस, पचास, साठ तक चली जाती है। श्वास की संख्या घटती और बढ़ती रहती है। उसके आधार पर हमारी शक्तियों का भी व्यय कम या अधिक होता है। जितनी श्वास की संख्या ज्यादा होगी, उतना शक्ति का व्यय ज्यादा होगा। जितनी श्वास की संख्या कम होगी, उतना शक्ति का व्यय कम होगा।

दीर्घ श्वास प्रेक्षा के अभ्यास में साधक श्वास लम्बा करता है और उसका अनुभव करता है। वह प्रत्येक श्वास को जानते हुए लेता है। आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि जब चित्त की वृत्ति शांत होती है, तब दीर्घ श्वास होता है। उलटकर कहें तो जब दीर्घ श्वास होता है, तब चित्त की वृत्ति शान्त होती है। जैसे ही चित्त में अशान्ति का उद्गम हुआ, कोई अंकुर फूटा और सबसे पहला प्रभाव श्वास पर होगा। श्वास छोटा होने लग जाएगा। छोटे श्वास में आवेग उतरते हैं। अथवा जब आवेग उतरते हैं तब श्वास को

छोटा बना देते हैं। यह कभी नहीं हो सकता कि लम्बा श्वास चले, दीर्घ श्वास चले और आवेग भी आ जाए। दोनों घटनाएं एक साथ घटित नहीं हो सकतीं।

श्वास का हमारे जीवन के साथ सम्बन्ध है, आदतों के साथ सम्बन्ध है। श्वास-परिवर्तन के साथ सारी बातें सम्बन्धित हैं। अभी तक आप केवल श्वास का अनुभव कर रहे हैं। श्वास आ रहा है। श्वास जा रहा है। जैसे-जैसे अभ्यास की पटुता बढ़ेगी, फिर आपको दूसरे अनुभव होंगे। श्वास के स्पर्श का अनुभव करेंगे। श्वास ठंडा आ रहा है या गर्म आ रहा है—इसका भी अनुभव करेंगे। श्वास की गंध का अनुभव करेंगे। श्वास की गंध सदा एक प्रकार की नहीं रहती। कभी श्वास की गंध बहुत मधुर होती है तो कभी श्वास की गंध बहुत कड़वी होती है। जिस प्रकार का अन्तर्भाव होता है, जिस प्रकार की लेश्या होती है, जिस प्रकार की भावधारा होती है, श्वास की गंध बदल जाती है। श्वास की गंध का अनुभव कर, अपने भीतर छिपी स्वास्थ्य-धारा का अनुभव कर सकते हैं।

एक बात पर विश्वास करें। सूक्ष्म जगत् में जो घटना घटित होती है, वह स्थूल जगत् में बहुत समय के बाद आती है। आज के विज्ञान ने इस सत्य को बहुत उजागर किया है। मनुष्य के शरीर में जो बीमारी पैदा होती है, वह बीमारी उसी दिन पैदा नहीं होती। हमारे सूक्ष्म शरीर में वह बीमारी दो-तीन महीने पहले पैदा हो जाती है और स्थूल शरीर में कुछ महीनों के बाद पैदा होती है। इसी आधार पर आज संभावनाएं आगे बढ़ रही हैं कि भविष्य में सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा बीमारी की पूर्व घोषणाएं होंगी और मृत्यु की भी पूर्व घोषणाएं होंगी। भारतीय योग के आचार्यों ने, अध्यात्म के आचार्यों ने इस दिशा में बहुत काम किया हैं। बीमारी की पूर्व घोषणा, मृत्यु की पूर्व घोषणा की अनेक पद्धतियां उन्होंने विकसित की थीं। योगशास्त्र उन पद्धतियों का बहुत लम्बा विवरण प्रस्तुत करते हैं। अपनी छाया का बोध, अपने स्वर का बोध, अपनी आकृति को देखने का बोध—ये सारे बोध भविष्य की सूचनाएं देते हैं। जो कार्य शायद आज यन्त्र नहीं कर पा रहे हैं, वे अपने स्वर के द्वारा होते थे। यहां स्वरों का बहुत सूक्ष्म विकास हुआ था। इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करेंगे कि सूक्ष्म जगत् में घटनाएं बहुत पहले घटित हो जाती हैं, स्थूल जगत् में वे बाद में आती हैं। श्वास की गंध के द्वारा जाना जा सकता है कि शरीर में क्या परिवर्तन होने वाला है। वृत्तियों के परिवर्तन के

साथ, चेतना के बदलने के साथ श्वास का स्पर्श बदलता है, श्वास का रस बदलता है, श्वास की गंध बदलती है और श्वास की ध्वनि भी बदलती है। ये सारी चीजें बदलती हैं।

जैन आचार्यों ने एक बात पर प्रकाश डाला था कि तीर्थंकर के शरीर में बहुत सुगंध फूटती है, उनके श्वास में बहुत मधुर गंध होती है, उनके शरीर में से मधुर गंध निकलती है। यह एक लक्षण बन गया था सिद्धयोगी का कि जिसकी साधना सिद्ध हो रही है, उसकी गंध को पहचान लो। शरीर में से किस प्रकार की गंध निकल रही है, निःश्वास में से किस प्रकार की गंध निकल रही है। यह श्वास अतीत और वर्तमान की व्याख्या करने वाला तथा भविष्य को निरूपित करने वाला जीवन का एक बहुत बड़ा तत्त्व है, पर हम स्वयं सोचें कि क्या हमने श्वास को उचित मूल्य दिया है? हमारी दृष्टि में जितना रोटी का मूल्य है, जितना पानी का मूल्य है, उतना श्वास का मूल्य नहीं है। खाए बिना हम विश्वास नहीं करते कि जीवित रह सकेंगे? पीए बिना हमारा विश्वास नहीं कि हम स्वस्थ रह सकेंगे? संतुलित भोजन की चर्चा करते हैं। पानी की हम चर्चा करते हैं। दवा पर भी हमारा विश्वास है। पर श्वास पर हमारा कोई विश्वास नहीं। यदि हमारा श्वास पर विश्वास होता तो हमें रोटी-पानी से अधिक चिन्ता श्वास की होती। किन्तु दुनिया का एक नियम है कि जो ज्यादा मूल्यवान होता है, उसका उतना ही कम मूल्य आंका जाता है। जो जितना अनिवार्य होता है, उसका उतना ही कम मूल्य आंका जाता है। जीवन के लिए रोटी और पानी की उतनी अनिवार्यता नहीं है, जितनी अनिवार्यता श्वास की है, पर हमारी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है।

हमारे सामने एक समस्या है—श्वास का अवमूल्यन। इससे आगे की समस्या है—प्राण का अवमूल्यन। श्वास का बहुत मूल्य है। किन्तु श्वास से भी अधिक मूल्य है हमारी प्राणधारा का। प्राण है तो श्वास है। यदि प्राण नहीं है तो श्वास होगा ही नहीं। प्राण श्वास का संचालन करता है, श्वास प्राण का संचालन नहीं करता। प्राण श्वास से ऊपर का तत्त्व है। प्राण से भी अधिक मूल्य है हमारी चेतना का। चेतना है तो प्राणशक्ति निर्मित होती है, और चेतना नहीं है तो प्राण का निर्माण नहीं होगा, श्वास का संचालन नहीं होगा। ये तीन तत्त्व—श्वास, प्राण और चेतना हमारे सामने हैं। इन तीनों को देखने की अन्तर्दृष्टि का विकास मनोबल के विकास का पहला सूत्र है।

आज मनोबल के विकास के दूसरे सूत्र की संक्षिप्त-सी चर्चा मुझे करनी है। वह है अपने अस्तित्व का बोध। हमें अपने अस्तित्व के बारे में जानकारी नहीं है। हमें दर्शन की शक्ति प्राप्त है। हम द्रष्टा हैं, ज्ञाता हैं। जानते हैं, देखते हैं। पर हमारे सामने देखने के विषय दो हैं—एक कर्म और दूसरा कर्ता। हमारा सब्जेक्टिव माइण्ड और ऑब्जेक्टिव माइण्ड। हमारे सामने जितना ऑब्जेक्ट है, जितना कर्म है, जितना विषय है और पदार्थ है उस पर हमारा दर्शन अटका हुआ है। पदार्थ-दर्शन में हमारी दृष्टि प्रतिबद्ध हो गई है। हम देखते हैं दूसरे को या पदार्थ को या पर को। किसी व्यक्ति को देखते हैं या पदार्थ को देखते हैं। हमारे जीवन के सारे क्षणों का लेखा-जोखा किया जाए तो निष्कर्ष होगा कि हमारे समय का ९५ प्रतिशत भाग पर दर्शन या पदार्थ-दर्शन में बीतता है। पांच प्रतिशत स्व-दर्शन या चैतन्य-दर्शन में बीतता होगा। यह पांच प्रतिशत भी बहुत ज्यादा है। बहुत लोगों का तो शायद शत-प्रतिशत समय पदार्थ-दर्शन में ही बीतता है। यह संतुलन बिगड़ गया। यह सच है कि पदार्थ-दर्शन के बिना जीवन की यात्रा नहीं चल सकती। पर-दर्शन के बिना समाज की व्यवस्था नहीं चल सकती। अनिवार्यता है। हम उसे छोड़ नहीं सकते। किन्तु एक संतुलन तो होना चाहिए। हम केवल दूसरे को ही न देखें, पदार्थ को ही न देखें, संसार को ही न देखें, उसके साथ अपने आपको भी देखें। यह संतुलन बना रहे। प्रतिदिन हमारा यह अभ्यास चले कि दूसरे को देखें तो अपने आपको भी देखें। ऐसा करने से संतुलन नहीं बिगड़ेगा। समस्या नहीं उलझेगी। आज तो संतुलन खो गया है। परिणाम क्या हुआ ? अहंकार बढ़ा, ममकार बढ़ा। समस्याओं को पैदा करने वाली हमारी दो अवस्थाएं हैं—अहंकार का विकास और मम-कार का विकास। ये दो समस्याएं सारी समस्याओं को जन्म देती हैं। आदमी दूसरे को देखेगा तो अहंकार बढ़ेगा, पदार्थ को देखेगा तो अहंकार बढ़ेगा। एक संस्कृत कवि ने बहुत सुन्दर लिखा है—

अधोऽधो पश्यतः कस्य, महिमा नो गरीयसी।
उपर्युपरि पश्यन्तः, सर्व एव दरिद्रति॥

आदमी में हीन भावना पैदा होती है या अहंकार की भावना पैदा होती है। ये दो मानसिक ग्रन्थियां सारी समस्याओं को जन्म देती हैं। दो कॉम्प्लेक्स हैं। दो ग्रन्थियां हैं, जो सारी उलझनें पैदा करती हैं। कवि ने बहुत अच्छा लिखा है। अपने से नीचे को आदमी देखता है, नीचे से नीचे को, तो अहं-

कार बढ़ता है। एक लखपति को करोड़पति देखता है। अहंकार बढ़ता है। करोड़पति को अरबपति देखता है तो उसे बहुत छोटा लगता है। अहंकार बढ़ता है। एक कर्मचारी को उसका बड़ा अधिकारी देखता है। अहंकार बढ़ता है, उसे बड़ा अधिकारी देखता है तो अहंकार बढ़ता है। यानी अपने से छोटे को देखते जाओ, अहंकार बढ़ने का बड़ा उपाय है। किन्तु जब अपने से ऊपर के लोगों को देखना शुरू करो तो हीनता की भावना बनी रह जाएगी। हर आदमी दरिद्र होता है। जब एक करोड़पति बिड़ला-टाटा को देखता है तो अपने आपको कुछ भी नहीं लगता। वह अपने को गरीब मानने लग जाता है।

पदार्थ को देखने से, पर को देखने से दो अवस्थाएं फलित होती हैं—अहंकार या हीनता की भावना। इसके सिवाय और कोई भी परिणाम नहीं आता। जब तक हमारी दृष्टि 'पर' में उलझी रहेगी, जब तक हमारी दृष्टि पदार्थ में उलझी रहेगी, तब तक इस हीनता की ग्रंथि को, अहंकार की ग्रंथि को नहीं रोका जा सकता। ममकार भी बढ़ता है। पदार्थ के प्रति दृष्टि जाती है और ममत्व बढ़ जाता है। व्यक्ति के प्रति समारी दृष्टि जाती है और ममत्व बढ़ जाता है। ममत्व-हीनता और अहं की ग्रंथि को समाधान देने का एक उपाय खोजा गया अध्यात्म के आचार्यों के द्वारा, और वह उपाय है स्व-दर्शन। 'कभी-कभी तो अपने भीतर भी झांक लिया करें।' स्व को देखने का, अन्तर्दर्शन का, अपने आपको देखने का परिणाम होता है, समता या परमात्म-दर्शन।

भारतीय दर्शन में परमात्म-दर्शन की बहुत बड़ी चर्चा है। बहुत लोग कहते हैं कि परमात्मा का दर्शन हो। एक बहन ने कहा कि मुझे परमात्मा का दर्शन करना है। भगवान् का दर्शन करना है। मैंने कहा—कर सकती हो। उसने कहा—कैसे करूं ? बड़ी उलझी हुई बात है। परमात्मा बड़ा सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है। जिस व्यक्ति की अतीन्द्रिय चेतना जागृत नहीं होती, वह परमात्मा को कैसे देख सकता है ? पर निश्चित मानें कि हमारी दुनिया में उपायों की कोई कमी नहीं है। कोई खोजे तो हर बात का उपाय है। बीमारी है तो उसकी दवा भी है। चिकित्सा भी है। उपाय भी है। परमात्मा को देखने की भी एक पद्धति है। यदि आपको परमात्मा का दर्शन करना हो तो अपना दर्शन करें। परमात्मा के दर्शन का एक सीधा उपाय है, जिस क्षण में हमारे मन में हीनता या अहंकार की वृत्ति होती है, उस समय हमारा

परमात्मा लुप्त हो जाता है, छिप जाता है, चला जाता है। जिस क्षण में हमारी चेतना में समता का अनुभव होता है, न राग, न द्वेष, न दीनता, न अहंकार, न कोई छोटा, न बड़ा—यह समता की चेतना ही परमात्मा है। परमात्मा कोई ऊपर से नहीं आता, आकाश से नहीं आता। न किसी धरती से निकलता है। अपनी चेतना में जब-जब समता का अवतरण होता है, वही है हमारा परमात्मा।

जैन आचार्यों ने जिस नमस्कार महामंत्र की चर्चा की, उसे महामंत्रों की कोटि में इसलिए मानता हूं कि उन्होंने परमात्मा की बहुत यथार्थ व्याख्या हमारे सामने प्रस्तुत की। पांच परमात्मा हैं—अर्हत् परमात्मा, सिद्ध परमात्मा, आचार्य परमात्मा, उपाध्याय परमात्मा और साधु परमात्मा। इतना व्यापक अर्थ दे दिया कि साधु यानी साधना करने वाला हर व्यक्ति परमात्मा है। जो व्यक्ति अपनी चेतना की साधना करता है, वह हर व्यक्ति परमात्मा है। साधना का सूत्र है समता। जिसने समता का मूल्यांकन किया है, जिसने समता को जीना सीखा है और इन राग-द्वेष की ग्रंथियों, हीनता और अहंकार से ऊपर उठकर समत्व का अनुभव किया है, वह हर व्यक्ति परमात्मा है। समता के क्षण का जो अनुभव करता है, वह परमात्मा का दर्शन करता है। यह न मानें कि इस जमाने में परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। बहुत सारे लोग कहते हैं कि सतयुग में तो परमात्मा का दर्शन होता था, आज परमात्मा का दर्शन नहीं होता। सतयुग में तो भगवान् बनते थे, अवतार बनते थे, आज कोई अवतार नहीं बनता। क्यों नहीं बनता? क्या काल इतनी भेदरेखा खींचता है? एक काल में तो वह घटना घटित हो सकती है, दूसरे काल में नहीं हो सकती। अगर देश और काल में भी इतना पक्षपात हो जाएगा तो दुनिया में निष्पक्ष और तटस्थ कोई व्यक्ति मिलेगा ही नहीं। देश और काल, इसमें कोई पक्ष नहीं होता। सारी घटनाएं जो सतयुग में घटित होती थीं, वे आज भी घटित हो सकती हैं और मुझे लगता है, सतयुग और कलियुग की भेदरेखा खींचकर हमने मनुष्य को बहुत पीछे ढकेल दिया। इतना पीछे ढकेल दिया, हमारी चेतना इतनी प्रतिबद्ध हो गई कि हमारे सामने गढ़ा-गढ़ाया एक उत्तर है कि भई! आज तो कलियुग है, यह नहीं कर सकते। अरे भाई, बुरे आचरण क्यों करते हो? आज तो कलियुग है। नीचे क्यों जाते हो? आज तो कलियुग है। एक ऐसा बहाना मिल गया नीचे जाने का कि हर बुराई कलियुग की ओट में की जा सकती है। यह जमाने की दुहाई, कलियुग

की दुहाई, न जाने क्यों दी गई ? देने वालों ने कुछ सोचा होगा। किन्तु यह अच्छा नहीं हुआ। मैं समझता हूं कि अपनी कमजोरी को छिपाने का इससे सीधा कोई सौदा हो नहीं सकता। बहुत सीधा सौदा है। आपको आश्चर्य होगा कि जिसे हम सतयुग मानते हैं, उसमें भी ये दुहाइयां दी जाती थीं। मैंने दो सौ वर्ष पुराना एक पत्र पढ़ा किसी व्यक्ति को दिया हुआ। उसने अपने पुत्र को लिखा है—देखो, बड़ी सावधानी से काम करना। जमाना हलाहल खराब आ गया है। सावधान रहना। आज किसी पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यह तो दो सौ वर्ष पुराने पत्र की बात है। दो हजार वर्ष पुराना पत्र मिले तो उसमें भी यही लिखा होगा कि जमाना बड़ा हलाहल है। और बीस हजार वर्ष पहले का मिलेगा तो उसमें भी यही हलाहल की बात होगी। हर युग में आदमी अपनी सारी कमजोरियों को देश और काल पर डालकर अपने आप को मुक्त कर लेता है, छुट्टी पा लेता है। हम इन बातों में न उलझें। काल को अपना आवरण न बनाएं।

सबसे बड़ा होता है पुरुषार्थ। पुरुषार्थी व्यक्ति देश और काल का अतिक्रमण करके भी कुछ कर लेता है। यह समता देशातीत और कालातीत होती है। परमात्मा देशातीत और कालातीत होता है। यदि समता भी देश और काल से प्रतिबद्ध हो तो मैं मानता हूं कि समता का मूल्य भी घट जाएगा। अगर परमात्मा भी किसी देश और काल के साथ जुड़ा हुआ हो कि अमुक समय में परमात्मा हो सकता है और अमुक समय में हो नहीं सकता। दो-ढाई हजार वर्ष पहले परमात्मा का दर्शन हो सकता था और आज नहीं हो सकता, दरवाजा बन्द हो गया तो परमात्मा भी निकम्मा है, हमारे कोई काम का नहीं। उसे उसके साथ में जुड़ा रहने दो। हमारे किस काम का ? यह समता देशातीत और कालातीत है। इसीलिए समता परम सत्य है। परमात्मा है। जो सत्य देश और काल से प्रतिबद्ध हो जाता है, वह वास्तव में सत्य नहीं होता। वह देश और काल का गुलाम बन जाता है। सचाई स्वतंत्र होती है। वह किसी की गुलाम नहीं होती।

यह समता का दर्शन परमात्मा का दर्शन है, आत्मा का दर्शन है, परमात्मा का अनुभव है। जो व्यक्ति सामायिक करता है, समता की साधना करता है, वह व्यक्ति परमात्मा की आराधना करता है, परमात्मा का अनुभव करता है। आज भी ऐसा कर सकते हैं और हजार वर्ष पहले भी ऐसा कर सकते थे। कोई अन्तर आने वाला नहीं। प्राण की साधना, समता की साधना, परमात्मा की साधना है।

मनोबल के विकास का दूसरा सूत्र है—स्व-दर्शन। समता का दर्शन या परमात्मा का दर्शन। आप सोचेंगे कि बात तो बहुत अच्छी है। पर बात वहीं उलझ जाती है कि समता का अनुभव करें कैसे? कैसे करें? कहने से तो होगा नहीं। कोई उपाय होना चाहिए। कोई पद्धति होनी चाहिए। हम समता का दर्शन कैसे करें? हमारी दृष्टि तो हमेशा विषमता पर उलझी रहती है और जब दूसरों को देखेंगे तो उलझेंगी ही।

फ्रांस की युनिवर्सिटी का एक प्रोफेसर अहंकार में आकर बोला—मैं दुनिया का सर्वश्रेष्ठ आदमी हूं। किसी ने पूछ लिया—यह कैसे? उसने कहा—फ्रांस दुनिया का सर्वश्रेष्ठ देश है। पेरिस फ्रांस का सर्वश्रेष्ठ नगर और हमारा विश्वविद्यालय हमारे नगर का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र। दर्शन का विभाग उसमें सर्वश्रेष्ठ। मैं उसका अध्यक्ष। इसलिए मैं सर्वश्रेष्ठ आदमी। कैसा गणित है! हमारी दृष्टि जब दूसरों की ओर जाती है तो यही निष्कर्ष निकलता है कि हम दूसरों को काटते जाते हैं, तोड़ते जाते हैं और दूसरों के सन्दर्भ में हम अपने को सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठापित करते जाते हैं। इसके अतिरिक्त कोई निष्कर्ष निकलता ही नहीं है। जब स्व-दर्शन में आदमी आता है तो उसे अनुभव होता है कि न फ्रांस सर्वश्रेष्ठ, न पेरिस सर्वश्रेष्ठ, न विश्वविद्यालय सर्वश्रेष्ठ, न दर्शन का विभाग सर्वश्रेष्ठ और न विभागाध्यक्ष सर्वश्रेष्ठ। सब समान है। सब व्यक्ति समान, सब देश समान, सब राष्ट्र समान और सब आत्माएं समान। जो समता के क्षण में जाता है, उसे यह नहीं लगता कि यह अलग, यह अलग। उसे लगता हैं कि सब मेरे-जैसे हैं। सब समान हैं। यह समान ही समान का गणित ऐसा चलता है कि अनन्त में से अनन्त निकालो तो भी पीछे अनन्त ही रहेगा। अनन्त मैं अनन्त मिलाओ तो भी अनन्त ही रहेगा। समता में मिलाते जाओ, निष्कर्ष समता। समता में से निकालते जाओ, निष्कर्ष समता।

यह समता की अनुभूति जब जागती है तब एक विचित्र प्रकार का अनुभव होता है। उसे जगाने का जो सूत्र है, वह मनोबल को जगाने का परम सूत्र है। वह खोजा गया और बहुत गहरे में उतरकर खोजा गया। छोटा-सा सूत्र, सिर्फ दो अक्षर का। वह है 'सोऽहं'। यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। आचारांग सूत्र में मिलता है, सारी व्याख्याओं के बाद—सोऽहं। 'वह मैं हूं।' हठयोग में मिलता है—सोऽहं। वह मैं हूं। जो परमात्मा है, वह मैं हूं। आप सोचेंगे कि बड़ा अहंकार हो गया कि जो परमात्मा है, वह मैं हूं। परमात्मा

सबसे बड़ा और अपने आपको परमात्मा मानना कितना बड़ा अहंकार। बहुत बड़ा अहंकार होता है। किन्तु एक नियम को समझ लें कि एक ऐसा पद भी है जहां सारे अपद हो जाते हैं, सारा अहंकार विलीन हो जाता है। कई वर्ष पहले आचार्यजी ने एक बहुत सुन्दर बात कही थी, जो आज भी याद है। तीस वर्ष के बाद भी याद है। अनायास प्रवाह में प्रवचन करते-करते आचार्य-वर ने कहा—केवलज्ञानी होता है, वह सर्वज्ञ होता है। केवलज्ञान सबसे उत्कृष्ट ज्ञान होता है। वह अहंकार करने का अधिकारी है। वह अहंकार कर सकता है। किन्तु वह अहंकार करता नहीं। जो छोटे होते हैं, उन्हें अहं-कार करने का अधिकार नहीं, वे अहंकार में उलझ जाते हैं। मैं इतना पढ़ा-लिखा, इतना बड़ा विद्वान, प्रोफेसर, मैंने पी-एच० डी० किया है, डी० लिट्० किया है, आदि-आदि किया है। सारे लोग उलझ जाते हैं। जिसको अहंकार करने का अधिकार, वह अहंकार करता ही नहीं और जिन्हें अहंकार करने का अधिकार नहीं, वे सारे लोग अहंकार में उलझ जाते हैं। जितने बीच के पद हैं, वे सारे अहंकार पैदा करने वाले हैं। यह परमात्मा का पद ऐसा है, जो अपने आप में अपद है और जहां सारे अहंकार विलीन हो जाते हैं। सोऽहं—जो परमात्मा है, वह मैं हूं। यह एक साधना का सूत्र है, जो श्वास के साथ जुड़ा हुआ है।

जयाचार्य ने आज से सौ वर्ष पहले एक ग्रंथ लिखा। उन्होंने ध्यान की अनेक पद्धतियां बताईं। किन्तु सबसे पहली पद्धति बताई है, सोऽहं का जाप। मन्द श्वास लें। श्वास को मंदा कर दें, लम्बा कर दें, एक ही बात है। श्वास का लम्बा करना या मंद करना। और श्वास की ध्वनि को पकड़ें। श्वास जब लेते हैं तो ध्वनि होती है—'सो' और जब श्वास निकलती है तब ध्वनि होती है—'हं'। यह श्वास का शब्द है 'सोहं'। स्वाभाविक शब्द है। जो लोग दीर्घ श्वास की प्रेक्षा कर रहे हैं, ध्यान का अभ्यास कर रहे हैं, वे अनुभव करें कि श्वास आ रहा है, श्वास जा रहा है। इसका अभ्यास करते-करते, फिर वे करें कि श्वास ले रहे हैं तो 'सो' की ध्वनि हो रही है, श्वास निकाल रहे हैं तो 'हं' की ध्वनि हो रही है। यह 'सोऽहं' श्वास की ध्वनि है। यह प्रतीक है श्वास की ध्वनि का। 'सोऽहं' का एक अर्थ है—जो परमात्मा है, वह मैं हूं। यदि 'सोऽहं' के ध्यान का अभ्यास आपका लम्बा हो चले, उठते-बैठते, जागते-सोते, खाते-पीते आपका ध्यान अटक जाए कि श्वास चल रहा है और 'सोऽहं' का अनुभव हो रहा है तो मनोबल को क्षीण करने वाली सम-

स्याएं, जिनकी चर्चा कल की थी—भय, हीनभावना, अहंकार की भावना और असंतुलन—ये सारी समस्याएं अपने आप क्षीण होने लगती हैं। जब 'सोऽहं' का अनुभव है तो फिर भय किस बात का ? आप भय को मिटाना चाहें, नहीं मिटेगा। आपका आत्मविश्वास ही खोया हुआ है तो भय कैसे मिटेगा ? आत्मविश्वास की कमी भय पैदा करती है और जब तक परमात्म-अनुभव की लम्बी शृंखला आपके ध्यान में नहीं उतर जाती, तब तक भय को समाप्त नहीं किया जा सकता। जब यह स्थिति बनेगी, भय अपने आप ही समाप्त हो जाएगा। जब 'सोऽहं' का अनुभव है तो दीनता और उच्चता की ग्रंथि अपने आप समाप्त होगी, मानसिक असंतुलन समाप्त होगा। ये सारी समस्याएं अपने आप ही सुलझेंगी।

एक बहुत बड़ा सूत्र था 'सोऽहं' का। उस पर हम विचार करें। उसका अभ्यास करें। इन महान् सूत्र के द्वारा हमारा मनोबल बढ़ेगा और मनोबल को क्षीण करने वाली हमारी सारी समस्याएं समाप्त हो जाएंगी।

शरीर और मन का संतुलन

एक प्रश्न उभरता है, साधना का इतना प्रपंच क्यों ? कायोत्सर्ग, श्वास-प्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र-प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अन्तर्यात्रा—इतना प्रपंच क्यों ? हमारा उद्देश्य तो यही है, अप्रमाद आए, जागरूकता बढ़े । इतना छोटा-सा उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के लिए साधना का इतना बड़ा जाल ! यह कैसे उचित होगा ?

प्रश्न स्वाभाविक है । इस प्रश्न का उत्तर उनसे लिया जाए जो मक्खन चाहते हैं । थोड़ा-सा मक्खन चाहिए और उसके लिए कितना बड़ा प्रपंच किया जाता है । गाय या भैंस रखी जाती है । उसे चारा-पानी दिया जाता है । दूध दूहा जाता है । उसे गरम कर जमाया जाता है । फिर बिलौना कर मक्खन निकाला जाता है । छाछ के ऊपर तैरने वाला मक्खन कितना होता है ? छाछ से घड़ा भरा रहता है और उस पर तैरने वाला मक्खन थोड़ा-सा होता है । किन्तु उस थोड़े-से मक्खन को पाने के लिए कितनी सामग्री जुटानी पड़ती है ? कितना अभ्यास करना पड़ता है ? कोई कहे, मुझे थोड़ा-सा मक्खन चाहिए, मैं इतना आयाम क्यों करूं ? वह कभी मक्खन नहीं पा सकता । मक्खन पाने के लिए उसे इतना प्रपंच तो करना ही होगा ।

आज तक न कभी ऐसा हुआ है और न होने वाला है कि साध्य सीधा मिल जाए । साध्य-प्राप्ति का क्षण छोटा होता है । मक्खन निकलता है तो लगता है कि एक मिनट पहले कुछ नहीं था, एक मिनट के बाद मक्खन नितर आया । कुछ भी समय नहीं लगा, परन्तु उसकी प्रक्रिया बहुत लम्बी होती है, साधना लम्बी होती है । किसी भी व्यक्ति ने साध्य प्राप्त किया है तो वह एक निश्चित क्रम से चला है और एक निश्चित प्रक्रिया से उसे पाया है ।

आज की वैज्ञानिक पद्धति से दूध से सीधा मक्खन निकाल लिया जाता है । पर मक्खन निकलेगा दूध से ही । ऐसा नहीं होता कि संकल्प किया और मक्खन निकल गया । वैसी कामधेनु हमारे पास नहीं कि मन चाहा और मक्खन सामने आ गया । वैसा चिन्तामणि रत्न किसी के पास नहीं है कि मन में चिन्तन किया और मक्खन से भरा बर्तन सामने प्रस्तुत हो गया । आखिर

श्रम तो करना ही पड़ता है। किसी एक प्रक्रिया में श्रम कुछ कम हो सकता है और किसी दूसरी प्रक्रिया में श्रम कुछ अधिक हो सकता है। श्रम किए बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

भवन क्यों खड़े किए जाते हैं ? आदमी को केवल छांह ही तो चाहिए। उसकी प्राप्ति के लिए नींव की खुदाई से लेकर भवन-निर्माण तक कितना श्रम करना पड़ता है। कितना समय और चिंतन लगाना पड़ता है ? आखिर तो छांह ही करनी है। सीधा काम लगता है। किन्तु जो काम साध्य की भूमिका पर पहुंचने के बाद सीधा लगता है, वही काम साधना की प्रक्रिया से गुजरते समय बहुत कठिन लगता है।

प्रेक्षा एक प्रक्रिया है। साध्य को पाने की। यह है केवलज्ञान की प्रक्रिया। यह है केवलदर्शन की प्रक्रिया। यह है ज्ञाता-द्रष्टा बनने की प्रक्रिया। इसके द्वारा साधक केवलज्ञानी हो सकता है, केवलदर्शनी हो सकता है, ज्ञाता-द्रष्टा हो सकता है।

प्रश्न सामने आता है कि इस जमाने में कोई केवलज्ञानी या केवलदर्शनी नहीं हो सकता। यह तो पुराने जमाने की बात थी। उस समय केवलज्ञानी भी होते थे, केवलदर्शनी भी होते थे। इस स्थिति में केवलज्ञान या केवल-दर्शन का कथन क्यों ?

हम परिभाषा की जटिलता में न उलझें। केवलज्ञान का सीधा-सा अर्थ है—कोरा ज्ञान, केवल जानना। उसके साथ कुछ भी नहीं जोड़ना। केवल-दर्शन का सीधा-सा अर्थ है—कोरा देखना, उसके साथ कुछ भी नहीं जोड़ना। ज्ञाताद्रष्टा के स्वरूप को विकसित करना। साधना की परम उपलब्धि है—ज्ञाताद्रष्टा होना, साक्षीमात्र होना। जो व्यक्ति साधना नहीं करता, वह व्यक्ति ज्ञाता और द्रष्टा नहीं होता। वह घटना के साथ-साथ बह जाता है। जिस प्रकार की घटना सामने होती है, वैसा ही बन जाता है। लड़ाई की घटना होती है तो लड़ने की तैयारी कर लेता है। रुलाई की घटना होती है तो रोने की तैयारी कर लेता है। हंसने की घटना होती है तो हंसने की तैयारी कर लेता है। हर व्यक्ति घटना के साथ-साथ बहता है और घटना के प्रभाव से प्रभावित हो जाता है। ज्ञाता और द्रष्टा वह होता है जो घटना के साथ नहीं चलता, किन्तु अपनी चेतना के साथ चलता है। यह अवस्था चेतना के स्तर पर घटित होती है। हम हर घटना को, हर परिस्थिति को जानते हैं, देखते हैं, पर उससे प्रभावित नहीं होते। अप्रभावित होने की यह अवस्था साधना

की चरम उपलब्धि है।

एक शिष्य ने गुरु के समक्ष छह प्रश्न रखे—

भंते ! मैं कैसे चलूं ?—कहं चरे।

भंते ! मैं कैसे ठहरूं ?—कहं चिट्ठे।

भंते ! मैं कैसे बैठूं ?—कहं आसे।

भंते ! मैं कैसे सोऊं ?—कहं सये।

भंते ! मैं कैसे खाऊं ?—कहं भुंजे।

भंते ! मैं कैसे बोलूं ?—कहं भासे।

ये बहुत छोटे-छोटे प्रश्न हैं। एक बच्चा इस प्रकार की बात पूछ सकता है कि मैं कैसे चलूं ? क्या कोई बड़ा आदमी पूछ सकता है कि मैं कैसे चलूं ? कोई आवश्यकता नहीं लगती।

गुरु ने एक उत्तर दिया, सब प्रश्नों का एक समाधान दिया, केवल एक समाधान। सब रोगों की एक दवा। उन्होंने कहा—जयं। बस, दो शब्दों में उत्तर है।

गुरु ने कहा—जयं चरे, जयं ट्ठिे, जय आसे, जयं सए। जयं भुंजंतो। जयं भासंतो····

—संयम से चलो, संयम से खड़े रहो, संयम से बैठो, संयम से सोओ, संयम से खाओ और संयम से बोलो।

प्रश्न भी पहेली और उत्तर भी पहेली। दोनों पहेलियां हैं। संयम का मतलब क्या है ? नहीं चलना तो संयम हो सकता है पर चलना संयम कैसे हो सकता है ? संयम का अर्थ होता है निरोध, रोकना। स्थिति संयम हो सकता है, चलना संयम कैसे हो सकता है ? बहुत महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया कि संयम से चलो। इसका आशय हमें समझ लेना है। इसका तात्पर्य है—केवल चलो, केवल चलो। संयम से चलना है केवल चलना। क्या हम लोग केवल चलते हैं ? कभी नहीं चलते। चलने में हमारा शरीर साथ देता है। हमारी जंघा, पांव की मांसपेशियां काम देती हैं। उनका नियंत्रण करता है मस्तिष्क। पैर चलते हैं पर नियंत्रण तो पैरों के हाथ में नहीं है। नियंत्रण है सारा मस्तिष्क के हाथ में। मस्तिष्क नियंत्रण करता है। हमारे पैर उठते हैं, किस प्रकार पैर उठाना, तेज चलना, धीमे चलना, कहां रुकना—यह सारा नियंत्रण पैरों के पास नहीं है, यह मस्तिष्क करता है। केवल चलना एक संयम है। इसी का नाम है—भावक्रिया। केवल चलने का नाम है—भावक्रिया। पैरों का

क्रम होता है। पैरों की क्रिया होती है। पर हम चलते हैं एक दिशा में। चलना शुरू कर दिया, पैर चल रहे हैं आगे और मन मस्तिष्क दूसरी बात में उलझ गया है तो एक विभाजन हो गया। संयम टूट गया। केवल चलना नहीं रहा, चलने के साथ और जुड़ गया। हमारी एक जो प्रणाली थी, एक नाली थी, जो जल की पवित्र धारा थी, उस गंगा की पवित्र धारा में बहुत सारा गन्दा कूड़ा आकर मिल गया। पानी साफ नहीं रहा। केवल पानी नहीं रहा। गंगा के पानी का बहुत महत्त्व है। पर क्या कानपुर, इलाहाबाद आदि नगरों के पास बहने वाली गंगा का वही महत्त्व रहा है? कैसे हो सकता है? इतना दूषित पदार्थ मिलता जा रहा है कि पानी अपने आप में अपवित्र होता जा रहा है। जब तक वह धारा केवल धारा होती है, गंगोत्री के पवित्र उद्गम से निकली हुई स्वच्छ जल की धारा होती है, उसका अपना मूल्य होता है। जब उसमें गन्दगी मिल जाती है, तब वह केवल गंगा नहीं रहती। ठीक हमारी भी यही स्थिति होती है। हम चलते हैं, केवल हमारा चलना होता है। उसका एक अपना मूल्य होता है। किन्तु उस चलने के साथ-साथ मन की बहुत सारी गन्दगियां उसमें जुड़ जाती हैं। केवल चलना नहीं रहता, वह कुछ और हो जाता है। गुरु ने उत्तर दिया—संयम से चलो। केवल चलो। तुम्हारा शरीर भी चले और मन भी उसके साथ-साथ चले। शरीर तो चले और मन उसके साथ न रहे और गन्दगी उसमें मिल गई तो विभाजन हो गया, टूट गया। हमारी क्रिया, हमारा क्रम वास्तविक नहीं रहा। वह औपचारिक बन गया।

हर आदमी कर्म करता है। कोई भी आदमी अकर्म नहीं होता, कर्म-शून्य नहीं हो सकता, क्रियाशून्य नहीं हो सकता। हर क्षण आदमी कोई न कोई कर्म करता है। भारतीय दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो धाराएं रहीं। एक है कर्म की धारा, एक है अकर्म की धारा। बहुत सारे लोग सोचते हैं कि हम कर्म करें, कर्म ही करें। क्या यह संभव है? केवल कर्म होगा? कोरा कर्म आदमी को निष्क्रिय बना देगा। कर्म का असंतुलन जड़ता को पैदा करता है। यह सार्वभौम नियम है कि प्रत्येक कर्म के बाद अकर्म का अनुभव करना होगा। जो व्यक्ति अकर्म का अनुभव नहीं करता, प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति का अनुभव नहीं करता, उसकी कर्म की शक्ति भी कुंठित हो जाती है। निरन्तर धड़कने वाला हृदय क्या निरंतर धड़कता है? हृदय की गति होती है किन्तु हर एक-दो धड़कन के बाद हृदय विश्राम करता है। यदि हमारा

हृदय विश्राम न ले तो वह अपना काम नहीं कर सकता। हमारे शरीर में होने वाली प्रत्येक क्रिया, रक्त-संचार, प्रत्येक अवयव की क्रिया, हर क्रिया के साथ विश्राम जुड़ा हुआ है। जागरण के साथ नींद जुड़ी हुई है। गति के साथ स्थिति जुड़ी हुई है। अगर यह योग न हो तो कोरा कर्म नहीं चल सकता। केवल अकर्म से हमारी जीवन की यात्रा नहीं चल सकती। और केवल कर्म से हमारी मनःस्थिति नहीं चल सकती। मनश्चेतना नहीं चल सकती। दोनों का संतुलन जरूरी होता है। कर्म भी हो और अकर्म भी हो। प्रवृत्ति भी हो और निवृत्ति भी हो। बहुत लोग इस भाषा में सोचते हैं कि मनुष्य का जीवन मिला है, यह शरीर मिला है, भोग के लिए मिला है। जितना खाएं-पीएं, ऐशो-आराम करें, भोग करें, उतना ही लाभ होगा। भगवान् ने इतने पदार्थ बनाए ही किसलिए ? खाने के लिए तो बनाए हैं। भोगने के लिए बनाए हैं। अगर हम उनका उपयोग नहीं करेंगे, उपभोग नहीं करेंगे तो वे पदार्थ निकम्मे हो जाएंगे। एक बड़ा तर्क आदमी के सामने आता है उपभोग का। पदार्थों के प्रयोग का। किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि पदार्थ का उपयोग या उपभोग भी अकर्म के साथ करना होता है। कोई भी आदमी कर्म की सीमा का अतिक्रमण कर पदार्थ का उपभोग करना चाहता है तो एक दिन ही कर सकता है। शायद दूसरे दिन नहीं कर सकता। हर आदमी में विवेक होता है। खाता है तो विवेक होता है कि कितना खाऊं ? चाहे कितनी ही बढ़िया वस्तु सामने आए, वह एक सीमा तक खाएगा और फिर बाद में हाथ खींच लेगा। ऐसा तो नहीं होता कि आज मनचाहा भोजन मिल गया तो खाता ही चला जाए। दिन भर खाता चला जाए। एक दिन भर खा भी ले तो दूसरे दिन फिर खाने की स्थिति नहीं होगी।

प्रत्येक कर्म के साथ अकर्म जुड़ा हुआ है। हमारा विवेक है भावक्रिया। यानी हम कर्म करें, वास्तविक कर्म करें। द्रव्यकर्म न करें। काल्पनिक कर्म न करें। भावक्रिया का अर्थ होता है शरीर और मन का संतुलन। शरीर और मन को बांटें नहीं, तोड़ें नहीं। मन शरीर का एक हिस्सा है। हमने अपनी सुविधा के लिए तीन भागों में बांट दिया—शरीर, वाणी और मन। पर वास्तव में तीन कहां हैं ? एक ही है। एकमात्र शरीर। शरीर का एक हिस्सा है वाणी और शरीर का एक हिस्सा है मन। दोनों शरीर के हिस्से हैं। यदि शरीर में स्वरयंत्र न हो तो वाणी का कोई स्थायित्व है क्या ?

स्वरयंत्र ही वाणी का उद्गम है। स्वरयंत्र के द्वारा हमारी वाणी प्रस्फुटित होती है, हमारा नाद व्यक्त होता है, उसका स्फोट होता है। स्वरयंत्र ही है बारूद। यदि मस्तिष्क न हो शरीर में तो मन का अस्तित्व कहां से होगा? मन का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं है। दार्शनिक भाषा में इस प्रश्न पर बहुत चिन्तन हुआ है। बहुत गहरा चिन्तन हुआ कि मन शरीर से भिन्न नहीं है। मन की सारी सामग्री, वचन की सारी सामग्री शरीर के द्वारा उपलब्ध कराई जाती है। शरीर वचन को व्यक्त करता है और शरीर ही मन को अभिव्यक्ति देता है। तो वास्तव में मन और वचन, ये दोनों शरीर से भिन्न नहीं हैं। हमारा मूल आधार बनता है हमारा शरीर। शरीर और मन के सन्तुलन का अर्थ होता है—मस्तिष्क और शरीर के शेष हिस्सों का संतुलन। हमारे शरीर में नाड़ी-संस्थान में दो प्रकार के नर्व्स होते हैं—सेंसरी नर्व्स और मोटार नर्व्स। ज्ञानतन्तु और कर्मतन्तु। इन ज्ञानतन्तुओं और कर्मतन्तुओं में संतुलन होता है तो हमारी भावक्रिया होती है। ज्ञानतन्तु और कर्मतन्तुओं का संतुलन बिगड़ जाता है तो हमारी सारी क्रिया गड़बड़ा जाती है। हमारे कर्म गड़बड़ा जाते हैं। ज्ञानतन्तु नियंत्रण करते हैं और कर्मतन्तु क्रिया का संपादन करते हैं। मेरी इच्छा हुई मक्खी को उड़ाऊं। हाथ उठेगा और मक्खी को उड़ा देगा। क्या यह काम कर्म तन्तुओं ने किया है? किया है, निश्चित ही किया है। कर्मतन्तुओं ने मक्खी उड़ाने का काम किया है। पर क्या ज्ञानतन्तुओं का इसमें योग नहीं होता तो कर्मतन्तु ऐसा कर पाते? जब इच्छा पैदा हुई वह ज्ञानतन्तुओं में पैदा हुई कि मक्खी को उड़ाऊं। वह इच्छा मस्तिष्क में पहुंची, ज्ञानतंतुओं के केन्द्र में पहुंची, इच्छा के केन्द्र में पहुंची। वहां से निर्देश मिला कर्मतन्तुओं को कि अपना काम करो, मक्खी को उड़ाओ। हाथ उठा, उंगलियां उठीं और मक्खी को उड़ाया। यह कार्य सम्पादन किया इन कर्मतन्तुओं ने, किन्तु सारा नियंत्रण कर रहे हैं हमारे ज्ञानतन्तु। मस्तिष्क उसका सारा नियंत्रण कर रहा है। ज्ञान के द्वारा सारे निर्देश प्राप्त हो रहे हैं। छोटी-सी बात लगती है, मन में इच्छा पैदा हुई, हाथ उठा, उंगलियां उठीं, मक्खी को उड़ा दिया। पर इस छोटी-सी क्रिया के सम्पादन में कितने लाखों-लाखों, करोड़ों-करोड़ों शेलों को काम करना पड़ा है, सक्रिय होना पड़ा है। हमारी कितनी शक्ति उसमें लगती है? अगर मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं और कर्मतन्तुओं की सूक्ष्म संरचना को हम जानें तो हमें पता चलेगा कि ऐसा करने में कितना बड़ा ऑफिस काम कर रहा है।

उतना बड़ा ऑफिस समूचे राजस्थान की पुलिस का नहीं। उतना बड़ा ऑफिस समूचे राजस्थान के तंत्र का नहीं। राजस्थान को मैं छोड़ दूं, पूरे हिन्दुस्तान की सरकार का भी इतना बड़ा तंत्र काम नहीं करता जितना हमारे एक मस्तिष्क में एक तंत्र काम करता है। कहां हैं करोड़ों कर्मचारी सरकार के पास ? मस्तिष्क में करोड़ों न्युट्रोन सक्रिय हो जाते हैं।

ज्ञानतन्तुओं और कर्मतन्तुओं का एक योग, एक सन्तुलन होता है। किन्तु हम इस संतुलन को बिगाड़ देते हैं या बिगड़ जाता है, तब एक व्यवधान पैदा होता है। हमारी शक्ति का व्यय होता है। प्रेक्षा-ध्यान का एक बड़ा उपयोग होता है—ज्ञानतन्तुओं और कर्मतन्तुओं में संतुलन स्थापित करना, भावक्रिया करना। कितना सीधा उत्तर था कि केवल खाओ, केवल बोलो, केवल सोओ। क्या हम केवल सोते हैं ? कौन व्यक्ति है, जो कहता है कि मैं केवल सोता हूं, कोरी नींद लेता हूं ? नींद में तो इतने जाले बिछ जाते हैं. सपने पर सपने रात भर सताते हैं। कौन आदमी कहता है कि मुझे एक वर्ष में कोई सपना नहीं आया ? भारत के शरीरशास्त्री तो बतलाते हैं कि हर व्यक्ति को रात्रि में कम से कम दो-चार-पांच बार सपने तो आते ही हैं, पता चले या नही। कौन कह सकता है कि मैं कोरा सोता हूं ? कौन कह सकता है कि मैं कोरा खाता हूं ? खाते समय कितनी बातें याद आती हैं। कौन कह सकता है कि मैं कोरा चलता हूं ? आदमी चलता है। चलते-चलते लड़खड़ाने लग जाता है। न जाने कितनी बातें सताने लग जाती हैं। नींद भी आने लग जाती है। चलते-चलते नींद भी सताने लग जाती है। यह समस्या है।

हमारी कोई भी क्रिया कोरी अप्रमाद की क्रिया नहीं है। जागरूकता की क्रिया नहीं है। केवल क्रिया नहीं है। मिक्श्चर है। सारा मिलावट ही मिला-है। बाजार में मिलावट होती है तो हमें बड़ा अटपटा लगता है। पर हम मनुष्य की प्रकृति को देखें, मिलावट तो जन्म से ही है। गर्भ में ही वह मिलावट को सीख लेता है। मिलावट के साथ ही पैदा होता है।

ध्यान शोधन की प्रक्रिया है। ध्यान के द्वारा हम इस मिलावट को समाप्त करें। विचार में मिलावट न हो। स्वभाव में मिलावट न हो। वृत्तियों में मिलावट न हो। यह हमारी मानसिक मिलावट मिटेगी तो फिर बाजार में मिलावट नहीं होगी। जब तक मन में मिलावटें होती रहेंगी, हजार कानूनों के बन जाने पर भी बाजार की मिलावट नहीं मिटेगी। इस

मिलावट को मिटाना ध्यान का बहुत बड़ा उद्देश्य है। यह मिलावट क्यों होती है, इस पर भी हम ध्यान दें। मिलावट का कारण है दबाव। दबाव भीतर से आ रहा है। मन में कोई मिलावट नहीं है। मन बेचारा शुद्ध है। उसका काम है केवल याद कर लेना, आगे की बात सोच लेना और वर्तमान का चिन्तन कर लेना। कोई खराबी नहीं। मन कोई बुरा नहीं, मन कोई सताने वाला नहीं। किन्तु एक दबाव आता है उस पर और वह बुरा बन जाता है। हमारे मन पर भी कितने दबाव पड़ते हैं। वृत्तियों का दबाव पड़ता है। कभी मन पर क्रोध का दबाव पड़ता है, कभी अहंकार का, कभी घृणा का, कभी ईर्ष्या का, कभी द्वेष का। ये इतने दबाव भीतर से आ रहे हैं कि बेचारा मन लड़खड़ा जाता है। चंचल बन जाता है। विक्षिप्त बन जाता है। पागल बन जाता है। उन्मादी बन जाता है। अपने आपको संभाल नहीं पाता। छिपाना चाहे तो भी छिपा नहीं सकता। दबावों के कारण अपनी वृत्तियों को या अपने स्वभाव को वह सुरक्षित भी नहीं रख पाता और अपनी चेष्टाओं को छिपा भी नहीं पाता। जब उन्माद, प्रमाद होता है फिर पागलपन आता है। कोई छिपा नहीं सकता।

एक शराबी था। शराब का बहुत बड़ा शौकीन। शराब पी ली पर डर था पत्नी का कि पता न चल जाए। शराब में धुत होकर आया। सोचा, आज पत्नी को बिलकुल पता नहीं चलने दूंगा। पत्नी द्वार के पास खड़ी थी। वह घर में घुसा। घर में भैंस बंधी थी। वह भैंस के पास गया और पूंछ को पकड़कर बोला—पप्पू की मां! तुम सदा तो दो चोटियां बनाती हो, आज तो तुमने एक ही चोटी बनाई है। पत्नी समझ गई कि पतिदेव पीकर आए हैं।

जब उन्माद होता है, नशा होता है, तब आदमी को कुछ भी पता नहीं चलता। हमारे मन पर भी शराब का नशा छाता है। भीतर में मदिरा का इतना प्रवाह है, इतनी मादकता है, इतना लालच, इतना स्वाद, और ये वृत्तियां जब मन पर सवार होती हैं तो हमारे सारे तर्क बदल जाते हैं। हमारे सारे चिन्तन बदल जाते हैं। हमारी अवधारणाएं बदल जाती हैं। हमारी मान्यताएं बदल जाती हैं। फिर आदमी सचाई को नहीं देख पाता। वह तर्क के सहारे जीना शुरू करता है। मैं मानता हूं, जब जीवन तार्किक बनता है, तर्क के सहारे जीवन की यात्रा चलती है, तब वह स्वाभाविक नहीं होती। स्वभाव में कोई तर्क नहीं होता, इसलिए तर्कशास्त्रियों ने कहा था, 'स्वभावे

तार्किका: भग्ना:'—जहां स्वभाव होता है, वहां सारे तार्किक भग्न हो जाते हैं। स्वभाव में कोई तर्क नहीं होता। किन्तु हमने स्वभाव को छिपाकर विभाव का जीवन जीना शुरू किया। वृत्तियों का जीवन जीना शुरू किया, स्वाभाविक चेतना को लुप्त कर अस्वाभाविक जीवन जीना शुरू किया तो हमारे आसपास चारों तरफ तर्क का एक जाल बिछ गया और जहां तर्क आता है, वहां साधना समाप्त हो जाती है। कितना विरोध है तर्क में और साधना में! कोई मेल नहीं लगता। जीवन की स्वाभाविक क्रिया है संयम करना। केवल सुनना, केवल देखना, केवल सूंघना—यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जीवन की। जब कन्फ्युशियस से पूछा गया—साधना क्या होनी चाहिए? उन्होंने कहा—और कुछ नहीं, केवल सुनो। बस, यही साधना है। एक छोटा-सा सूत्र दिया कि केवल सुनो। बड़ा छोटा लगता है केवल सुनना। किन्तु साधना का सारा रहस्य इसमें भर गया। हम केवल कहां सुन पाते हैं? किसी की बात सुनते हैं, बात पूरी नहीं सुनते। उससे पहले ही मन में तर्क होता है कि कहीं ठगने के लिए तो नहीं कह रहा है? कहीं मुझे धोखा तो नहीं दे रहा है? मुझे गुमराह तो नहीं कर रहा है? कहीं मैं इसके जाल में न फंस जाऊं! कहीं कोई मायाजाल तो इसके पीछे नहीं बिछा है? पूरी बात तो सुनी नहीं जाती और उससे पहले दस प्रकार की कल्पनाएं हमारे मन में आ जाती हैं। यह अस्वाभाविक भी नहीं है। दुनिया में ऐसा सब कुछ चलता है। इसलिए हर आदमी बात को छानकर अपने पास लेना चाहता है। केवल कोई नहीं सुनता। केवल सुनना स्वाभाविक भी नहीं लगता। बहुत लोग तो ऐसे होते हैं कि मैंने इन दिनों में देखा, एक भाई ने अपनी बात शुरू की। और वह बात पूरी नहीं करता, आधी बात कहता है, उससे पहले ही सुनने वाला उछल जाता है और ठीक वैसे उछलता है जैसे भट्ठी से चना उछलता है।

आदमी केवल नहीं सुनता। सुनने के साथ-साथ अनेक धारणाएं काम करने लग जाती हैं। अनेक मान्यताएं काम करने लग जाती हैं। वे मान्यताएं, वे धारणाएं बात को सुनने नहीं देतीं। पहले ही अपना काम शुरू कर देती हैं। एक बहुत बड़ा सूत्र है साधना का—भावक्रिया, अप्रमाद, जागरूकता। यानी केवल काम करना। केवल करना, केवल जानना, केवल देखना, केवल सुनना—यह एक बहुत बड़ा सूत्र है। इसकी साधना के लिए यह सारा प्रपंच है। राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना, वर्तमान में जीना बहुत

सीधी बात है। पर वर्तमान में जीना जितनी सीधी बात है, उतनी ही टेढ़ी बात है। वर्तमान में कैसे जीयेंगे ? अतीत हमारा पीछा नहीं छोड़ता। भविष्य हमारा पल्ला नहीं छोड़ता। दोनों पकड़े हुए हैं। एक आगे खींच रहा है, एक पीछे खींच रहा है। इसी तथ्य को स्पष्ट करती है यह कहानी—

पुराने जमाने की बात है। एक आदमी के दो पत्नियां थीं। दो से विवाह करने का मतलब है कि सिरदर्द मोल ले लेना। एक पत्नी भी बड़ी मुसीबत है। जहां दो हो जाएं, फिर उस मुसीबत का कहना ही क्या ? वही मुसीबत थी। दोनों में झगड़ा शुरू हो गया। पति को भी बांटना पड़ा। पति बंट गया। एक दिन एक के पास भोजन करता, दूसरे दिन दूसरी के पास भोजन करता। मकान को भी दुमंजिला बना लेना पड़ा। एक मंजिल में एक पत्नी रहती और दूसरी में दूसरी रहती। सीढ़ियां भी नहीं बनाईं तब; क्योंकि बार-बार चढ़ना-उतरना होगा तो और ज्यादा लड़ाइयां होंगी। नसैनी लगा दी। एक दिन ऐसा हुआ कि पति काम में व्यस्त था। व्यस्तता से आया, ध्यान नहीं रहा। बारी थी नीचेवाली स्त्री की और सेठ ऊपर चढ़ने लगा, चढ़ गया, कुछ चढ़ गया। ऊपर वाली खड़ी थी। उसने देख लिया। आकर खड़ी हो गई। सोचा—आज बड़ा अच्छा हुआ, बिना बारी पति आ रहा है। बहुत प्रसन्न हुई। नीचे वाली को पता चला कि बारी तो है मेरी और पति ऊपर जा रहा है। वह नीचे से आ गई। पति तो नसैनी पर खड़ा है, एक पत्नी ऊपर से हाथ खींच रही है और एक नीचे से टांग खींच रही है।

बड़ी विचित्र स्थिति बन गई। पति बीच में लटक रहा है। न ऊपर जा पा रहा है, न नीचे जा पा रहा है। एक ओर टांग खींची जा रही है और दूसरी ओर हाथ खींचा जा रहा है। बेचारा बीच अधर में लटक रहा है।

हमारी भी यही स्थिति है। हम वर्तमान में रहना चाहते हैं, वर्तमान में जीना चाहते हैं। केवल काम करना चाहते हैं और कुछ नहीं करना चाहते। किन्तु एक अतीत और एक भविष्य—ये दोनों पत्नियां दोनों ओर पल्ला खींच रही हैं। वर्तमान की स्थिति में रह नहीं पाते। वर्तमान में रहने के लिए जरूरी है अतीत और भविष्य की पत्नियों से पल्ला छुड़ाएं। कुंवारे ही रहें, विवाह न करें। तब वर्तमान में रह सकते हैं। कोई भी विवाहित हो जाए और फिर वर्तमान में रहे, यह संभव नहीं। कभी संभव नहीं है। हमें वर्तमान में रहने के लिए, अतीत और भविष्य से पल्ला छुड़ाने के लिए, अप्रमाद की साधना, भावक्रिया की साधना करनी होगी।

भावक्रिया की साधना होती है प्रेक्षा के अभ्यास से । हम धीरे-धीरे देखने का अभ्यास शुरू करें । आप यह न मानें आज आपने अभ्यास शुरू किया और आज ही दोनों पत्नियों का पीछा छूट जाए । ऐसी कल्पना न करें । आपने आज चलना शुरू किया है, काम शुरू किया है । निश्चित मानें आज जो पैर उठा है, वह उठता रहा तो दोनों से पल्ला छूट जाएगा । अतीत से भी पल्ला छूटेगा और भविष्य से भी छूटेगा । न स्मृतियां सताएंगी और न कल्पनाएं सताएंगी । आप वर्तमान में रह सकेंगे । मनोबल को बढ़ाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—वर्तमान में जीना, शरीर और मन में संतुलन स्थापित करना, नाड़ी-संस्थान और मस्तिष्क में ज्ञानतन्तुओं और क्रिया-तन्तुओं में संतुलन स्थापित करना ।

यह संतुलन हमारी शक्ति को बचाता है । हमारी शक्ति का व्यय होता है असंतुलन के कारण । कभी इतने उलझ जाते हैं भविष्य में कि वर्तमान में काम करना छूट जाता है । हाथ कुछ भी नहीं लगता, कोरी कल्पना में उलझ जाते हैं । कभी इतने उलझ जाते हैं स्मृतियों में कि जो आज करने का काम है, वह बिलकुल छूट जाता है । हमारी शक्ति व्यर्थ में खर्च होती है । यदि हम अप्रमाद की साधना कर सकें, प्रेक्षा का प्रयोग कर सकें, देखना सीख लें तो शक्ति का व्यर्थ व्यय भी रुक सकता है और साध्य भी प्राप्त हो सकता है । देखने का मतलब है—न स्मृति, न चिन्तन, न कल्पना, कोरा देखना । देखना, अनुभव करना । हमारे सामने दो जगत् हैं—एक अनुभव का जगत् और एक बुद्धि का जगत्—स्मृति और चिन्तन का जगत् । अनुभव में हमारी शक्ति का व्यय नहीं होता । इसलिए नहीं होता कि अनुभव में नाड़ी-संस्थान को बहुत काम नहीं करना पड़ता । शक्ति का व्यय तब होता है जब नाड़ी-संस्थान को सक्रिय होना पड़ता है ।

एक आदमी कोई लेख लिखता है, निबन्ध लिखता है, कविता बनाता है और कोई बात सोचता है तो उसे काफी शक्ति लगानी पड़ती है । कोई भी आदमी, बड़ा से बड़ा लेखक, पांच घंटा निरंतर लिखता जाए तो उसे बड़ी थकान का अनुभव होगा । एक वकील, जिसको सारे केस का अध्ययन करना है, अगर वह दस घंटा कोई केस पढ़ता चला जाए, पूरे दिन और रात पढ़ता चला जाए तो फिर दूसरे दिन उसे सोचना ही पड़ेगा । क्योंकि चिन्तन से नाड़ी-संस्थान पर दबाव पड़ता है । स्मृति, चिन्तन या दबाव से मनुष्य की शक्ति खर्च होती है । अनुभव से कोई शक्ति खर्च नहीं होती । नाड़ी-

संस्थान पर कोई दबाव नहीं पड़ता । कोई कठिनाई पैदा नहीं होती। इसलिए मनोबल को बढ़ाने का बहुत बड़ा सूत्र है—वर्तमान में रहना, अप्रमत्त रहना, जागरूक रहना और देखने का प्रयोग करना । हमारी ज्ञाता और द्रष्टा की शक्ति जागे । एक संतुलन बने । यह तो मैं नहीं कहता कि आप चौबीस घंटा जानें और देखें, संभव नहीं होता । कभी हो, पर आज संभव हो नहीं सकता । आज तो एक संतुलन स्थापित करना पड़ेगा कि दिन में आप चार घंटा सोचते हैं तो दिन में एक घंटा न सोचने का अभ्यास भी करें । दिन में अगर आप चार घंटा, आठ घंटा बोलते हैं तो दिन में एक घंटा न बोलने का भी अभ्यास करें । यदि आप दिन में पांच घंटा, छह घंटा, आठ घंटा कोई काम करते हैं तो एक घंटा कायोत्सर्ग का भी अभ्यास करें । कुछ भी न करने का अभ्यास करें । यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन है, यह कर्म और अकर्म का संतुलन है । केवल जागरूकता का अभ्यास अगर हमारा बढ़े या संतुलन स्थापित हो तो मुझे लगता है—न केवल व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान होगा, बहुत सारी सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं का समाधान भी होगा । आदमी जितना तनाव में होता है उतना ज्यादा अपराधी बनता है । अपराध और तनाव दोनों साथ में जुड़े हुए हैं । यदि तनाव कम होगा तो प्रवृत्तियों का चक्र निरंकुश नहीं होगा । प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन होगा तो हमारी समस्याएं, मानसिक उलझनें, अपराधी मनोवृत्तियां और भय—इन सारी समस्याओं का समाधान मिलेगा । मनोबल जो बाहरी दबावों और भीतरी दबावों से निरंतर कम होता चला जाता है, उसे बढ़ने का और विकसित होने का अवसर भी मिलेगा ।

हम भावक्रिया में होते हैं, तब ज्ञानतन्तुओं और कर्मतन्तुओं का संतुलन होता है । किन्तु जब नहीं होते हैं तब क्या असन्तुलन होना जरूरी है ? यह प्रश्न उभरता है ।

भावक्रिया के समय शरीर और मन दोनों एक ही काम में लगे होते हैं; इसलिए तनाव कम पैदा होता है, शक्ति कम खर्च होती है । और जब ऐसा नहीं होता है, शरीर एक काम में लगा होता है और मन दूसरी कल्पनाओं में लगा होता है तो न शरीर की पटुता बढ़ती है, न शरीर ठीक काम करता और न मन का ठीक काम होता है । दोनों में विभाजन होने से दोनों की शक्तियां बिखर जाती हैं और अधिक शक्ति का व्यय होता है । इसलिए जरूरी है कि दोनों में सामंजस्य हो जिससे हमारी कार्य की पटुता भी बढ़े ।

कुशलता भी बढ़े । गीता में कहा गया है—'योगः कर्मसु कौशलम्' । इसका मतलब क्या है ? कौशल का पहला सूत्र है कि शरीर और मन का एक काम में लगना । इससे कुशलता बढ़ेगी । जब दोनों अलग-अलग काम करेंगे, कुशलता नहीं आएगी । कोई भी शिल्पी, कोई भी चित्रकार ऐसा नहीं है कि बढ़िया से बढ़िया उसने चित्र बनाया हो, अंगुलियां चली हों और मन किसी और दिशा में भटका हो । ऐसा हो नहीं सकता । कौशल की वृद्धि का यह पहला सूत्र है ।

कुछ व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि शरीर-प्रेक्षा के साथ-साथ भेद-विज्ञान शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है) का अभ्यास नहीं होगा तो यह प्रेक्षा मात्र स्थूल दर्शन बनकर रह जाएगी ।

यह भेद-विज्ञान वाली बात हम बार-बार दुहराएं, मुझे कोई जरुरी नहीं लगता । ठीक है, जब हम शरीर का दर्शन करते हैं और प्राण-धारा को देखने का अभ्यास करते हैं तो बात समझ में आती है । यह जो हम कहते हैं कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है, यह मात्र हमारी मान्यता है । हम कैसे स्वीकार कर लेंगे जब आत्मा के बारे में हमारी कोई जानकारी नहीं, हमारा साक्षात्कार नहीं । हम सोचें, एक मान्यता को ही हम एक नये संस्कार के रूप में तो नही बदल रहे हैं ? भेद-विज्ञान का अर्थ, मेरी दृष्टि में, दूसरा होना चाहिए । हमने प्रेक्षा के सन्दर्भ में भेद-विज्ञान का अर्थ दूसरा किया है । वह यह है कि शरीर और प्राण के प्रवाह की भिन्नता का अनुभव करने का मतलब है भेद-विज्ञान । शरीर अलग है और शरीर के भीतर प्रवाहित होने वाली प्राणधारा अलग है । यहां से हमारा भेद-विज्ञान शुरू होना चाहिए । जब तक हमने शरीर को और प्राण-प्रवाह को भिन्न नहीं समझा तब तक आत्मा की बात तो बहुत दूर है । बहुत बार हमारी ऐसी वृत्तियां होती हैं कि दरवाजे में तो घुसना ही नहीं चाहते और भीतर में चले जाना चाहते हैं । यह बात सम्भव नहीं होती । एक क्रम होना चाहिए । क्रम यह है कि शरीर से सूक्ष्म है प्राण । हम शरीर और प्राण के भेद का अनुभव कर सकें और जो शरीर-प्रेक्षा के द्वारा प्राण के प्रकम्पनों को पकड़ने का प्रयास है, यह भेद-विज्ञान का ही प्रयास है । इसलिए इसे अलग से दुहराना आवश्यक नहीं लगता ।

प्रेक्षा में एक क्रम निश्चित है—शरीर, प्राण-विद्युत—बायोइलेक्ट्रीसिटी, जैविक विद्युत्, फिर तैजस शरीर, जहां से सारी विद्युत् आ रही है, फिर कर्म

स्पन्दन—वासनाओं और भावधारा के स्पन्दन और फिर आगे चलकर चैतन्य का अनुभव। हम इतनी भूमिकाओं को पार किए बिना सीधी छलांग भरना चाहते हैं, सीढ़ियां तो हैं नहीं और सोचते हैं, इतना झंझट क्यों करें, पचास सीढ़ियां उतरनी होंगी। सीधे ही छत पर से छलांग लगा दो। बात तो छलांग लगाने की हो सकती है, किन्तु परिणाम क्या हो सकता है? हमें सीढ़ियों से उतरना पड़ेगा। शुद्ध चैतन्य का बाद में अनुभव होगा। पर यह जो पहले बात दुहराई जाती है, आत्मा और शरीर को भिन्न मान, शुद्ध चैतन्य का अनुभव करें, यह मात्र एक शब्द-जाल-सा ही लगता है। हम आत्मा के झंझट में न जाएं। आत्मा-परमात्मा के झंझट को छोड़ दें। हम एक प्रक्रिया शुरू करें। शरीर से ही चलें, पुद्गल से ही चलें। शरीर को देखें, शरीर के भीतर होने वाली क्रियाओं को देखें, चलें, चलें, चलें, चलते-चलते जो होगा, वह अपने आप मिलेगा। उलझनों ने दो धाराएं बना दी हैं। एक नास्तिक बन गया, एक आस्तिक बन गया। न नास्तिक जानता है कि आत्मा है, न आस्तिक जानता है कि आत्मा है। आत्मा का खण्डन करने वाले नास्तिक को भी पता नहीं कि आत्मा नहीं है और आत्मा का समर्थन करने वाले आस्तिक को भी पता नहीं कि आत्मा है। बस, तर्कों के आधार पर दोनों चल रहे हैं। साधना का मार्ग तर्क का मार्ग नहीं, अनुभव का मार्ग है। जितना अनुभव हो, उतना ही पांव पसारें। हम चलते चलें, भीतर होगा वह तो मिल ही जाएगा। आपके भीतर, शरीर के भीतर आत्मा नहीं है तो एक हजार बार 'आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है' दोहराएं मिलेगी नहीं। और अगर है तो आप चलते चलें, एक न एक दिन निश्चित मिल जाएगी। यह एक प्रक्रिया है। हम प्रक्रिया में विश्वास करते हैं। यह यथार्थ है और हम यथार्थ के आधार पर चलना चाहते हैं।

शिथिलीकरण और जागरूकता

हमारा संसार परिवर्तनशील है। इसमें एक भी द्रव्य, एक भी तत्त्व ऐसा उपलब्ध नहीं होता जो न बदलता हो। हर पदार्थ बदलता है, हर द्रव्य बदलता है। हम बदलने को पसन्द करते हैं। कोई भी बच्चा बच्चा नहीं रहता, युवा बनता है, और आगे से आगे बदलता चला जाता है। बदलना एक अनिवार्य प्रक्रिया है। आदमी जैसा है वैसा रहना नहीं चाहता। वह अपने स्वभाव को बदलना चाहता है। आचरण को, व्यवहार को, सम्बंधों को बदलना चाहता है। दूसरे भी चाहते है, धर्मगुरु चाहते हैं—उनके अनुयायी बदले। सत्ता पर बैठे लोग चाहते हैं कि प्रजा बदलें। जनता चाहती है कि सिंहासन पर बैठने वाले बदलें। सब एक-दूसरे से बदलने की अपेक्षा रखते हैं। पर स्वयं को बदलना कोई नहीं चाहता। स्वयं बदलना जहां सम्भव नहीं होता वहां नियन्त्रण आता है। पर नियन्त्रण करने वाले भी जानते हैं, कठोर दण्ड व्यवस्था करने वाले भी जानते हैं कि यह पर्याप्त उपाय नहीं है। इससे सब कुछ ठीक नहीं होता। आखिर में वे भी बदलने की बात पर बल देते हैं। आज राजनीति के क्षेत्र में मस्तिष्क को बदलने पर बहुत बल दिया जाता है। पुराना शब्द है—हृदय-परिवर्तन और आज का शब्द है—मस्तिष्क-परिवर्तन।

यह ठीक है कि हृदय बदले। पर हृदय क्या है और उसका अर्थ क्या है, यह विमर्शनीय विषय है। कभी-कभी शब्दों से बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। जो हार्ट धड़कता रहता है और रक्त को फेंकता रहता है उसे हम हृदय कहते हैं। और वह बदले, इस अर्थ में हमारे सारे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु आज की खोजों ने यह बात सुनकर साफ कर दी कि यह कोई बहुत महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है, उसका काम इतना ही है कि रक्त को फेंकना और धड़कते रहना, जीवन को चलाना। हमारे आचार-व्यवहार में उसकी कोई नियामकता नहीं है और उसका इसके अतिरिक्त कोई मूल्य भी नहीं है। सचमुच एक प्रश्न है कि हृदय किसको माना जाए? मुझे लगता है कि ग्रह शब्द का भ्रम हुआ है। प्राचीन अर्थ में भी हृदय का अर्थ हार्ट नहीं था।

इसे कोई बहुत बदलने की आशा भी नहीं की जा सकती। इसका बदलना और न बदलना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। हृदय हमारा होना चाहिए मस्तिष्क का अगला हिस्सा जिसे साइंस की भाषा में कहते है 'हाइ-पोथेलेमस'। मस्तिष्क का अगला हिस्सा है हृदय। यह बदलता है तो सब कुछ बदल जाता है। यह नहीं बदलता है तो कुछ भी नहीं बदलता।

'हृदयं चेतनाधिष्ठानं'—यह चरक का एक वाक्य है। चेतना का जो अधिष्ठान है, वह हृदय है। इसके बदलने पर बहुत सारी बातें बदल जाती हैं। हमारे शरीर में यह सबसे ज्यादा नियामक तत्त्व है। मनुष्य का आचार और व्यवहार प्रभावित होता है ग्रन्थि-तंत्र से। हृदय-परिवर्तन का अर्थ होता है ग्रन्थि-तंत्र का संतुलन। हमारी ग्रन्थियों का संतुलन होता है और मुख्यतः पीनियल, पिच्यूटरी, थायराइड और एड्रीनल—इन चार ग्रन्थियों का संतुलन होता है तो हृदय का परिवर्तन होता है। इनमें असन्तुलन होता है तो हृदय का परिवर्तन नहीं हो सकता।

आदमी कोई काम करता है तो उसके साथ-साथ तनाव भर जाता है। उसके कारण असंतुलन पैदा होता है। सबसे बड़ा कारण है तनाव। मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव—ये तनाव असंतुलन पैदा करते हैं, अतिश्रम, अतिचिंतन, अतिआवेग—ये सारे असंतुलन पैदा करते हैं, तनाव पैदा करते हैं, कार्य में असंतुलन पैदा करते हैं। एक ग्रन्थि है थायराइड, जो कंठ के मध्य की ग्रन्थि है। उसका बहुत महत्त्वपूर्ण काम होता है। हमारी बहुत सारी आदतों, वृत्तियों का वह नियंत्रण करती है और शरीर का भी नियंत्रण करती है। चयापचय की सारी क्रिया थायराइड के द्वारा संपादित होती है। शरीर में प्रतिक्षण करोड़ों-करोड़ों शेल मरते हैं, करोड़ों-करोड़ों जन्मते हैं। यह चयापचय की जो क्रिया है वह सारी क्रिया थायरोक्सन के द्वारा सम्पादित होती है। तनाव पैदा हुआ, तनाव के कारण संतुलन बिगड़ गया। परिणाम यह होता है कि या तो कम स्राव या ज्यादा स्राव होगा। यदि कम स्राव होगा तो आलस्य, थकान, प्रमाद—ये सारे घेरे रहेंगे। ज्यादा स्रावा होगा तो भी तनाव पैदा होगा, निराशा होगी, दुश्चिंताएं होंगी। ये सारी क्रियाएं असंतुलन के कारण होती हैं। प्रजनन ग्रन्थि है गोनाड्स। उसका स्राव ज्यादा होता है तो आदमी ज्यादा कामुक बन जाता है। स्राव कम होता है तो आदमी नपुंसक बन जाता है। असंतुलन के कारण बहुत सारी स्थितियां पैदा होती हैं। असंतुलन का मुख्य कारण बनता है मानसिक तनाव। ध्यान की पूरी

प्रक्रिया मानसिक तनाव को मिटाने की प्रक्रिया है। मानसिक तनाव मिटता है तो हमारे हृदय का परिवर्तन होने में बहुत सुविधा हो जाती है। हम किसी को बदलना चाहते हैं ? चेतना को बदलना केवल चेतना के स्तर पर ही घटित नहीं होता। चेतना को बदलने के लिए चेतना को प्रभावित करने वाले रसायनों और विद्युत्-प्रवाहों को बदलना भी जरूरी है। जब तक हमारे भीतर के रसायन नहीं बदलते हैं, जब तक हमारे विद्युत् के प्रवाह नहीं बदलते हैं तब तक चेतना को कैसे बदला जा सकता है ? आपने सुना होगा—जहां वीतराग होते हैं, तीर्थंकर होते हैं, अर्हत् होते हैं, उनके पास दो विरोधी लोग जाते हैं और उनका वैर समाप्त हो जाता है, वे मित्र बन जाते हैं।

आपने प्रतीक देखे होंगे कि सिंह और बकरी एक घाट पर पानी पी रहे हैं। बिल्ली और चूहे पास-पास में बैठे हैं। क्या यह बात झूठी है ? बिलकुल नहीं। यह संभव है। आज तो वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के द्वारा इन बातों को और अधिक प्रमाणित कर दिया है। बिल्ली और चूहे पर ऐसे प्रयोग किए हैं कि चूहा बिल्ली से नहीं डर रहा है और बिल्ली में आक्रामकता समाप्त हो गयी है। कैसे हुआ यह ? पुराने जमाने में हमें उसकी व्याख्या प्राप्त नहीं हुई। वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा व्याख्या प्राप्त हो गई। वीतराग के पास जब कोई प्राणी जाता है, वीतरागता की प्रचंड रश्मियां निकलकर उन प्राणियों में प्रवेश कर उनके मस्तिष्क की धारा को, उनके विद्युत् की धारा को, उनके प्राण की धारा को बदल देती हैं। जिस धारा के आधार पर वैर-विरोध चलता था वह सारा समाप्त हो जाता है। प्रयोग किया गया। चूहे और बिल्ली के सिर पर इलेक्ट्रोड लगा दिया गया। दोनों को छोड़ दिया। दोनों सामने आते है, चूहा बिल्ली से प्यार करता है, बिल्ली चूहे से प्यार करती है। बिल्ली के पास चूहा जाता है, उछल-कूद करता है और बिल्ली उसे पुचकारती है। बन्दर के हाथ में केला दिया। इलेक्ट्रोड लगा है, बन्दर के मस्तिष्क में एक भावना प्रवाहित हुई। वह खाने को आतुर हो रहा है। इतने में एक धारा बदली और उसने केले को फेंक दिया।

दो भयंकर सांड मैदान में आते हैं। बीच में एक आदमी खड़ा है, पूरे यन्त्रों से सज्जित होकर। जैसे ही दोनों खूंखार सांड़ पहुंचते हैं, सब देख रहे हैं और सबके प्राण कांप रहे हैं। दोनों दौड़ते-दौड़ते उस व्यक्ति के निकट जा

रहे हैं। कंठ सूखने लग गए कि बस, अब समाप्त, अब समाप्त। इतने भयंकर सांड़ कि अब जल्दी समाप्त हो जाने वाला है, कुछ भी बचने वाला नहीं है। दोनों सांड़ पास आते हैं। इतने में बस यंत्र का उपयोग होता है और वे एक विनीत शिष्य की भांति पास में आकर खड़े हो जाते हैं। हमने बहुत सुना है, पुराने ग्रन्थों में पढ़ा है कि उन्मत्त हाथी, जो अनेक मनुष्यों को कुचलता हुआ जा रहा था, एक व्यक्ति के पास आया और बिलकुल शांत होकर खड़ा हो गया।

यह सारा व्यवहार का परिवर्तन, आचरण का परिवर्तन क्यों होता है? जब तक हम व्यवहार और आचरण को प्रभावित करने वाले घटकों का ध्यान नहीं करते हैं, जब तक उनका ज्ञान हमें नहीं होता तब तक समस्या का समाधान नहीं होता। यह एक बहुत बड़ा रहस्य ही लगता है, किन्तु यह बात समझ में आ जाती है कि आदमी का व्यवहार और आचरण चेतना के द्वारा घटित होता है। चेतना रसायनों से प्रभावित होती है। उस प्रभावित चेतना से घटित होता है यह परिवर्तन।

एक प्रश्न आया था आत्मा का। यह बहुत ऊंची बात है। हम सीधा आत्मा को पाएं, भेदविज्ञान करें। आत्मा भिन्न, और शरीर भिन्न, चेतना भिन्न और पुद्गल भिन्न—इस सचाई तक पहुंचें। अभी तो हम जिस चेतना को पकड़ पा रहे हैं, वह चेतना सारी वृत्तियों की चेतना, लेश्या की चेतना है, वह चेतना सारी भावधारा की चेतना है, हम जो चेतना को पकड़ते हैं, लेश्या की चेतना को पकड़ते हैं। लेश्या की चेतना में या तो क्रोध का प्रभाव होता है, या अहंकार का प्रभाव होता है। अज्ञान का प्रभाव होता है, घृणा का प्रभाव होता है, किसी न किसी वृत्ति का प्रभाव होता है। शुद्ध चेतना और निर्मल चेतना का दर्शन कहां संभव है? जब तक यह वृत्तियों का सघन घेरा, वृत्तियों का, लेश्याओं का महान् कवच और एक ऐसा वज्रपंजर हमारे आस-पास बना हुआ है, वह जब तक टूट नहीं जाता तब तक यह संभव नहीं है।

सबसे बड़ा घेरा तो अज्ञान का होता है। हमारे सामने शब्द आता है, हम उसे पकड़ नहीं पाते। कितने लोग उलझे हुए हैं। योग में एक चर्चा आती है—**'मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**—बिन्दु के पतन से मरण होता है और बिंदु के धारण से जीवन होता है। बिन्दु का अर्थ किया जाता है—वीर्य। अगर वीर्य के पात से मरण होता है तो आज कोई जीता ही नहीं।

कैसे जीता ? आज का डॉक्टर, आज का मेडिकल साइंस का विद्यार्थी इस बात को बहुत मूल्य भी नहीं देता, किन्तु जो बिंदु का अर्थ था वह खो गया। बहुत बार शब्दों की ऐसी गड़बड़ होती है।

कोई कमजोर आदमी था, बीमार था, पूरा पचा नहीं पा रहा था। डॉक्टर के पास गया। डॉक्टर ने कहा—'तुम और खाना एक बार छोड़ दो, केवल डबलरोटी खाओ'। उस आदमी ने किसी से पूछा कि 'भई ! डबल का क्या मतलब होता है ?' रोटी तो वह जानता ही था। उसे डबल का अर्थ बताया—दूना। घर पर आया। रोज चार रोटी खाता था। पत्नी से बोला—'आज आठ रोटी खिलाना। डॉक्टर ने डबलरोटी खाने को कहा है।'

शब्द के अर्थ में ऐसी गड़बड़ होती है कि मूल बात को पकड़ नहीं पाते। शब्दों ने इतना उलझा रखा है, अर्थ हमारे से दूर चला जा रहा है और हम बहुत उलझते जा रहे हैं।

यह शब्द की चेतना, क्रोध की चेतना, सारी वृत्तियों की चेतना हमारे सामने है। हम शुद्ध चेतना की अभी बात नहीं कर सकते। निर्मल चेतना की, आत्म-साक्षात्कार की अभी बात नहीं कर सकते। इससे पहले ध्यान की एक स्थिति का निर्माण करना होगा, समझौता करना होगा कि चेतना को छोड़ें। पहले चेतना को प्रभावित करने वाले रसायनों को समझें। जब तक हमें उनका ज्ञान नहीं होगा, हमारी समस्या का समाधान नहीं होगा। दो दिन पूर्व एक भाई का प्रश्न था, जब हम प्रभावों की दुनिया में जीते हैं और सौर-मण्डल के विकिरण हमें प्रभावित करते हैं तो फिर यह ग्रहों की शांति के लिए किए जाने वाले उपक्रम, रत्नों का व्यवहार क्या सहायक नहीं बनता ? बनता है। उसका भी एक उपयोग है। तो फिर मेरे सामने एक भाई का प्रश्न आया है कि यदि रत्नों का उपयोग, ग्रहों की शांति का उपक्रम, यह हमारी स्थिति को बदल सकता है तो कर्मवाद बिलकुल व्यर्थ नहीं हो जाएगा ?

प्रश्न तो ठीक लगता है, पर गहरे में उतरें तो पता लगता है कि कर्मवाद को ठीक से नहीं समझा जा रहा है। कर्म को इतना अतिरिक्त मूल्य दे दिया कि हर बात कर्म पर थोपना चाहते हैं। कर्म एक छोटा-सा घटक है। उसे सर्व सत्तावान ईश्वर क्यों बना दिया ? ईश्वर को अस्वीकार करने वाले लोग यदि कर्म को सब कुछ मानने लगें तो मुझे लगता है कि ईश्वर को अस्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं होगा। ईश्वर भी सब कुछ नहीं कर सकता तो फिर

कर्म सब कुछ कैसे कर पाएगा ?

हमारी दो स्थितियां होती हैं, एक उपादान और एक निमित्त। उपादान अपना काम करता है और निमित्त अपना काम करता है। कर्म का विपाक भी निमित्तों के सहारे होता है। यदि अनुकूल परिस्थिति नहीं मिलती, अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नहीं मिलता, अनुकूल वातावरण नहीं मिलता तो कर्म का विपाक भी निकम्मा चला जाता है। हम यह न मानें कि कर्म का विपाक होगा ही। कर्म का विपाक होना भी परिस्थिति-सापेक्ष है। कर्म बहुत बार विपाक के बिना भी चला जा सकता है। कर्म को ऐसे ही भोगा जा सकता है, चाहे अच्छा कर्म हो, चाहे बुरा कर्म हो। बहुत अच्छा कर्म किया हुआ है और यदि आदमी हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाता है, यह सोचता है कि अच्छा कर्म किया हुआ है, भाग्य में जो लिखा हुआ है वह हो जाएगा, तो वह भाग्य में लिखा हुआ कभी नहीं होगा। निकम्मा चला जाएगा। अच्छा कर्म भी निकम्मा चला जा सकता है और बुरा कर्म भी निकम्मा चला जा सकता है। कर्म सब कुछ होता तो पुरुषार्थ को इतना मूल्य देने की आवश्यकता नहीं होती।

स्याद्वाद की दृष्टि से सोचने वाले आचार्यों ने एक मार्ग सुझाया था। वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण मार्ग था। उन्होंने कहा—काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, कर्म—ये सारे अर्थवान् हैं। किन्तु इनमें ईश्वर कोई भी नहीं। सर्व सत्तावान कोई भी नहीं है। सबकी अपनी-अपनी सीमा है। काल अपना काम करता है, स्वभाव अपना काम करता है, कर्म अपना काम करता है और पुरुषार्थ अपना काम करता है। सबका समन्वय होगा तो घटना ठीक से घटित होगी। यदि किसी एक को पकड़ लिया तो तुम भी उलझोगे और उसको भी बदनाम करोगे। फिर कहोगे—इतना पुरुषार्थ किया और कुछ भी नहीं हुआ, इतना अच्छा कर्म किया और कुछ भी नहीं हुआ। कैसे होगा ? तुमने एक को पकड़ लिया। एक को पकड़ने वाला समग्र को कभी उपलब्ध नहीं हो सकता। समग्रता वहीं फलित होती है जहां सबको साथ में संयोजित किया जाता है। हम इस बात में न उलझें कि दुनिया में हर वस्तु का अपना प्रभाव होता है। जिन लोगों ने रंगों के मूल्य को समझा है, रंगों के कर्तृत्व को समझा है, वे इस बात को अस्वीकार नहीं करेंगे कि ग्रहों से आने वाले विकिरण, रत्नों के विकिरण, कपड़ों के रंगों के विकिरण, भोजन के रंगों के विकिरण—ये सारे के सारे एक साथ जुड़े हैं।

रंग क्या है ? एक प्रकाश ही तो है। प्रकाश के ४९वें प्रकंपन का नाम ही है—रंग। सूर्य की किरणों से आने वाला प्रकंपन है। उसमें एक रंग होता है। रंग और प्रकाश दो नहीं हैं। प्रकाश का ही एक पर्याय है—रंग। जो प्रकाश का प्रभाव होता है, यदि उचित रंग मिलें तो प्रभाव को बदला जा सकता है। इसलिए कर्म को भी हम मूल्य दें। उसके बदलने की बात को भी हम भूलें नहीं। हम इस बात को मानकर चलें कि रसायनों को बदलना, विद्युत् के प्रवाह को बदलना हमारी साधना का मुख्य लक्ष्य है। जैसे-जैसे हम शिथिलीकरण की अवस्था में जाते हैं, जैसे-जैसे हम जागरूकता की अवस्था में जाते हैं हमारे रसायन बदलने शुरू हो जाते हैं। रसायनों को बदलने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपक्रम है—शिथिलीकरण। कायोत्सर्ग के दो अर्थ होते है—शिथिल होना, शरीर को छोड़ देना—शरीर की प्रवृत्तियों को छोड़ देना। दूसरा अर्थ होता है, अपने प्रति जागरूक होना। ये दोनों तनाव को कम करने वाले हैं। शिथिल व्यक्ति तनाव से भरा नहीं होगा। तनाव के कारण हमारे भीतर भी हैं, और बाहर भी हैं। काम, क्रोध, मोह, माया, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता का संवेदन, घृणा, भय, ईर्ष्या, द्वेष—ये सारे आन्तरिक कारण हैं जो तनाव पैदा करते हैं। बाहर में भी तनाव के निमित्त हैं। एक कटु वचन कहा और भीतर में क्रोध था, तनाव से आदमी भर गया। पैदा करने वाले कारण और निमित्त बनने वाले कारण चारों ओर फैले हुए हैं। हर क्षण आदमी तनाव से भर सकता है। शायद बहुत सारे ऐसे लोग भी हैं जो एक दिन में पचासों बार तनाव से भर जाते हैं। तनाव निकल नहीं पाता। अकड़न और फिर अकड़न हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिको ने यह खोज की है कि अहंकार जितना प्रबल होता जाता है, शरीर में ऐंठन बढ़ती जाती है, अकड़न बढ़ती जाती है और होते-होते शायद पथरी की स्थिति भी बन जाती है। शरीर मन से प्रभावित होता है, मन शरीर से प्रभावित होता है। दोनों का सम्बन्ध बराबर चलता है। हमारे पास तनाव के कारण मौजूद हैं। हमारे पास तनाव के निमित्त भी मौजूद हैं। इस स्थिति में हम तनाव से मुक्त कैसे हो सकते हैं ?

योग के आचार्यों ने इस विषय पर खोज की। उन्होंने सबसे पहला कारण खोजा, मंदश्वास या दीर्घश्वास। दीर्घश्वास का मतलब होता है—मन्द श्वास, श्वास की गति को कम करना। श्वास जैसे-जैसे मन्द होगा, शिथिलीकरण अपने आप प्राप्त होगा। आप बैठ गए, लेट गए, शरीर शिथिल हो जाए, यह

कोई जरूरी नहीं। आदमी नींद में सोता है, शिथिल होना कोई जरूरी नहीं है। नींद में भी तनाव होता है, नींद में भी लोग बहुत बड़बड़ाहट करते हैं, सपने आते हैं। क्योंकि तनाव से भरे रहते हैं। मन में बड़ा तनाव होता है, नींद से सोकर उठते हैं, अनुभव करते हैं कि नींद ली पर हल्कापन नहीं आया। शरीर पूरा हल्का नहीं हुआ। पूरी शांति नहीं मिली। तनाव तो भरा रहता है। तनाव मिटाने का सबसे पहला सरल उपाय है मन्द श्वास का प्रयोग। श्वास जितना मन्द होगा उतना तनाव मिटेगा, उतना अच्छा शिथिलीकरण होगा। मन्द श्वास यानी लम्बा श्वास। कुछ लोग छोटे श्वास को भी सहज श्वास मानकर भ्रम में पड़ जाते हैं। हमारा सहज श्वास चलता है उसमें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। श्वास को मन्द करने में प्रयत्न करना होता है। यह प्रयत्न वाली भ्रांति भी मिटा लेनी चाहिए। ध्यान अप्रयत्न है। यह बात अच्छी है पर आवश्यक प्रयत्न करना भी बुरी बात नहीं है। एक बार हम प्रयत्न करते हैं, संकल्प करते हैं किन्तु इस प्रयत्न के द्वारा परिणाम में अप्रयत्न भी प्राप्त होता है। मन्द श्वास हुआ। शिथिलीकरण होगा। जहां हम एक मिनट में १५ श्वास लेते हैं, मन्द श्वास लेने पर एक मिनट में १२, ६, ४, ३, २, १ श्वास हो जाता है। जब श्वास मन्द होता है तो दोनों स्थितियां बनती हैं—शिथिलीकरण और जागरूकता। श्वास के प्रति जागरूकता। जागरूकता को बढ़ाने के लिए सबसे पहला साधन है—श्वास की मंदता। जिसने श्वास पर नियन्त्रण रखना सीख लिया उसने जागरूकता का पाठ पढ़ लिया। हम मानसिक तनावों से घिरे हुए हैं। हम नहीं चाहते कि तनाव रहे, किन्तु उसे मिटा नहीं पा रहे हैं और इसलिए नहीं मिटा पा रहे हैं कि विकल्प पर विकल्प, विचार पर विचार, चिन्तन पर चिन्तन। ध्यान करने को बैठते हैं तो विकल्प सताने लग जाते हैं। इतनी कल्पनाएं आती हैं, इतने विचार आते हैं, निमन्त्रण नहीं दिया जाता। जैसे मक्खियां बिना निमन्त्रण के आती हैं, वैसे ही निमन्त्रण के बिना ये विचार, विकल्प, चिंतन आते रहते हैं। कैसे शांत करें? एक उपाय है—शिथिलीकरण। दूसरा उपाय है—जीभ को शिथिल करना। बहुत बड़ा रहस्य है जीभ का कायोत्सर्ग। हम पूरे शरीर का शिथिलीकरण करते हैं, पूरे शरीर का कायोत्सर्ग करते हैं। पूरे शरीर का कायोत्सर्ग करना भी बहुत अच्छा है। हमें अभ्यास चाहिए कि शरीर के हर हिस्से का कायोत्सर्ग कर सकें। एक अंगुली को शिथिल कर सकें। पूरे हाथ को शिथिल करना है तो पूरे हाथ को शिथिल कर सकें।

चलते हैं, चलते हुए भी हाथ को शिथिल कर सकें। पैर को भी शिथिल कर सकें। हमारे शरीर में क्षमता है, बड़ी क्षमता है। अगर हमारा अभ्यास पटु हो जाए तो सिर के एक बाल को आदमी हिला सकता है। अंगुली हिलाने में कोई बात बड़ी नहीं मानी जाती। हम जब चाहें तब अंगुली को हिला सकते हैं। जब चाहें पैरा हिला सकते हैं, हाथ को हिला सकते हैं। कान को नहीं हिला सकते। यह माना गया है कि योगी का पहला लक्षण है, जिसके कान हिलते हों। हिल सकते हैं, कोई कठिनाई नहीं। जैसे अंगुली हिलती है, वैसे ही कान हिल जाता है। बराबर हिलता है। यह कोई पढ़ी-सुनी बात नहीं कह रहा हूं। हिलता है—यह अनुभव की बात है। हिलता है कान, एक बाल भी हिल सकता है। हमारे शरीर में बहुत विचित्रताएं हैं, बहुत रहस्य भरे पड़े है। जीभ एक बहुत रहस्यपूर्ण अवयव है हमारा। यदि जीभ का कायोत्सर्ग करना, उसको अधर में टिकाना जान लें तो मन को टिकाने की समस्या हल हो जाती है। जिस व्यक्ति ने जीभ को स्थिर करना सीख लिया, उसने मन को शान्त और निर्विकल्प करना सीख लिया। विकल्प पैदा होता है शब्द के द्वारा। बिना शब्द के कोई विकल्प पैदा नहीं होता। सारे विकल्प शब्द से पैदा होते हैं और शब्द पैदा होता है स्वर-यंत्र के द्वारा। एक स्वर-यंत्र और दूसरा जीभ—दो ऐसे रहस्य हैं। जो व्यक्ति निर्विचार, निर्विकल्प और निश्चिन्तन होना चाहता है, चिन्ताओं से मुक्त होना चाहता है, उसे इन दो रहस्यों पर ध्यान देना ही होगा। जो इन दो रहस्यों को नहीं समझता, इनके प्रति लापरवाह रहता है वह उस स्थिति को नहीं पा सकता।

विद्यार्थी को एक शौक थी, उसने सफेद खरगोश पाला। बड़ा प्यार करता। प्यार तो करता किन्तु बड़ा लापरवाह। ध्यान ही नहीं देता। शौक भी और लापरवाही भी। दोनों बातें साथ-साथ चलतीं। मां ने देखा—सार-संभाल नहीं कर रहा है और खरगोश ऐसे ही तकलीफ पा रहा है, किसी को दे दिया जाए। उसने दे दिया दूसरे को। कुछ दिन बाद ध्यान आया कि मेरा सफेद खरगोश कहां है? मां से पूछा। मां ने बताया—मैंने तो बेच दिया। कैसे बेचा? मुझे तो बहुत प्रिय था। मां ने कहा—तुम ध्यान ही नहीं देते थे कभी। पता है कितने दिन हो गए? आज दस दिन हुए। आज दस दिन बाद तुम्हें खरगोश याद आया है।

हम ध्यान नहीं देते। जागरूकता नहीं और जागरूकता के बिना हमारा ध्यान नहीं जाता। ये दो सफेद खरगोश हैं। यदि जागरूकता हो तो हमारी

बहुत सारी समस्याएं, मानसिक उलझनें समाप्त होती हैं। सबसे बड़ी समस्या मैं मानसिक समस्याओं को मानता हूं। शारीरिक समस्या उतनी विकट नहीं है। विकट है मन की समस्या और इसका समाधान पाने का सबसे अच्छा साधन है स्वर-यन्त्र का कायोत्सर्ग। स्वर-यन्त्र को शिथिल करें, कण्ठ-भाग पर ध्यान केन्द्रित करें और कण्ठ को शिथिल करें। कण्ठ को शिथिल करने का अर्थ है आपने ठीक नाड़ी पर हाथ दे दिया है। बहुत बार बड़ी भ्रान्ति होती है।

पुराने जमाने की बात है। वैद्य लोग निदान करते नाड़ी को देखकर। रोगी था। किसी वैद्य के पास गया। बोला—'बीमार हूं, निदान करो और दवा दो।' वैद्य किसी दूसरे ध्यान में था। हाथ पकड़ा, देखा और थोड़ी देर बाद बोला कि तुम्हारी नाड़ी तो बहुत चंचल चल रही है। रोगी बोला—'वैद्यजी! क्या बताऊं, आपका हाथ तो मेरी घड़ी पर था, नाड़ी पर था ही नहीं।'

जब हाथ सही नाड़ी पर नहीं टिकता, निदान नहीं हो सकता। हम अभी निदान नहीं कर पा रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं। पर प्रश्न यही रहता है कि ध्यान करते हैं, बैठते हैं, समय लगाते हैं, पर विकल्प तो शान्त नहीं होते। वे सताते रहते हैं। सही निदान करें। निदान तब होगा जब चिन्तन, स्मृति, कल्पना, विकल्प—ये नहीं होंगे। ये सारे शब्दों के द्वारा होते हैं। शब्द पैदा होता है स्वर-यन्त्र के द्वारा और शब्द निकलता है जीभ के द्वारा। स्वर-यंत्र चंचल होगा, जीभ चंचल होगी तो विकल्प आएंगे। स्वप्नशास्त्रियों ने प्रयत्न किया कि एक व्यक्ति रात को सो रहा है और स्वप्न आ रहा है। स्वप्न के समय में भी स्वर-यन्त्र और जीभ सक्रिय रहती है। आप निर्विकल्प अवस्था पा लें। स्वर-यंत्र सक्रिय नहीं होगा या जीभ सक्रिय नहीं होगी। या स्वर-यंत्र को निष्क्रिय बनाएंगे, जीभ को निष्क्रिय बनाएंगे, फिर कोई विकल्प नहीं होगा। यह सही निदान हमारे हाथ में लग जाए तो मानसिक समस्या जटिल नहीं होगी।

हम मनोबल को बढ़ाने की चर्चा कर रहे हैं मनोबल क्षीण होता है तनाव के द्वारा, उलझनों के द्वारा और ग्रन्थि-तंत्र के असंतुलन के द्वारा। मनोबल को विकसित करने का हमारे पास एक बड़ा नुस्खा है—शिथिलीकरण और जागरूकता का समन्वय। दोनों का समन्वय हो—शिथिलीकरण भी बढ़े, कायोत्सर्ग भी बढ़े, जागरूकता भी बढ़े। दोनों साथ में समन्वित होते हैं तो

मुझे लगता है कि मनोबल को घटाने वाले सारे साधन समाप्त होते हैं। मनोबल को बढ़ाने का, शक्ति के स्रोत को प्रकट करने का एक बड़ा साधन होता है—अशब्द अवस्था। जिस अवस्था में हम अशब्द होते हैं—शब्दातीत होते हैं तो हमारी शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है। इस अशब्द अवस्था की आराधना के लिए हम कायोत्सर्ग करें—जीभ का कायोत्सर्ग करें, स्वर-यन्त्र का कायोत्सर्ग करें। इस छोटी-सी प्रक्रिया से बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

आहार और विचार

ध्यान विकास की एक प्रक्रिया है। हम शक्ति का विकास, आनन्द का विकास और चेतना का विकास चाहते हैं। विकास चाहना एक बात है और प्रक्रिया में से गुजरना दूसरी बात है। जो व्यक्ति कोरा चाहता है और प्रक्रिया में से नहीं गुजरता, उसकी चाह पूरी नहीं होती। चाह को पूरा करने के लिए आवश्यक होता है—एक साधना का उपयोग।

हमने प्रेक्षाध्यान का आलम्बन लिया है, सहारा लिया है। किन्तु हमारी दुनिया नाना तत्त्वों से बनी हुई है। हम जीते हैं नाना सम्पर्कों में, नाना सम्बन्धों में और नाना संयोगों में। एक को ही मानकर नहीं चल सकते, अनेक को भी मानना पड़ता है। कोरा एक तन्त्र ही नहीं चलता, अनेक तन्त्र भी चलता है।

ध्यान चित्त की वह निर्मल अवस्था है जहां कोरी चेतना जागृत होती है और सारी बातें छूट जाती हैं। किन्तु उस निर्मल चेतना को उपलब्ध करने के लिए अनेक रास्तों से चलना पड़ता है। उनमें एक मार्ग—आहार। पहुंचना ध्यान की गहराई में है, चेतना की उच्च भूमिका में है, पर आहार पर विचार करना बहुत अपेक्षित है। आहार को हमने स्थूल अर्थ में समझा है। आहार बहुत व्यापक है। भोजन बहुत छोटी चीज है। आहार के बिना शरीर का निर्माण नहीं होता।

जीवन के छह शक्तियां हैं—

१. आहर पर्याप्ति
२. शरीर पर्याप्ति
३. इन्द्रिय पर्याप्ति
४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
५. भाषा पर्याप्ति
६. मन पर्याप्ति

पहली शक्ति—आहार पर्याप्ति, फिर शरीर का निर्माण होता है, फिर इन्द्रियों का निर्माण होता है, फिर श्वासोच्छ्वास की शक्ति का निर्माण होता है, फिर भाषा की शक्ति का निर्माण होता है, फिर मन की शक्ति का निर्माण होता है।

जीवन की सबसे पहली आवश्यकता है—आहार। आहार का अर्थ होता है—बाहर से लेना। पौद्गलिक जगत् की ऐसी व्यवस्था है कि बाहर से लेना होता है। केवल प्राणी ही नहीं, अचेतन वस्तुएं भी लेती हैं। यह हमारे सामने भींत है। ऐसा लगता है कि यह तो स्थायी चीज है। किन्तु सूक्ष्मता में जाएं तो ऐसा लगता है कि निरन्तर यह भींत अनन्त परमाणुओं को ले रही है और अनन्त परमाणुओं को छोड़ रही है।

प्रत्येक पदार्थ का, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, यह नियम बना हुआ है कि नया लेना और पुराने का विसर्जन करना—पुराने को छोड़ते चले जाना। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। प्राणी आहार लेता है और लेता रहेगा। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता कि कोई व्यक्ति निराहार हो सके। जब से गर्भाधान हुआ, तब से आहार कर रहा है। एक प्राणी मरने के बाद दूसरे जन्म में जाता है, बीच की स्थिति को कहते हैं अन्तराल गति। उस गति में भी पूरा अनाहार नहीं होता। वहां भी कभी-कभी लंबा समय होता है तो बीच में आहार ले लेता है।

अनाहार होना, यह शरीर के लिए संभव नहीं है। हम शरीर के प्रत्येक कण से लेते हैं। जीवन के प्रारम्भ में जो लेते हैं उसकी संज्ञा है—ओज आहार। यह हमारी जीवन शक्ति है। यह जब तक रहती है, आदमी जिन्दा रहता है, वह चुक जाती है तो आदमी मर जाता है। दूसरा रहता है रोम आहार। हर रोम से हम आहार लेते हैं। पुराने जमाने के लोग एक बार खाते थे, बाद में अनेक बार खाने लगे। परन्तु कितना अधिक बार खा सकते हैं! किन्तु रोम आहार हम प्रतिक्षण लेते हैं। उस आहार में कठिनाई होती है तो सचमुच कठिनाई होती है, दम घुटने लग जाता है। आदमी जब बहुत ऊंचा जाता है तो ऑक्सीजन नहीं मिलती और दम घुटने लगता है। इसलिए ऊपर या नीचे जाने वाले ऑक्सीजन की व्यवस्था करके जाते हैं। तो हमें हर क्षण आहार चाहिए।

तीसरा होता है—केवल आहार। जो हम कौर से खाते हैं वह हमारा भोजन होता है। आंख से देखते हैं—आंख का आहार। कान से सुनते हैं—कान का आहार। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना आहार होता है। मन से विकल्प करते हैं—मन का आहार है। भाषा का आहार करते हैं, फिर बोलते हैं। हमारी एक भी वाणी नहीं होती जो आहार के बिना चल सके। प्रत्येक शब्द के पहले आहार, फिर परिणमन, फिर उसका विसर्जन—यह बराबर

चलता है। वाणी को आहार चाहिए—चिन्तन और मनन को आहार चाहिए।

फिर जब आहार अनिवार्य तो किस प्रकार का आहार लें ? एक आहार हमारे विचार को, हमारी भाषा को, हमारे मन को विकृत बनाता है। एक आहार हमारे इस तन्त्र को स्वस्थ बनाता है। जिस व्यक्ति ने आहार को समझने का प्रयत्न नहीं किया और ध्यान करता है तो ठीक वही बात होती है कि अन्धी बुढ़िया पीसती जा रही है, उधर कुत्ता खाता जा रहा है। हमारी दृष्टि-सम्पन्नता और विवेक-सम्पन्नता होनी चाहिए।

हमें मन के, इन्द्रियों के, शरीर के आहार पर विचार करना होगा और उसका एक हिस्सा होगा—हमारा भोजन। केवल भोजन पर ही सारा विचार करेंगे तो बात ठीक बैठेगी नहीं। एक आदमी भोजन का तो बहुत संयम करता है, सादा भोजन करता है पर आंख का बहुत लोलुप, स्पर्श का बड़ा लोलुप, वाणी का कोई संयम नहीं और केवल भोजन पर पूरा विचार करता है। जीभ से जुड़ा हुआ है भोजन का स्वाद और जीभ से जुड़ी हुई है हमारी वाणी। एक पहलू पर तो पूरा ध्यान रखता है—सात्विक भोजन करता है किन्तु सात्विक भोजन करने में भी कोई चीज मन के अनुकूल नहीं बनी तो गुस्से में आ जाता है, गालियां देने लगता है। तो कहां हुआ भोजन का विवेक ! सारी बातें बहुत जुड़ी हुई हैं। आहार का विवेक बहुत व्यापक अर्थ में हम स्वीकार करें तभी बात बनेगी, अन्यथा बात अधूरी रह जायेगी। ध्यान करने वाला व्यक्ति स्वाद का संयम करता है, क्योंकि चटपटी, मीठी और बहुत सारी चीजें खाने को नहीं मिलतीं, किन्तु इतने मात्र से आहार की समस्या हल हो जाती है और ध्यान में आपको बल मिल जाता है, यह मानेंगे तो आपको बड़ी भ्रांति पैदा ही होगी।

महर्षि चरक ने सोचा कि मैंने जो कुछ कहा, उसे मेरे शिष्यों ने, अनुयायियों ने ठीक से समझा या नहीं, इसकी मुझे परीक्षा करनी चाहिए। कहा जाता है कि कबूतर का रूप बनाकर एक पेड़ पर वे बैठे। उधर से बहुत सारे वैद्य जा रहे थे। कबूतर बोल उठा, जिसका अर्थ था—स्वस्थ कौन ? रोग से मुक्त कौन ? वैद्यों ने सोचा—कौन बोल रहा है ? पक्षी बोल रहा है। बहुत ने तो उपेक्षा कर दी। उत्तर किसी समझदार को देना चाहिए, किसको उत्तर दें। कुछ लोगों ने उत्तर दिया। ठीक बैठा नहीं, समझ में नहीं आया। महर्षि ने सोचा—या तो ये समझ नहीं पा रहे हैं या मेरी उपेक्षा कर रहे

हैं। वहां से उड़े दूसरी जगह बैठे। संयोग मिला कि वाग्भट्ट जा रहा था। आयुर्वेद में चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट—तीन प्रमुख ग्रंथकर्ता माने जाते हैं। वाग्भट्ट मिला तो कबूतर ने फिर वही प्रश्न दोहराया। वाग्भट्ट ने देखा। वह विद्वान् था, ताड़ गया। सोचा—यह कबूतर नहीं, महर्षि चरक ही हैं। तत्काल बोल उठा—स्वस्थ वह है, नीरोग वह है जो मित भोजन करता है, हित भोजन करता है और ऋत भोजन करता है। पहली बात है कि ठूंस-ठूंसकर नहीं खाता। ठूंस-ठूंसकर खाने वाला व्यक्ति कभी साधना नहीं कर सकता। साधना तो क्या, अपने शरीर की साधना भी नहीं कर सकता। खा लेता है तो घंटा भर बाद जब प्यास लगती है तो पानी पीता है और वायु बनती है, तो फिर ऐसा होता है कि कोई दूसरा आकर उठाये तो ठीक अन्यथा हिल-डुल भी नहीं सकता। बड़ी मुसीबत पैदा हो जाती है, और फिर कहता है कि पेट और आंतें सारी ठस हो गयीं। फिर चाहिए—पत्थर-हजम चूर्ण या वे गोलियां जो भोजन को पचा सकें।

दूसरी बात है—हितकर भोजन करता है। स्वाद की दृष्टि से नहीं खाता। जो अनुकूल होता है, वही खाता है। अब हित की व्याख्या बहुत लम्बी-चौड़ी है। ऋतु के अनुसार, स्वास्थ्य के अनुसार हितकर होता है और व्यक्ति विशेष के कारण भी हितकर हो सकता है। सर्दी का मौसम और खूब गरम चीजें खायी जाएं। हितकर हो सकती हैं किन्तु गर्मी के मौसम में गर्म चीज अहितकर हो जायेगी। गर्म चीज खाना, यानी जैसे चाय पीना। चाय का एक दोष यह भी है कि चाय पीने वाला ठंडी चाय नहीं पीता। इतनी गर्म पीता है कि कई लोग उस बर्तन को हाथ में नहीं पकड़ पाते, पर मुंह में डाल लेते हैं। बेचारी आंतों का क्या होगा! आंतों, आमाशय और पक्वाशय के वाणी होती तो आंतें सबसे पहले विरोध करतीं कि तुम्हें स्वाद लगता है पर हमारी दशा को देखो कि हमारे पर क्या बीत रही है, कितनी हानि होती है। तो बहुत गर्म चीज भी खाना अच्छा नहीं, शरीर के तापमान से ठंडी चीज खाना भी ठीक नहीं। बच्चा छोटा होता है तो बर्फ खाना सीख लेता है जिससे उसका गला तथा आंतें बिगड़ जाती हैं। फिर मां-बाप सोचते हैं, बच्चा बहुत बीमार रहने लग गया, कमजोर रहने लग गया। टोंसल बहुत बढ़ गये। गला बहुत खराब हो गया। पेट बहुत खराब, दांत बहुत जल्दी गिर गए। आंत और दांत—ये दोनों ठंडी चीज से बहुत जल्दी खराब होते हैं। यह सारा अहितकर भोजन से होता है।

हितकर भोजन की बात मैं ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानता हूं। हितकर भोजन और मित भोजन होने पर भी भोजन ऋत नहीं होता है तो पूरी बात नहीं बनती। ऋत भोजन का सम्बन्ध जुड़ता है हमारी सूक्ष्म भावनाओं से। ऋत भोजन का सम्बन्ध जुड़ता है हमारी मानसिक विचारधाराओं के साथ। भोजन कमाते, पैदा करते या बनाते समय किस प्रकार की विचारधारा है, सबका प्रभाव भोजन पर पड़ता है। एक व्यक्ति ने बड़ी क्रूरता के साथ भोजन का अर्जन किया। एक व्यक्ति ने बड़ी क्रूरता के साथ भोजन बनाया। अब खाने वाला बेचारा उसे अच्छे भाव से ही खा रहा है, किन्तु उस भोजन में क्रूरता के भाव आ रहे हैं तो कोमल व्यक्ति को भी वह क्रूर बना देगा। ऐसा होता है भोजन कितना गजब ढा देता है, कितना अनर्थ कर देता है! व्यक्ति के मन में चोरी की भावना जाग जाती है। एक संन्यासी के मन में अपराध की भावना जाग गयी। ऐसा क्यों हुआ? कारण खोजा तो पता चला कि जो भोजन मिला, सारा उसी का दोष है। जब तक वह भोजन रहा, तब तक भावना रही। जब भोजन निकला तो भावना भी साथ में समाप्त हो गयी।

क्रोध करने वाला व्यक्ति स्वयं दुःखी नहीं होता। वह अपने क्रोध के परमाणुओं को बिखेरता है तो आसपास का वातावरण भी दुःखी हो जाता है। घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध—इन सारे परमाणुओं का बड़ा प्रभाव होता है। हमारे आसपास में आभामण्डल होता है। उसमें से हमारी भावधारा के परमाणु निकलते हैं, दूर तक फैलते हैं। अच्छे परमाणु और बुरे परमाणु। अच्छी भावधारा तो अच्छे परमाणु, बुरी भावधारा तो बुरे परमाणु। दोनों प्रकार के परमाणु निकलते हैं। एक सन्त के पास जाकर बैठते हैं तो मन आनन्द से भर जाता है। बिना कारण ऐसा लगता है कि प्रसन्नता बरस रही है। किसी क्रोधी, ईर्ष्यालु व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं तो मन खिन्न हो जाता है। यह परमाणुओं का प्रभाव होता है। हमारा संवेदनशील मन, संवेदनशील चेतना इतनी सूक्ष्मता और इतनी दूरी से उन्हें पकड़ लेती है कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

इस सारे संदर्भ में हम सोचते हैं कि 'ऋतभुक्' का कितना महत्त्व है। ऋतभुक् यानी वह भोजन जिसके साथ सच्चाई जुड़ी हुई है, जिसके साथ पवित्रता और चेतना की निर्मलता जुड़ी हुई है, इसलिए भोजन बनाने वाला, भोजन पैदा करने वाला हर कोई व्यक्ति नहीं चाहिए। यह ऋतभुक् का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है कि भोजन के समय हमारे चित्त की

प्रसन्नता हो।

भोजन भावक्रिया है। हम भावक्रिया को न भूलें। प्रेक्षाध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति भावक्रिया को भूलेगा तो प्रेक्षाध्यान की साधना नहीं होगी। पूरा एक घंटा आप ध्यान की साधना में लगाते हैं। विधिवत् ध्यान का प्रयोग करते हैं और भावक्रिया का दिन में प्रयोग करते हैं तो साधना पूरी नहीं होती। जिस समय जो काम करना है वही काम करें। भोजन करना है तो केवल भोजन ही करें, और कुछ नहीं करें। जैसे आपको निर्देश मिलता है कि केवल देखें, केवल श्वास का अनुभव करें। तो चित्त विकल्प-शून्य रहे, श्वास का अनुभव करें और कुछ न करें। भोजन के समय भी वही प्रयोग होना चाहिए। मैंने कई बार सोचा था कि जब शिविरार्थियों का भोजन हो तो उस समय एक व्यक्ति खड़ा रहे और बार-बार सुझाव देता रहे कि केवल भोजन करें, केवल भोजन करें। ऐसा होता था पुराने जमाने में। चक्रवर्ती भरत ने एक आदमी की नियुक्ति की थी, जो प्रातःकाल उठते ही उन्हें सावधान किया करता था, जागरूकता पैदा करता था। जागरूकता बढ़ाने के लिए भी ऐसे साधनों की बहुत जरूरत है। केवल भोजन करें, केवल भोजन करना सीखें। यह केवल भोजन करना—न मन में कोई क्रोध की भावना, न उत्तेजना, न चिंता, न चिड़चिड़ापन, न राग का भाव, न द्वेष का भाव, केवल भोजन का भाव और आगे-पीछे भी पूरी शुद्धता—अर्जन में भी शुद्धता, निर्माण में भी शुद्धता और खाने में भी शुद्धता—इसका अर्थ है ऋतभुक्।

भोजन स्वास्थ्य देता है और भोजन स्वास्थ्य बिगाड़ता है। रोग भी भोजन पैदा करता है और आरोग्य भी भोजन बनाता है। उसके लिए ये तीन सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं—मितभुक्, हितभुक् और ऋतभुक्।

हमारा आहार और हमारे विचार परस्पर जुड़े हुए हैं। मन और आहार परस्पर जुड़े हुए हैं। इनके लिए, शरीर की शक्ति को बढ़ाने के लिए आहार और मन की शक्ति को बढ़ाने के लिए भी आहार बहुत आवश्यक है।

यह आहार का विषय हमारे लिए बहुत विमर्शनीय है। हम इस पर बहुत गहराई से चिन्तन करें, विमर्श करें, ध्यान करें, आहार-शुद्धि का पूरा उपक्रम करें।

आहार, नींद और जागरण

हमारी जीवन-यात्रा में चार वृत्तियां प्रमुख भाग लेती हैं—आहार, नींद, भय और मैथुन। और भी संज्ञाएं हैं, वृत्तियां हैं, जो चित्त को प्रभावित करती हैं पर ये चार सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाली हैं।

आहार का सम्बन्ध जीवन से जुड़ा हुआ है। कोई भी प्राणी आहार के बिना जीवन की यात्रा को नहीं चला सकता। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी भोजन की जरूरत समाप्त हो जाती है। आज भी कुछ लोग ऐसे मिलते हैं जिन्हें खाना जरूरी नहीं। यह एक आश्चर्य माना जाता है किन्तु जब एक रासायनिक परिवर्तन होता है तो आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं रहती। हम जो खाते हैं वे सारे द्रव्य आकाशमण्डल में फैले हुए हैं। इसीलिए एक आहार की संज्ञा रखी गई—मनोभक्षि आहार। जब किसी निमित्त से एक शक्ति जाग जाती है, व्यक्ति मन से आहार को खींच लेता है। देवता कभी कवल-आहार नहीं करते। वे मनोभक्षि आहार लेते हैं। कुछ साधक भी ऐसे हो जाते हैं जो मनोभक्षि आहार लेने लग जाते हैं, उन्हें कवल-आहार की जरूरत नहीं रहती।

दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा में एक विचार-भेद है। श्वेताम्बर मानते हैं कि केवली कवल-आहार करते हैं। दिगम्बर मानते हैं कि वे कवल-आहार नहीं करते। मुझे ऐसा लगता है कि अनेकांत की दृष्टि का उपयोग करें तो यह कोई विवाद का विषय नहीं है। सामान्य आदमी कवल-आहार करते हैं। जिनकी साधना परिपक्व हो जाती है, जरूरी नहीं कि वे कवल-आहार करें ही। न करें, यह भी जरूरी नहीं। साधक के लिए दोनों स्थितियां बन सकती हैं, कवल-आहार की स्थिति भी हो सकती है और कवल-आहार न करें तो भी जीवन की स्थिति चल सकती है।

मनोभक्षि आहार की स्थिति जागने पर फिर बाहर से आहार लेने की आवश्यकता नहीं होती। इतना तो निश्चित ही स्वीकार करना होगा कि वे मुंह से न खाएं पर पूरे शरीर से तो खाना ही होता है। रोम आहार को नहीं छोड़ जा सकता और मनोभक्षि आहार की स्थिति भी निर्मित्त हो सकती है। उनके द्वारा स्थूल द्रव्यों को भी आकाश से खींचा जा सकता है।

दूध आदमी पीता है। पर दूध बनने की एक प्रक्रिया है। दूध का पर्याय अव्यक्त होता है—घास के परमाणुओं में। या पशु का जो चारा होता है उसमें दूध अव्यक्त होता है। वह घास या चारा गाय-भैंस खाती हैं। खाने के बाद एक प्रक्रिया होती है। प्रक्रिया होते-होते दूध का पर्याय प्रकट हो जाता है। जो दूध गाय के स्तन से निकलता है, वह आकाश में भी भरा हुआ है : जो चीनी ईख में से निकलती है वह चीनी आकाशमण्डल में भी भरी हुई है। आकाश एक इतना बड़ा खजाना है, इतना बड़ा रेकार्ड है कि ऐसी कोई चीज नहीं जो आकाशमण्डल में उपलब्ध न हो। यदि आकाशमण्डल में अनुपलब्ध हो तो वह फिर किसी प्रकार से हमें उपलब्ध नहीं हो सकती। जो कुछ पदार्थ आता है वह आकाशमण्डल से ही आता है।

जिन व्यक्तियों में सूक्ष्म को पकड़ने की शक्ति प्रकट हो जाती है उन्हें फिर पूरी प्रक्रिया के बाद स्थूल वस्तु को लेने की जरूरत नहीं होती, वस्तु को आकाश में से ही ले लेते हैं और उस पर्याय में उसे बदल देते हैं। यह मनो-भक्षण की प्रक्रिया है।

आहार जरूर लेना होता है। जो लोग मनोभक्षि आहार लेते हैं उन्हें बहुत शुद्ध आहार मिलता है। उसमें विकृतियां नहीं आतीं। न अर्जन की विकृति, न उत्पादन की और न खाने की विकृति। किन्तु जो लोग कवल-आहार लेते हैं, भोजन लेते हैं, कौर से खाते हैं, उन्हें इन तीन विकृतियों पर ध्यान देना जरूरी होता है कि अर्जन में विकार न हो। बहुत लम्बी चर्चा में अभी हम न जायें, केवल एक बात पर ध्यान केन्द्रित करें कि अर्जन में क्रूरता न हो। अगर एक बात भी आ जाती है तो हमारी करुणा जाग जाती है, मृदुता का भाव जाग जाता है। दूसरों को सताने वाली निर्दयता और क्रूरता यदि समाप्त होती है तो आहार की शुद्धि का पहला चरण सफल हो जाता है।

जो व्यक्ति दूसरों के प्रति क्रूर व्यवहार करता है, फिर चाहे वह अन्न खाता है, शाकाहारी होता है किन्तु वह शाकाहार भी बहुत दुष्प्रभाव डालने वाला बन जाता है। मांसाहार के निषेध के और अनेक तर्क हो सकते हैं। उनमें एक प्रबल तर्क यह भी है कि क्रूरता का भाव किए बिना कोई मांसा-हारी नहीं बन सकता। व्यक्ति में छिपा यह क्रूरता का भाव होता है तो वह मांसाहार करता है। दूसरी बात है कि मांसाहार करने वाला केवल मांस को ही नहीं खाता, केवल पशु के मांस में मिलने वाले विटामिन 'ए' को ही नहीं

खाता, अपितु पशु में विद्यमान पाशविक संस्कार—पशुता को भी साथ-साथ खाता है। हम इस बात को अस्वीकार नहीं करेंगे कि भोजन के परमाणुओं में अनेक तत्त्व विद्यमान होते हैं, अनेक संस्कार मिले हुए होते हैं।

आदमी बीमार हो गया। रक्त चढ़ाने की जरूरत हुई। डॉक्टर रक्त चढ़ाता है तो पहले ग्रुप मिलाता है। किस ग्रुप का रक्त है? ठीक मिला या नहीं? सेठ को रक्त चढ़ाना था—एक कंजूस आदमी का रक्त ठीक मिला, चढ़ाया गया। सेठ को पता चला कि उसको कंजूस का रक्त चढ़ाया जा रहा है। सेठ बड़ा उदार था। अपने मुनीम को कहा—उसको तीन हजार रुपया दे दो। दूसरी बार फिर खून चढ़ाने की जरूरत हुई। उसी कंजूस का रक्त। सेठ ने कहा—उसे सौ रुपये दे दो। तीसरी बार जरूरत हुई तो सेठ ने एक कागज लिया और उस पर लिखा—साधुवाद! धन्यवाद!

ऐसा क्यों हुआ? सेठ तो उदार था किन्तु जिसका रक्त चढ़ाया जा रहा था, वह कंजूस था। उसका इतना प्रभाव हुआ कि जब तक रक्त का पूरा प्रभाव नहीं हुआ तो तीन हजार रुपये दिये, थोड़ा प्रभाव हुआ तो सौ रुपये और पूरा प्रभाव हुआ धन्यवाद दिया। चाहे रक्त हो, चाहे कोई दूसरी वस्तु हो, हमारे शरीर में बाहर के जो परमाणु प्रवेश पाते हैं, वे परमाणु जिस प्रकार के होते हैं, अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। इसलिए यह विषय हमारे लिए इतना महत्त्व का है कि बाहर से क्या आ रहा है, हम पूरा विवेक करें, पूरी छानबीन करें, फिर किसी बात को स्वीकार करें।

आजकल प्रत्यारोपण बहुत होता है। एक व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के अंग का प्रत्यारोपण किया जाता है। एक व्यंग्य मानें किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। एक आदमी के मस्तिष्क का प्रत्यारोपण किया गया। वह स्वस्थ हो गया। बहुत बोलने लगा। बहुत भाषण देने लगा, लम्बी-चौड़ी बातें बघारने लगा। पत्नी बड़ी परेशान हो गई। डॉक्टर के पास गई, बोली—आपने क्या कर दिया? मेरा पति तो बहुत शांत था। मौन रहने वाला था। किन्तु जब से आपने ऑपरेशन किया, प्रत्यारोपण किया, तब से सारे दिन बकवास करता है—सब परेशान हो गए हैं। डॉक्टर ने अपना कान पकड़ा, बोला—तुम ठीक कहती हो। यह किसी राजनेता का मस्तिष्क था और वह लगा दिया, इसलिए सारी गड़बड़ हो रही है।

आहार के विषय को हम इस पूरे संदर्भ के साथ समझें कि हम कितने प्रभावित होते हैं आने वाले पदार्थों से, हमारे शरीर में प्रवेश पाने वाले पदार्थों

से। किसी दुर्गन्ध के पास से आप गुजरते हैं और नाक आहार करता है। केवल मुंह ही आहार नहीं करता, हमारी घ्राणेन्द्रियां भी आहार करती हैं। दुर्गन्ध के परमाणु जाते हैं और तत्काल आपकी भृकुटि तन जाती है, दोनों नथुने सिकुड़ जाते हैं। किसी परिमल के पास से गुजरते हैं, सुवासना आती है, सुगन्ध के परमाणु चारों ओर बिखरते हैं तो दिल और दिमाग दोनों प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि प्रसन्नता से आप भर गए। तो इस प्रभाव और संक्रमण की स्थिति में रहने वाला व्यक्ति आहार के बारे में ध्यान नहीं देगा तो उसका परिणाम भुगते बिना नहीं रहेगा। निश्चित ही भुगतना पड़ेगा।

साधन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—आहार का विवेक।

जो व्यक्ति बदलना चाहता है, अपनी आदतों को बदलना चाहता है, प्रभाव को बदलना चाहता है, अपने व्यवहार को बदलना चाहता है उसे आहार को भी बदलना पड़ेगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि आप ध्यान करें, साधना करें, सामायिक करें, संयम की साधना करें और जो चाहें सो खाते चले जाएं, जैसे चाहें वैसे खाते चले जाएं और जब चाहें तब खाते चले जाएं। जो पक्ष आप संचालित कर रहे हैं, वह पूरा नहीं होगा। आपकी कल्पना का सपना अधूरा का अधूरा रह जाएगा।

हम आहार को ध्यान से भिन्न न मानें। यह भी ध्यान का अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। उसे अतिरिक्त नहीं देखा जा सकता और अलग नहीं किया जा सकता।

पहले मानसशास्त्री और मानसचिकित्सक मानते थे कि मानसिक विकृतियों के कारण ये सारी मानसिक बीमारियां होती हैं, मस्तिष्कीय दुर्बलता के कारण ये बीमारियां पैदा होती हैं। किन्तु अब नयी खोजों से यह पता चला है कि अपोषण और कुपोषण—ये दोनों मानसिक बीमारियों के लिए काफी जिम्मेदार हैं। पूरा पोषण नहीं मिलता तो स्नायविक दुर्बलता होती है, मानसिक रोग पैदा होते हैं, कुपोषण से भी मानसिक रोग पैदा होते हैं। भोजन का मतलब कोरा पेट भरना ही नहीं है। कोरी रोटियां ही रोटियां खा लीं, पेट तो भर जाएगा। पांच-दस रोटियां खा लीं, पेट तो भर जाएगा, किन्तु कुपोषण हो जाएगा, ठीक पोषण नहीं होगा। शरीर को जिन तत्त्वों के संतुलन की जरूरत है, जो तत्त्व शरीर में पूरा कार्य करते हैं, उस पूरे यन्त्र को संचालित करने के लिए कार्बोहाइड्रेट भी चाहिए, चिकनाई भी चाहिए, लवण

भी चाहिए, क्षार भी चाहिए। विटामिन सार तत्त्व भी चाहिए। अगर एक नहीं मिलता है तो उससे सम्बन्धित अंग निकम्मा हो जाता है। शरीर का श्रम करने वाला व्यक्ति यदि अन्न ज्यादा खाता है तो कठिनाई पैदा नहीं होती। किन्तु केवल अन्न से मानसिक विकास की स्थिति पूरी नहीं बनती। मानसिक काम करने वाला, बौद्धिक श्रम करने वाला कोरे अन्न पर रहे और उसे स्वस्थ पोषण न मिले तो मानसिक अवस्था गड़बड़ा जाएगी। इसलिए संतुलन यानी न अपोषण और न कुपोषण किन्तु सम्यक् पोषण। यह आज मानसिक स्वास्थ्य के लिए मानसशास्त्रियों के द्वारा संभव हो गया है। इस स्थिति में आहार पर अनेक कोणों से विचार करना जरूरी होता है। जैसा आहार होगा, वैसा आपका व्यवहार होगा। यह बहुत पहले ही खोज लिया गया था। यह कोई नयी बात नहीं। हजारों वर्ष पहले यह बात खोज ली गई थी कि जैसा खाए अन्न वैसा होए मन।

संस्कृत में एक रूपक है, बहुत सुन्दर रूपक। प्रश्न हुआ कि दीया जलता है, प्रकाश होता है तो साथ-साथ में यह धुआं क्यों निकलता है? प्रश्न बहुत स्वाभाविक है कि धुआं क्यों निकलता है। वैज्ञानिक व्याख्या इसकी दूसरी हो सकती है। काव्य की भाषा में इसकी जो व्याख्या की गई, उसका भी अपना मूल्य है। कवि ने कहा—जैसा खाता है वैसा ही परिपाक होता है। जैसा निगलता है, वैसा ही उगलता है। दीया जलता है, प्रकाश होता है। अन्धकार को खाता है तो फिर उसका परिपाक होगा। वह जो निगलेगा, उसे छोड़ेगा। अन्धकार को खाने वाला दीया धुआं नहीं छोड़ेगा तो और क्या छोड़ेगा? इस रूपक से भी, इस काव्य की शब्दावली से भी हम इस सचाई को प्राप्त हो सकते हैं कि भोजन के साथ हमारे मन का कितना सम्बन्ध है? न केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अपितु मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी भोजन पर विचार करना बहुत जरूरी है।

एक है शारीरिक स्वास्थ्य, दूसरा है मानसिक स्वास्थ्य और तीसरा है—आध्यात्मिक स्वास्थ्य या भावनात्मक स्वास्थ्य। भोजन का सम्बन्ध हमारी वृत्तियों से अधिक है। कषाय, क्रोध, अहंकार, लालच से भी भोजन का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। एक प्रकार का भोजन करने वाला व्यक्ति बहुत क्रोधी बन जाता है। एक प्रकार का भोजन करने वाला व्यक्ति लालची बन जाता है। बहुत गहरा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इन सारी दृष्टियों से हम आहार पर और भोजन पर विचार करें।

हम इस बात को न भूलें कि आहार एक अलग वस्तु है और भोजन एक अलग वस्तु है। आहार बहुत व्यापक है और भोजन आहार का एक अंश है। आहार का अर्थ है कि हम बाहर से जो कुछ भी लें वह विवेकपूर्वक लें। मुझे तो बहुत आश्चर्य होता है कई बार कि आजकल वातावरण ही कुछ अजीब-सा हो गया है। आज की सभ्यता या संस्कृति भी कुछ ऐसी हो गई है कि सीधे होटल में जाते हैं। मैं खाने की चर्चा नहीं करूंगा, दूसरी बात कहना चाहता हूं। बिस्तरे की जरूरत नहीं, कपड़ों की जरूरत नहीं। मान लिया कि आज की यात्रा इतनी सुविधा-सम्पन्न हो गयी कि कुछ भी पास में रखने की जरूरत नहीं। सब कुछ किराये पर मिलता है। पहनने के कपड़े भी किराये पर मिल जाएंगे। यह बात तो ठीक है कि यात्रा में तो बहुत सुविधा हो गई पर जिस बिस्तर पर कल कोई आदमी सोया था या जिस कपड़े को कोई आदमी ने ओढ़ा था, आज आप उस बिछौने पर सोते हैं, उस कपड़े को ओढ़ते हैं तो क्या कल जिस व्यक्ति ने उन कपड़ों का उपयोग किया था उसके परमाणु भी उन कपड़ों के साथ जुड़े हुए नहीं हैं? क्या वे परमाणु आपको प्रभावित नहीं करेंगे? महर्षि नारद जहां भी जाते, अपना आसन साथ में रखते, किसी दूसरे के आसन पर नहीं बैठते। दूसरे का कपड़ा नहीं ओढ़ते। दूसरे का कपड़ा नहीं पहनते। ये कपड़े तो बहुत खतरनाक होते हैं। इनमें बहुत सारे परमाणु भरे हुए होते हैं। एक चिकित्सा की पद्धति चलती है कि रोगी को वैद्य के पास जाने की जरूरत नहीं। वह कपड़े को देखेगा, उसी के आधार पर उसका निदान करेगा और दवा भी दे देगा। जब कपड़े में इतने परमाणु लगे हुए हैं तो यह भी क्या आहार नहीं है? आहार में तो यह भी आ जाता है। दूसरे का कपड़ा ओढ़ना, दूसरे का कपड़ा पहनना—यह भी आहार के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न है। साधना करने वाले व्यक्ति को इससे सावधान रहना पड़ता है—किसका कपड़ा है, किसके ओढ़ने का है और किसके बिछावने का है।

जैन साहित्य में इस विषय की बहुत सूक्ष्म चर्चा उपलब्ध होती है कि परमाणुओं का किस प्रकार संक्रमण होता है और किस प्रकार प्रभाव होता है। कोई मुनि किसी स्थान पर बैठता है तो यह विधान है कि स्थान का प्रमार्जन किए बिना दूसरा न बैठे। और यदि कोई स्त्री बैठी है और साधु को वहां बैठना है तो अन्तर्मुहूर्त का अन्तराल किए बिना न बैठे। आज ये बातें बहुत स्पष्ट हो गई। आज की फोटोग्राफी ने इन तथ्यों को इतना स्पष्ट

कर दिया कि इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहा है। आज बहुत संवेदनशील कैमरे बन गए हैं। हम यहां इतने लोग बैठे हैं। यहां से चले जाएं, दो घंटे बाद भी इस पूरी परिषद् का फोटो लिया जा सकता है। आदमी तो चला गया पर आदमी के परमाणु तो वहीं मौजूद हैं, वहीं विद्यमान हैं। वे तदाकार रहते हैं, उसी आकार में रहते हैं। मैंने पहले ही कहा था कि हमारा यह आकाशमण्डल इतना विशाल है, उसमें इतना कुछ भरा पड़ा है कि पूरा तो नहीं, एक अणु का भी पता लग जाए तो भी आश्चर्य से भर जाए।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को बहुत जागरूक बनना पड़ता है। हम प्रतिक्षण श्वास के प्रति जागरूक रहें। हम निरन्तर शरीर में होने वाले प्रकंपनों के प्रति जागरूक रहें। निरन्तर अपने चैतन्य-केन्द्रों में होने वाले पर्यायों, परिणमनों और परिवर्तनों के प्रति जागरूक रहें। यह जागरूकता क्यों? ध्यान का यह मतलब नहीं कि एक जगह ध्यान केन्द्रित कर दिया और उसी जगह चलते चलें। यह कोई बड़ी बात नहीं है। ध्यान में संज्ञा-शून्यता नहीं होनी चाहिए। ध्यान में मूर्च्छा भी नहीं होनी चाहिए। ध्यान में मान की विस्मृति भी नही होनी चाहिए। ध्यान का मतलब है—जागरूकता, जागरूकता का विकास। छोटी-से-छोटी घटना अपने शरीर के भीतर होने वाली और अपने आसपास में होने वाली, विकसित होते-होते पूरे आकाशमण्डल में होने वाली घटना को पकड़ा जा सके। इतनी हमारी संवेदनशीलता जाग जाए।

आहार की चर्चा में एक बात और चर्चित करना चाहता हूं। आहार भोजन और जीभ का बहुत गहरा सम्बन्ध हैं। जिस व्यक्ति ने जीभ को अनुशासित नहीं किया, वह व्यक्ति वासना को अनुशासित नहीं कर सकता। मेरे मन में भी प्रश्न था बहुत वर्ष पहले कि कहां का सम्बन्ध जोड़ा। आहार का, भोजन का, काम का और वासना का क्या सम्बन्ध है? किन्तु जैसे-जैसे इस विषय की गहराई में पहुंचा, मुझे लगा कि सत्य कभी खोज लिया जाता है, सत्य हमारे सामने रह भी जाता है। पर व्याख्या खो जाती है। ताला रह जाता है, चाबियां खो जाती हैं। चाबियां नहीं होती हैं तो ताले भी निकम्मे हो जाते हैं। यही हुआ। हमारे शरीर का एक केन्द्र है, जिसे हठयोग की भाषा में स्वाधिष्ठान चक्र कहा जाता है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में हम उसे स्वास्थ्य केन्द्र कहते हैं। इसके साथ दोनों बातें जुड़ी हुई हैं—काम वासना और भोजन की वासना। दोनों का सम्बन्ध उस स्वास्थ्य केन्द्र से या स्वाधिष्ठान

केन्द्र से है। स्वाधिष्ठान चक्र जितना सक्रिय होगा, भोजन की लोलुपता उतनी ही अधिक होगी। स्वाधिष्ठान चक्र जितना सक्रिय होगा, काम की वासना उतना ही प्रबल होगी। स्वाधिष्ठान चक्र को या स्वास्थ्य केन्द्र को निष्क्रिय करना है। वह निष्क्रिय जैसे-जैसे होगा, वैसे-वैसे भोजन की लोलुपता भी मिटेगी और काम वासना भी कम होती जाएगी। देखता हूं कि जैन आगमों में स्थान-स्थान पर भोजन की लोलुपता पर बहुत प्रहार किया गया है। भोजन-संयम पर बहुत बल दिया गया है। आप स्वास्थ्य केन्द्र को निष्क्रिय करने के लिए उस पर ध्यान करें, आपकी भोजन की और वासना की दोनों की लोलुपता कम होगी। यदि आप में शक्ति है, बल है तो आप स्वास्थ्य केन्द्र पर ध्यान बिलकुल न करें। भोजन और मन में उठने वाली तरंगों का संयम करें, स्वास्थ्य केन्द्र अपने आप निष्क्रिय हो जाएगा। किसी भी रास्ते से चलें किन्तु यह रास्ता जरा कठिन है और स्वास्थ्य केन्द्र को निष्क्रिय करना, यह रास्ता जरा सरल है। सरलता और कठिनता की दृष्टि से चुनाव किया जा सकता है। दोनों प्रक्रियाएं हैं। चाहे इधर से चलें, चाहे उधर से चलें, किन्तु लक्ष्य-बिन्दु पर जरूर पहुंच जायेंगे।

भोजन की लम्बी चर्चा के बाद अब नींद पर भी थोड़ी-सी चर्चा कर लें। बड़ा जटिल प्रश्न है नींद का। इसे बुलाने की जरूरत नहीं होती, बिना बुलाए ही आ जाती है। रसोई बनाते शायद नींद नहीं आती होगी, कपड़ों की सिलाई करते या गप्पें हांकते समय नींद नहीं आती होगी, सिनेमा देखते समय भी शायद नींद नहीं आती होगी, किन्तु ध्यान में बैठते ही नींद शुरू हो जाती है। जैसे ध्यान में चित्त को निर्मल बनाने का अवसर है उतना ही नींद को लेने का है। दोनों का समान अवसर है। यह नींद के लिए बहुत अच्छा अवसर है। ऐसे सोते समय भी पूरी नींद नहीं आती होगी। जिन लोगों को नींद नहीं आती है उन्हें नींद की गोलियां लेने की जरूरत नहीं। कायोत्सर्ग की स्थिति में बैठ जाएं तो उनका काम हो जाएगा। अपने आप काम हो जाएगा। किन्तु कठिनाई तो तब होती है जब ध्यान में नींद सबसे पहले अपना आसन बिछा देती है। वे तो अपना आसन बिछा ही नहीं पाते, नींद पहले ही अपना आसन बिछा देती है। बड़ी कठिनाई होती है।

नींद और जागरण—दोनों साथ जुड़े हुए हैं। जागना और सोना—दोनों बातें हैं। खाने के बारे में कोई नियम नहीं बनाया जाता। हर व्यक्ति की भूख अलग-अलग होती है। इसी प्रकार नींद के विषय में भी नियम नहीं बनता। बन भी कैसे सकता है? सबके अपने-अपने नियम हैं।

एक किसान था। किसी ने कहा कि भोजन करो तो बीच में पानी पी लिया करो। बहुत अच्छा है। अनपढ़ आदमी बात को बहुत जल्दी पकड़ता है। और पकड़ता है तो पूरी तरह से पकड़ता है। फिर छोड़ता नहीं है जल्दी से। बीच में पानी पीने लगा। चार रोटियां खाता था। दो खाता और बीच में पानी पी लेता। मोटी-मोटी रोटियां। एक दिन भूल गया। पत्नी से बोला—आज तो पानी पीना भूल ही गया, याद ही नहीं दिलाया। तो कोई बात नहीं, पानी ले आओ। पानी पीया और फिर चार रोटियां और खा लीं। उसने आठ रोटियां खा लीं और हजम कर गया। इसलिए एक नियम नहीं बनता आदमी के लिए। क्योंकि अलग-अलग पाचन की शक्ति होती है। ठीक इसी प्रकार नींद के लिए नियम नहीं बनता कि कितनी नींद लेनी चाहिए। एक व्यक्ति दो-चार घंटे नींद लेकर पूरी शक्ति का और ताजगी का अनुभव करता है। एक व्यक्ति सात-आठ घंटे सो जाता है तो भी ऊंघता ही रहता है। आचार्यश्री बारह बजे सोते हैं और मैं भी बारह बजे सोता हूं। चार बजे उठ जाते हैं। मैं भी उठ जाता हूं। आचार्यश्री कहते हैं कि नींद जमा नहीं रहती। मुझे लगता है कि नींद जमा रहती है। अलग-अलग स्थिति होती है। बहुत कम सोते हैं आचार्यवर। फिर भी वे कभी महसूस नहीं करते कि भार है, सिर पर कर्जा चढ़ गया तो उसे उतारना है। मुझे अनुभव होता है कि भार है और इस नींद की कमी को पूरा किया जाए। तो अलग-अलग स्थिति होती है।

नींद के बारे में कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता कि इतना समय नींद में लगना चाहिए। किन्तु एक बात बहुत महत्त्वपूर्ण है साधना की दृष्टि से। उस पर साधना करने वाले व्यक्ति को तो ध्यान देना जरूरी है। इसलिए जरूरी है कि सारी संस्कृति और सभ्यता बदलती जा रही है। आज आठ बजे उठने की संस्कृति पनप रही है। सूर्योदय की बात छोड़ दें। आज आठ-नौ बजे उठने की बात सामान्य होती जा रही है। कभी कहा गया था कि चार बजे उठना, ब्राह्म मुहूर्त में उठना—कुछ समय के बाद तो वह बात भी एक कल्पना की बात हो जाएगी। जैसे राजा लोग कल्पना की बात बन गए वैसे ही यह चार बजे उठने की बात भी शायद कल्पना की बात बन जाएगी। हमारा यह कोई आग्रह नहीं कि आठ बजे न उठा जाए। ठीक है, जिनको बहुत व्यवसाय करना है, धन्धा करना है, व्यस्त रहना है, व्यस्तता में जीवन को बिताना है, वे चाहे आठ बजे उठें, चाहे नौ बजे उठें, किसको

आपत्ति है ? किन्तु साधना की दृष्टि से सोचने वाले व्यक्ति को इस बात पर जरूर ध्यान देना होगा कि समय का अपना मूल्य होता है और आज उसकी वैज्ञानिक महत्ता भी हो सकती है। शरीरशास्त्र की दृष्टि से हम इसकी व्याख्या करें कि हमारा जो पीनियल ग्लेण्ड है उससे दो प्रकार के स्राव होते हैं—सेराटोनिन और मेलाटोनिन। ये दो हारमोन्स बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जो मेलाटोनिन है वह काम पर नियन्त्रण करने वाला है। काम-वासना को जगाने वाले हारमोन्स बाहर से आते हैं, पीनियल से आते हैं और उन पर नियन्त्रण करने करने वाला है—मेलाटोनिन। वह तीन या चार बजे तक वृत्ति पर नियन्त्रण रखने का काम करता है। चार बजे के बाद प्राण के प्रवाह को भरने लगता है। हम बाहर से, आकाशमण्डल से बहुत प्राण लेते हैं। जब तक मेलाटोनिन अपना काम नहीं करता, प्राण के प्रवाह को हम अपने भीतर ले नहीं सकते। चार बजे का समय है कि उस समय प्राण का प्रवाह मेलाटोनिन के द्वारा पूरे शरीर में भरता है, नयी स्फूर्ति और नयी चेतना जागती है। बहुत सारे आकाशमण्डल से आने वाले विकिरणों के अनुदान का समय होता है तीन और चार बजे का। इसलिए बतलाया गया कि ध्यान के लिए सबसे अच्छा समय है दो बजे के बाद चार बजे तक का। यों पांच बजे तक यानी पूर्वरात और अपररात। जो पूर्वरात में और अपररात में आत्मा के द्वारा अपने आपको देखता है, यह समय साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण समय होता है। रात्रि के बारह बजे के बाद चार बजे तक का या पांच बजे तक का, इस समय जो व्यक्ति उठता है वह प्राण से भरा हुआ अनुभव करता है, स्फूर्ति से अपने आपको भरा हुआ अनुभव करता है। बाद में सोने वाला सोता है तो नींद भी लेता है और उठता है तो आलस्य में भरा हुआ। उठ जाने के बाद आदमी ऐसा अनुभव करता है कि पूरी ताजगी आयी नहीं। नींद और जागरण पर और लम्बी चर्चा न भी करें, यह निश्चित है कि मानसिक बल को बढ़ाने के लिए कम नींद लेना बहुत जरूरी है। बहुत सोना बहुत खराब है। सोने में एक हानि तो प्रत्यक्ष है। आपने सुना कि सोते समय हमारी श्वास की संख्या बढ़ जाती है। १५ से १८ श्वास हो जाती है। श्वास की संख्या बढ़ना स्वास्थ्य और दीर्घायु दोनों ही दृष्टि से हानिकारक है। जागना बहुत अच्छा होता है। साधना करते-करते व्यक्ति जागने का इतना अभ्यास कर लेता है कि नींद की स्थिति भी समाप्त हो जाती है। जैसे कुछ व्यक्तियों को भोजन की जरूरत नहीं होती तो फिर कुछ व्यक्तियों को कभी नींद लेने की जरूरत नहीं होती। अप्रमत्त मुनि नींद नहीं लेता।

जिनकल्पी मुनि बहुत थोड़ी नींद लेते हैं। यथालन्दक अर्थात् निरन्तर अप्रमाद की साधना करने वाला नींद से परे हो जाता है। भगवान् महावीर ने अपने पूरे साधनाकाल में, बारह वर्ष से ज्यादा साधनाकाल में, केवल कुछ मिनटों की नींद ली। एक घंटा भी नींद नहीं ली। इस स्थिति को भी प्राप्त किया जा सकता है।

आहार और नींद—इन दोनों पर ठीक विचार करें तो ये दोनों मानसिक विकास या मनोबल बढ़ाने में बहुत सहयोगी बनते हैं। हमारे शरीर की शक्ति, स्फूर्ति प्राणवत्ता है। वह बढ़े और जो इस साधना के द्वारा बढ़ती है, वह विकास के लिए होती है और दूसरे की भलाई के लिए बढ़ती है। शक्ति दूसरे स्रोतों से भी प्राप्त की जा सकती है। आप एकान्ततः इस बात को स्वीकार न करें। शक्ति बढ़ाने के दूसरे स्रोत भी हैं। ऐसे पदार्थ भी हैं, ऐसी औषधियां भी हैं कि जिनके द्वारा शक्ति को बढ़ाया जा सकता है, किन्तु एक अन्तर आएगा कि पदार्थों से और दूसरे प्रकारों से बढ़ाई हुई शक्ति, पछाड़ने वाली शक्ति होगी। अपने भीतरी स्रोतों से बढ़ाई जाने वाली शक्ति, उठाने वाली शक्ति होगी।

एक बच्चे से कहा गया कि तुम मल्ल-पहलवान बनो। छोटा बच्चा नहीं था, थोड़ा समझदार हो गया था। उसने पूछा—'क्यों ? किसलिए ? क्योंकि मल बड़ा ताकतवर होता है। यह तो ठीक बात है, ताकतवर तो मुझे बनना है और बताने वाला बोलता गया कि इतनी ताकत उसमें होती है कि सामने जबर्दस्त से जबर्दस्त व्यक्ति को पछाड़ देता है। वह बोला—नहीं बनूंगा, मुझे नहीं चाहिए। मैं ताकतवर तो बनूंगा, मुझे शक्ति चाहिए किंतु वह शक्ति नहीं चाहिए जो दूसरों को पछाड़ सके। वह शक्ति चाहिए जो दूसरे को उठा सके। शक्ति होती है पर शक्ति के दो रूप हो जाते हैं। साधना के द्वारा, अपने भीतरी स्रोतों के द्वारा, आहार और नींद के संयम के द्वारा जो मन की शक्ति बढ़ती है वह दूसरे को उठाने वाली शक्ति होती है, दूसरे का कल्याण और भलाई करने वाली शक्ति होती है। दूसरे-दूसरे स्रोतों से प्राप्त होने वाली शक्ति दूसरे को पछाड़ने वाली शक्ति होती है।

हम स्वयं अपना निर्णय करें विवेक से और ऐसी शक्ति का अर्जन करें जो स्वयं को तो उठाए ही, दूसरे को भी उठा सके।

एकला चलो रे

हमारे जीवन में कुछ द्वन्द्व हैं। पूरा जीवन द्वन्द्वात्मक पद्धति से चल रहा है। एक को खोजना हमारे लिए असम्भव जैसा बन गया। केवल प्रकाश और अंधकार, सर्दी और गर्मी का द्वन्द्व ही नहीं है। हमारे मन में भी बहुत सारे द्वन्द्व हैं। सुख और दुःख का भी द्वन्द्व है। दुनिया में कोई भी व्यक्ति ऐसा जन्मा नहीं और जन्मने वाला भी नहीं है जिसने केवल सुख का ही अनुभव किया हो या केवल दुःख का ही अनुभव किया हो। यह भी एक द्वन्द्व है। समझदार आदमी द्वन्द्वातीत होना चाहता है। पर द्वन्द्वों की दुनिया इतनी बड़ी है कि उसको पार करना हमारे वश की बात नहीं। यह महासागर इतना विशाल है कि इसे तैर कर पार करना सम्भव नहीं है। अकेला होना, द्वन्द्व से मुक्ति पाना परम लक्ष्य है।

पूरी अध्यात्म की साधना, ध्यान-रोग की सारी प्रक्रिया अकेला होने की प्रक्रिया है। भगवान् महावीर ने साधक के लिए कुछ सूत्र दिये। उनमें से एक सूत्र है—'निकेयमिच्छेज्ज विवेकजोग्गं····। स्थान-विविक्त हो साधक एकान्त-वास करे। एकांतवास को जीवन की परम उपलब्धि मानता हूं। जिस व्यक्ति ने एकांत में बसना, एकांत में रहना नहीं सीखा, जिसे एकांतवास का सुयोग नहीं मिला वह सही अर्थ में सौभाग्यशाली आदमी नहीं है। वह महान सौभाग्यशाली है जिसे एकांतवास का सुयोग मिला हुआ है। बहुत कठिन है एकांत में रहना। भय घिरा हुआ है। दो होते हैं, भय नहीं होता है। अकेला हुआ, डर शुरू हो जाता है।

एक व्यंग्य पढ़ा था मैंने। एक मित्र ने कहा—आजकल जुड़वां बच्चे बहुत जन्म ले रहे हैं। दूसरे ने कहा—तुम्हें क्यों आश्चर्य होने लगा? आज इतनी हिंसा, इतनी मारकाट, इतने अपराध बढ़ गए हैं, यदि कोई आता हैं तो अकेला अपने आप को सुरक्षित अनुभव नहीं करता। इसलिए कोई आता है तो दूसरे को साथ में लेकर आता है।

लगता है कि पूरा वातावरण भय से भरा हुआ है। अकेले आदमी को साहस नहीं होता कि यात्रा अकेला करे। अकेला होना, एकांतवास करना

परम उपलब्धि है तो परम भय का कारण भी बनता है। साधक एकांतवास करे। अकेलेपन का अनुभव करे। आदमी इसलिए ज्यादा दुःखी है कि वह अकेला रहना नहीं जानता। अकेला रहना एक बड़ी कला है। हर व्यक्ति अकेला रहना नहीं जान सकता। जो व्यक्ति इस कला को जान लेता है वही व्यक्ति अकेला रह सकता है।

हम शांति चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं, शक्ति चाहते हैं, सत्य को खोजना चाहते हैं। मैं पूछना चाहता हूं—शान्ति कहां है? आनन्द कहां है? शक्ति कहां है? सत्य कहां है? क्या कोई दूसरे लोक में है? कहीं नहीं। ये सारे के सारे हमारे आसपास में, हमारे चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। शान्ति हमारे चारों ओर घूम रही है। सत्य हमारे दाएं-बाएं, आगे-पीछे, चारों ओर सत्य ही सत्य भरा पड़ा है। आनन्द के स्रोत हमारे पास में बह रहे हैं, तेज निर्झर प्रवाहित हो रहे हैं। सब हैं—शांति का स्रोत, शक्ति का स्रोत, आनंद का स्रोत, परम सत्य। सब हमारे आसपास हैं किन्तु हम देख नहीं पा रहे हैं और इसलिए नहीं देख पा रहे हैं कि हम बहुत व्यस्त हैं।

व्यस्त आदमी अकेला नहीं हो सकता। अकेला आदमी कभी व्यस्त नहीं हो सकता। किसी से भी कहा जाए कि ध्यान करो, साधना करो। वह कहेगा, समय कहां है? बहुत व्यस्त हूं। कई बार मैं पूछ लेता हूं कि इतने ज्यादा व्यस्त हो तो क्या समय २० घंटे का होता है? पूरे २४ घंटे का समय मिलता है, फिर इतनी व्यस्तता क्यों? व्यस्तता का अर्थ होता है कि हम समय का ठीक नियोजन करना नहीं जानते। जो व्यक्ति समय का नियोजन करना जानता है, वह कभी व्यस्त नहीं होता। इस व्यस्तता की अनुभूति ने, इस व्यस्तता की भावना ने हमारी आंखों से इन सारी सचाइयों को ओझल कर दिया। एक बहुत बड़ा बहाना और आवरण हमारे सामने आ गया कि हम बहुत व्यस्त हैं।

पुराने जमाने की घटना है कि एक चोर पकड़ा गया। कारागार में डाल दिया। संतरी पहरा दे रहा था। ऐसा हुआ कि रात को चोर भाग गया। राजा को पता चला। सन्तरी को बुलाया और पूछा—'चोर चला गया? कैसे गया? कैसे भागा?' सन्तरी बोला, 'महाराज! क्षमा करें, मैं चिन्तन में व्यस्त था और पता ही नहीं चला कि चोर कब भाग गया।'

व्यस्तता तो एक ऐसा बहाना है कि किसी भी परिस्थिति में यह कहा जा सकता है कि मैं काम में व्यस्त था, मुझे पता ही नहीं चला। कहीं-कहीं

तो अनहोनी घटनाएं भी व्यस्तता के नाम पर मान्य हो जाती हैं। तर्क के रूप में प्रस्तुत हो जाती हैं।

बच्चा पढ़ रहा था। बिजली चली गई। पिता आया, पूछा, 'क्यों रे, क्या कर रहा है ?' बोला, 'पढ़ रहा हूं।' 'बिजली तो है ही नहीं, क्या पढ़ रहा है ?' बच्चा बोला, 'अरे ! बिजली तो है ही नहीं, कब चली गई, पता ही नहीं चला।'

एक ऐसा आवरण मनुष्य के सामने आ गया। सारी सचाइयों को झुठलाने का एक बड़ा बहाना आ गया। जो व्यक्ति व्यस्त है, वह कभी अकेला नहीं हो सकता। जो अकेला नहीं हो सकता, वह सचाइयों को उपलब्ध नहीं हो सकता। एकांतवास एक बहुत बड़ा सूत्र है—सचाइयों को उपलब्ध होने का। एकांत का एक दूसरा अर्थ और है। एकांत में रहना यह पहला अर्थ और दूसरा अर्थ है—समूह के साथ रहते हुए भी अकेलेपन का अनुभव करना। साधना का परम सूत्र है—अकेलेपन का अनुभव। बड़े-बड़े साधकों ने इसके प्रयोग करवाये। जैन साधना पद्धति में बारह अनुप्रेक्षाएं हैं। इनमें एक अनुप्रेक्षा है—एकत्व अनुप्रेक्षा। इसका अर्थ है—निरन्तर अकेलेपन का अनुभव करना, अनुचिन्तन करना। समूह में रहते हुए अकेलेपन का अनुभव करना नहीं जानता, वह कभी दुःखों से अपने आपको नहीं बचा पाता। किसी ने कुछ कहा, मन में दुःख हो गया। कोई गाली दी, मन दुःख से भर गया। अप्रिय बात कही, मन दुःख से भर गया। मन के प्रतिकूल कोई घटना घटी, मन दुःख से भर गया। दिन में न जाने कितनी बार हमारे प्रतिकूलताएं आती हैं, अप्रियता के संवेदन आते हैं और मन भारी हो जाता है, दुःख से भर जाता है। इसलिए भरता है कि हमने सम्बन्ध को भी सचाई मान लिया है।

एक मालिक का और नौकर का सम्बन्ध है, मात्र सम्बन्ध है। सम्बन्ध को हम सम्बन्ध मानते हैं तो कोई कठिनाई नहीं होती। सम्बन्ध का मतलब होता है कि दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व—वह अलग और वह अलग। मैं अकेला और वह भी अकेला। सुविधा के लिए हमने एक सम्पर्क स्थापित किया, एक सम्बन्ध स्थापित किया। एक हमारे सम्बन्ध की अनुभूति होती है, एक हमारी अभिन्नता की अनुभूति हो जाती है। जहां अभिन्नता नहीं है वहां हमारी अभिन्नता का आरोपण और जहां हमारी एकता है उसकी विस्मृति, उसका परिणाम यह होता है कि नौकर कोई बात स्वीकार नहीं

करता और मालिक तत्काल गुस्से में आ जाता है। एक बराबर का आदमी कोई बात स्वीकार नहीं करता तो जल्दी गुस्सा नहीं आता। नौकर कोई बात नहीं मानता तो मालिक तिलमिला उठता है। लड़का पिता की बात नहीं मानता है तो पिता क्रोध से आगबबूला हो जाता है, इसलिए कि उसने अपने एकत्व को भुला दिया कि मैं अकेला हूं। यदि इसकी सतत स्मृति रहे तो वह सोचेगा कि जैसा मेरा अस्तित्व, वैसा ही सामने वाले का अस्तित्व। मेरी स्वतन्त्र चेतना तो इसकी भी स्वतन्त्र चेतना। मुझे यदि अपना स्वतन्त्र निर्णय लेने का अधिकार है तो उसे भी अपना स्वतन्त्र निर्णय लेने का अधि- है। यदि अकेलेपन की अनुभूति सुरक्षित रहे तो कोई कठिनाई नहीं होती, बार-बार आवेश आने की परिस्थिति नहीं बनती। उस स्थिति में हम अकेले- पन की बात को भूलकर और सम्बन्ध को इतना 'सत्य' मान लेते हैं कि सम्बन्धों के आधार पर हजार बार दुःखों का भार ढोते रहते हैं। पति-पत्नी के झगड़े, पिता-पुत्र के झगड़े, मालिक और नौकर के झगड़े—ये सारे झगड़े, सारे विवाद, सारे संघर्ष जो निकटता के परिपार्श्व में होते हैं, निकटता की भूमिका पर होते हैं, वे सारे के सारे अपने आपको अकेला न मानने के कारण होते हैं।

समाज एक सचाई है, किन्तु व्यक्ति उससे बड़ी सचाई है। व्यक्ति स्वा- भाविक सचाई है और समाज एक व्यवस्थापित सचाई है। समाज को हमने व्यवस्थित किया है, अपनी सुविधाओं के लिए, अपनी उपयोगिता के लिए। किन्तु उल्टा हो गया—हमने समाज को तो सत्य मान लिया और व्यक्ति को बिलकुल भूला दिया। दोनों दृष्टियों को हम न भूलें। एक वास्तविक सत्य होता है और एक व्यावहारिक सत्य होता है। समाज एक व्यावहारिक सत्य है और व्यक्ति वास्तविक सत्य है। जहां-जहां व्यक्ति की विस्मृति होती है वहां-वहां समस्या पैदा होती है। चाहे समाजवादी व्यवस्था हो, चाहे कोई दूसरी व्यवस्था हो, जहां व्यक्ति को सर्वथा गौण कर दिया जाता है वहां अनपेक्षित कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं।

वर्तमान की चिंतनधारा में जो सबसे बड़ी कठिनाई पैदा हुई है वह यह है कि व्यक्ति को बहुत गौण कर दिया। इतना गौण कर दिया कि जितना नहीं करना चाहिए। यह तो होता है कि कभी-कभी उपयोगिता के लिए एक को गौण और दूसरे को मुख्य करना आवश्यक होता है। हम चाहते हैं तो एक पैर को मुख्य करते हैं और दूसरे को गौण करते हैं। एक पैर आगे बढ़

जाता है, दूसरा पीछे रह जाता है। पीछे वाला आगे बढ़ता है और आगे वाला पीछे रह जाता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। गौणता और मुख्यता होती है, पर यदि एक पैर को नितान्त ही गौण कर दें, अगर हमारा यह आग्रह बन जाए कि बायां पैर ही निरन्तर आगे रहे, चलता रहे, क्योंकि ज्योतिषी बतलाते हैं, शकुनशास्त्री बतलाते हैं कि यात्रा करते समय बायां पैर ही आगे रहे निरन्तर, तो क्या आप चल पाएंगे? क्या गति हो पाएगी? नहीं, अवरोध आएगा। कभी बाएं पैर को आगे रखने का आग्रह नहीं हो सकता।

आपने देखा है बिलोना करने वाली महिला को। वह बिलोना करती है तो एक हाथ आगे जाता है और दूसरा पीछे चला जाता है। फिर पीछे वाला आगे आता है और आगे वाला पीछे हो जाता है। यह आग्रह हो जाए कि दाएं हाथ को ही आगे रखना है तो क्या मक्खन निकलेगा? कभी मक्खन आपको उपलब्ध नहीं होगा।

गौण और मुख्य हमारी प्रवृत्ति की स्वाभाविक प्रक्रिया है। किसी को गौण कर देना होता है ओर किसी को मुख्यता देनी होती है। हम इस बात को न भूलें कि जिसे गौणता दी है उसे ही मुख्यता देनी होगी, जिसे मुख्यता दी है उसे ही गौणता देनी होगी। तब जीवन की यात्रा सम्यक् प्रकार से चलेगी। यदि गौण और मुख्य को आग्रह बना लिया कि गौण को गौण ही रखना होगा और मुख्य को मुख्य ही रखना होगा तो जीवन का रथ ठीक अपनी गति से चल नहीं पाएगा।

हमने व्यक्ति को सर्वथा गौण बना दिया। हमारी दृष्टि समाज पर अटक गई। समाज की सब कुछ है। हमारे सामने समाज है और समाज के सामने व्यक्ति को चाहे जैसे किया जा सकता है। मारा जा सकता है, काटा जा सकता है, कारागार में डाला जा सकता है, सब कुछ किया जा सकता है क्योंकि हमारा लक्ष्य है—समाज। समाज होना चाहिए, समाज की गति होनी चाहिए। समाज के सामने व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। इतना निर्मूल्य व्यक्ति को बनाने का अर्थ ही आज स्वयं हमारे लिए समस्या बन गया है।

साधना के क्षेत्र में यह दृष्टि हमारी कार्यकर नहीं हो सकती। जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहता है, जो व्यक्ति सत्य को उपलब्ध होना चाहता है, जो व्यक्ति दुःखों को कम करना चाहता है उसे सन्तुलन स्थापित करना होगा—व्यक्ति को इतनी गौणता नहीं दे सकता और अपने अकेलेपन

को भी नहीं भुला सकता। बराबर उसकी दृष्टि में यह सचाई तैरती रहेगी कि मैं समाज से जुड़ा हुआ हूं, सम्बन्धों से, सम्पर्कों से जुड़ा हुआ हूं। ये सारे सम्पर्क, ये सारे सम्बन्ध, ये सारी व्यवस्थाएं, ये सारी उपयोगिताएं जो हैं मैं इन्हें मानता हूं, स्वीकार करता हूं, उपयोग लेता हूं, देता हूं, विनिमय करता हूं, सब कुछ है, परन्तु इतना होने पर भी अन्तिम बात यह है कि आखिर मैं व्यक्ति हूं—अकेला हूं। यह सचाई जिस व्यक्ति के सामने रहती है वह हर बात पर क्रुद्ध नहीं होगा, बात-बात पर आवेश में नहीं भर जाएगा। बात-बात पर दुःखी नहीं बनेगा। वह सोचेगा कि यह दुनिया का स्वभाव है, ऐसा होता है।

पिता ने पुत्र को धोखा दिया। पुत्र ने पिता को धोखा दिया। पत्नी ने पति को धोखा दिया। पति ने पत्नी को धोखा दिया। मां ने बेटे को और बेटे ने मां को धोखा दिया। जो व्यक्ति अकेला होना जानता है, अकेलेपन की महत्ता को जानता है वह इतने में बात को समाप्त कर देगा कि यह दुनिया का स्वभाव है, न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। बात समाप्त हो जाती है। दो मिनट में घटना का प्रभाव समाप्त हो जाता है। दुःख के गहरे बादल नहीं उमड़ते। किन्तु जो इस बात को नहीं जानता, वह तो वर्षों तक भार ढोएगा कि मैं इस बात को नहीं भूल सकता कि मां ने मेरे साथ क्या व्यवहार किया था। और कोई दूसरा करता है तो मुझे कोई कष्ट नहीं होता है, किन्तु मेरे पिता ने इतना पक्षपात किया कि एक भाई को तो इतना दे दिया और मुझे अंगूठा दिखा दिया। मैं इस बात को नहीं भूल सकता। और कुछ हो सकता है किन्तु मेरे पिता ने मेरे साथ जो शत्रुता की है वह जीवन भर तो क्या, जन्मान्तर तक भी नहीं भूल सकता।

भगवान् महावीर के जमाने की घटना है। राजा ने सोचा कि लड़के को राज नहीं दूंगा। नीति खराब नहीं, कोई वैरभाव नहीं। सोचा, कि एक सामान्य सिद्धांत चलता है—राजेश्वरी नरकेश्वरी। राजा होता है, वह नरक में जाता है। मैं अपने पुत्र का हित चाहने वाला यह कैसे कर सकता हूं कि मेरा बेटा नरक में जाए? उसे राजा नहीं बनाऊंगा। मैं स्वयं संन्यासी बन रहा हूं। उसे इसमें क्यों फंसाऊं? बहुत अच्छी बात सोची। पुत्र को राज्य नहीं दिया। जो भानजा था, उसे राजा बना दिया। अब पुत्र के मन में एक प्रतिक्रिया पैदा हुई। पिता ने कितना अन्याय किया? मुझे राज्य नहीं दिया। उसे राज्य पर बिठा दिया, जिसका राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं। इतनी भयं-

कर प्रतिक्रिया जागी, इतनी भयंकर प्रतिशोध की आग की लपटें उठने लगीं कि वह सब कुछ भूल गया। घटना तो घट गई। पिता मुनि बन गया, भानजा राजा बन गया। वह प्रतिशोध के झूले में जीवन भर झूलता रहा। महामात्य अभयकुमार ने समझाया। औरों ने भी समझाया कि तुम ऐसा मत करो। इस घटना को भुला दो, मन से निकाल दो। तुम्हारा शरीर भी ठीक नहीं हो रहा है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य—सब गड़बड़ा रहा है। धार्मिक भी था, धर्म की आराधना, प्राणियों के साथ मैत्री की भावना भी करता। क्षमायाचना भी करता। जब सांवत्सरिक पर्व आता, तो क्षमायाचना भी करता, किन्तु एक बात छोड़ देता। बोलता, '८४ लाख जीव योनियां हैं। सबके साथ अनजाने में कोई अप्रिय व्यवहार हुआ हो तो क्षमायाचना करता हूं, केवल पिता को छोड़कर।' एक बात छूट जाती है। इसलिए कि औरों ने कोई अपराध किया हो तो मैं क्षमा कर सकता हूं, क्योंकि वे पर हैं, दूसरे हैं, किन्तु मेरा पिता मेरे साथ ऐसा व्यवहार करे, कभी क्षमा नहीं कर सकता।

ये सारी मनोवृत्तियां हमारी बनती हैं व्यक्ति को भुलाने के कारण। इस मनोविज्ञान को हम कभी न भूलें कि मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सम्बन्ध को सामने रखकर निर्णय लेता है, क्योंकि वह सम्बन्धों को सामने रखकर जीता है, सम्बन्धों को भोगता है, सम्बन्धों का निर्वाह करता है। किन्तु सम्बन्ध तो सम्बन्ध होते हैं, सचाई-सचाई होती है। हम दोनों को एक तराजू में नहीं तोल सकते। दोनों की अलग-अलग तुलाएं होती हैं।

यह अध्यात्म का एक महान् सूत्र है—समूह में रहते हुए भी एकांत का अनुभव करना। साधना करने वाले व्यक्ति के लिए यह परम वांछनीय है। जिस व्यक्ति ने अकेलेपन का अनुभव किया उसने सचमुच अपनी चेतना को बदल दिया, अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर लिया।

आपने पढ़ा होगा, रूस के महान् साधक गुर्जिएफ इसका बहुत प्रयोग करवाते थे। तीन महीने का प्रयोग करवाते थे कि एक हॉल में १०, २०, ३० आदमी एक साथ रहें। साथ में खाएं-पीएं-जीएं पर निरन्तर 'मैं अकेला हूं' इस बात का अनुभव करते रहें। जो एकत्व अनुप्रेक्षा का सूत्र था, वही उसने काम में लिया। सत्य पर किसी का अधिकार नहीं होता। सत्य सार्वभौम होता है।

हिन्दुस्तान का व्यक्ति हो या रूस का व्यक्ति हो, चाहे दुनिया के किसी कोने में जन्म लेने वाला व्यक्ति हो, जो अध्यात्म की भूमिका में जाता है,

जो सत्य की खोज में जाता है, उन सभी को वही बात मिलती है जो यहां मिलती है। उनके लिए देश और काल की सारी सीमाएं समाप्त हो जाती हैं।

एकांतवास का अर्थ है—एकांत में रहने का अभ्यास, एकांत का प्रयोग। दूसरा अर्थ है—एकत्व का अनुभव। एकांतवास का तीसरा अर्थ है—प्रतिस्रोत गमन की क्षमता। भीड़ में चलना, स्रोत के साथ-साथ चलना—यह गमन का एक प्रकार है। दूसरा, भीड़ से विमुख होकर चलना। अनुसरण को छोड़ना—प्रतिस्रोत में चलना है। बहुत सहज होता है अनुस्रोत में चलना। स्रोत बह रहा है, कोई भी तिनका आएगा, स्रोत में बह जायेगा। कोई भी चीज आती है, स्रोत में बह जाती है। स्रोत के प्रतिकूल चलना, बहुत कठिन साधना है। भीड़तन्त्र आज का ही नहीं है, मनुष्य का समाज बना तब से चल रहा है। जब से मनुष्य ने व्यक्ति से अपने आपको समाज में ढाला तो अनुसरण की वृत्ति विकसित हुई। गीता का सूत्र है कि जो श्रेष्ठ आचरण करता है, दूसरा उसी का अनुसरण करता है। बड़ा कठिन प्रश्न है कि कौन श्रेष्ठ? कभी-कभी तो श्रेष्ठ आदमी भी ऐसा आचरण कर लेता है कि अगर दूसरा उसका अनुसरण करे तो बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। क्या श्रेष्ठ कोई प्रमाद नहीं करता? क्या श्रेष्ठ कोई भूल नहीं करता? क्या श्रेष्ठ से कोई गलती नहीं होती? यह सब होता है, तो फिर यह कैसे होगा कि उसका अनुसरण ही हो? श्रेष्ठ का अनुसरण एक बात है किन्तु सापेक्ष बात है। हर बात में आज अनुसरण की बात चल पड़ी और ऐसी मनोवृत्ति बन गई कि मैं क्या करूं, सब लोग ऐसा करते हैं। एक आदमी बहुत बड़ी गलती करता है, चोरी करता है, अप्रामाणिकता का व्यवहार करता है। कहा जाए कि तुम ऐसा करते हो तो कहेगा—क्या मैं ही ऐसा करता हूं, सब कर रहे हैं, मुझे क्यों कह रहे हैं? यह सबके पीछे चलने की मनोवृत्ति, अनुसरण की मनोवृत्ति, यह भीड़तन्त्र समाज के साथ ऐसा जुड़ गया कि हम कठिनाइयों से, समस्याओं से, बुराइयों से अपने आपको अकेला रखने की स्थिति में नहीं हैं। सोचने का तरीका भी यही हो गया।

जब समाज को हम इस दृष्टि से देखते हैं, कि सब लोग ऐसा करते हैं और यदि मैं ऐसा न करूं तो क्या फर्क पड़ेगा अथवा सब लोग ऐसा नहीं करते हैं और मैं ऐसा करूं तो क्या फर्क पड़ेगा? दोनों बातें हमें सत्य से दूर ले जाती हैं। एकत्व का अनुभव करने वाला व्यक्ति, भीड़तन्त्र को न मानने

वाला व्यक्ति, अनुसरण की वृत्ति को छोड़ने वाला व्यक्ति, सामने यह तर्क नहीं रखता कि समाज क्या करता है, समाज क्या नहीं करता है। उसका चिन्तन यह होगा कि मुझे क्या करना चाहिए। दूसरे चाहे करें या न करें, मेरा धर्म क्या है, मेरा कर्त्तव्य क्या है, मेरा दायित्व क्या है। इस चिन्तन का विकास एकत्व की भूमिका के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। हमारी एकत्व की भूमिका नहीं रहती तो मुझे नहीं लगता कि इस प्रकार की वृत्ति का विकास हो सके। हमारे सामने जीवन में अनुकूलताएं एवं प्रतिकूलताएं आती हैं। सर्दी आती है और गर्मी आती है। सर्दी को सहना और गर्मी को सहना। अनुकूलता को सहना और प्रतिकूलता को सहना कठिन काम है। प्रतिकूलता की अपेक्षा अनुकूलता को सहना कठिन काम है। हर व्यक्ति सह नहीं पाता। जब अनुकूलता की स्थिति होती है तो इतना अहंकार से भर जाता है, दर्प से भर जाता है कि अन्याय करते कोई संकोच नहीं होता। जब हाथ में सत्ता होती है, अधिकार होता है, फिर अन्याय करने में कोई संकोच नहीं होता इसलिए नहीं होता कि अनुकूलता को व्यक्ति सहन नहीं कर पाता। द्वेष बुराई तो है पर इतनी भयंकर बुराई नहीं जितनी राग की बुराई है। अप्रियता बुराई तो है पर उतनी बुराई नहीं जितनी प्रियता का संवेदन बुराई है।

एक संस्कृत कवि ने ठीक लिखा कि जो भंवरा काठ को भेदकर चला जाता है, वही भंवरा कमलकोष में बद्ध हो जाता है, उसे भेदकर बाहर नहीं निकल पाता। कहां काठ और कहां कोमल कमलकोष! किन्तु कठोर काठ को भेद देना उसके वश की बात है। किन्तु राग का बन्धन इतना तीव्र होता है कि वह उसे तोड़ नहीं पाता, भेद नहीं पाता। अनुकूलता को सहन करना बहुत बड़ी समस्या है। अकेला होने वाला व्यक्ति, अकेलेपन की साधना करने वाला व्यक्ति सबसे पहले उस राग के बन्धन को तोड़ने की बात को सीख लेता है। समाज कभी अप्रियता के आधार पर नहीं जुड़ता। सम्बन्ध कभी अप्रियता के आधार पर नहीं बनते। कभी दण्डशक्ति का उपयोग करने वाला दूसरे के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। कष्ट दे सकता है, दुःखी बना सकता है, पर सम्बन्धी नहीं बना सकता। सारे के सारे सम्बन्ध जुड़ते हैं प्रेम के धागे के आधार पर, आत्मीयता के धागे के आधार पर। जो प्रेम का धागा है, उसी के आधार पर राग के सम्बन्ध स्थापित होते हैं। किन्तु सत्य आखिर सत्य होता है, उसे झुठलाया नहीं जा सकता। साधना करने वाला व्यक्ति, ध्यान करने वाला व्यक्ति भी इस सचाई को समझ लेता है कि

इस धागे के आधार पर हमने यह सम्बन्ध स्थापित किया है किन्तु यह प्रेम-स्नेह का धागा भी बहुत मजबूत धागा नहीं है और अन्तिम सचाई नहीं है। अन्तिम सचाई यह है कि 'मैं मैं' और 'तू तू'। बहुत कटु बात लग सकती है, अव्यावहारिक बात लग सकती है किन्तु हम इस सचाई को झुठला नहीं सकते। ठीक वह कहानी मुझे याद आ रही है। आदमी आकर बोला कि मियां साहब, आम आए हैं। मियां बोला—मुझे क्या? आदमी बोला—आपके ही आये हैं। मियां बोला—तो तुझे क्या? हम झुठला नहीं सकते सचाई को। आखिर अपना अपना, पराया पराया। अपना अपना होता है, पराया पराया होता है।

मेह वर्षा। खूब घनघोर वर्षा हुई। गड्ढों ने पानी को रोका। छोटी-छोटी तलाइयों ने पानी को रोका। तालाबों ने पानी को रोका। फिर भी पानी, अपार पानी। जितना चाहा उतना रोका और बाकी को धक्का दिया, निकाल दिया। बेचारा घूमता रहा, घूमता रहा। नदियों ने भी लिया, किन्तु शरण नहीं दी। आखिर बहते-बहते समुद्र के पास पहुंचा। तब पानी को अनुभव हुआ कि जिसको जितनी जरूरत है उतना लिया, बाकी बाहर धक्का दिया। क्योंकि अपना अपना, पराया पराया। यह सचाई है कि अपना अपना होता है, पराया पराया होता है। समुद्र पानी के लिए अपना है। समुद्र से पानी निकला और वापस समुद्र में चला गया। वही यदि शरण न दे तो कौन शरण दे सकता है? ये सारे गड्ढे, तलाइयां, सरोवर पराये थे, जितनी जरूरत थी उतना पानी तो लिया और जरूरत पूरी हुई तो निकाल दिया।

हम अकेलेपन की इस सचाई को न भूलें। चाहे कटु हो, चाहे अव्यावहारिक हो। जो इस सत्य को समझ लेता है वह सत्य को उपलब्ध हो सकता है, शांति को उपलब्ध हो सकता है और दुःखों से बच सकता है। एक बहुत बड़ा सूत्र है मनोबल को बढ़ाने का—'एकला चलो'। मैं यह नहीं कहता कि भीड़ के साथ मत चलो। चलना पड़ता है, चलना होगा। हम कभी भीड़ को नहीं छोड़ सकते। सम्बन्धों को सर्वथा नहीं तोड़ सकते। जब तक जीवन की यात्रा है, शरीर है, तब तक सम्बन्धों को नहीं तोड़ सकते। किन्तु जहां से हमारी साधना प्रारंभ होती है उसका पहला बिन्दु 'संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो'—कोई भिक्षु बना, साधना के लिए चला, अणगार बना, घर को छोड़ा जिसने, उसके लिए पहली बात यह होगी कि संयोग से मुक्त हो गया। न माता, न पिता। क्या मुनि के मां होती है? क्या मुनि के

पिता होता है ? न माता न पिता, न कोई भाई। सारे सम्बन्ध छूट गए। भीतर के सम्बन्ध छूटते हैं तो बाहर के सारे सम्बन्ध छूट गए। कहना भी होता है। पहचान भी करानी होती है। स्मृति के कारण यो करता है—मेरी संसारपक्षीया माता। यानी वर्तमान की नहीं। मैं जब संसार में था तब वह मेरी माता थी। मैं अतीत में बदल गया—जीते-जी। जन्म भी बदल गया। तो साधना का अपना जन्म होता है। साधना की अपनी मृत्यु होती है। जो व्यक्ति साधना के लिए चलता है उसका जन्म भी नया हो जाता है। मैं नहीं कहता कि शिविर की साधना करने वाले भी इस भावना को दोहराएंगे कि मेरी संसारपक्षीया माता और मेरी संसारपक्षीया पत्नी। किन्तु यह अवश्य कहना चाहता हूं कि जब आपने ध्यान का प्रयोग शुरू किया है, ध्यान का अभ्यास शुरू किया है तो कम-से-कम इतनी सचाई को तो स्वीकार करना होगा कि जिन सम्बन्धों को हम एक वास्तविकता मानकर चलते रहे हैं, उन सम्बन्धों के प्रति दृष्टि बदल जाए। यह परिवर्तन आए कि सम्बन्ध सम्बन्ध होता है और सत्य सत्य होता है। सत्य को सम्बन्ध न मानें और सम्बन्ध को सत्य न मानें। सम्बन्ध की सचाई व्यवहार की सचाई होती है और सत्य वास्तविक और स्वाभाविक होता है।

एकान्तवास की इतनी दृष्टि विकसित हो जाती है तो जीवन में आने वाली सर्दी और गर्मी, अनुकूलता और प्रतिकूलता, प्रियता और अप्रियता—इन सारी की सारी परिस्थितियों को झेलने की क्षमता बढ़ जाती है, क्षमता विकसित होती है और उसके परिपार्श्व में हम हजारों-हजारों मानसिक समस्याओं, दुःखों और उलझनों से अपने आपको मुक्त कर सकते हैं।

सूक्ष्मलोक की यात्रा

हमारी स्वार्थ चेतना समाप्त हो और परमार्थ की चेतना जागे, क्षुद्रता मिटे और महानता प्रकटे ; नीचे ले जाने वाली संज्ञाएं और वृत्तियां मिलें—ये तीन महान् उद्देश्य हैं ध्यान की साधना के। ध्यान की साधना के द्वारा यदि परमार्थ की चेतना नहीं जागती, महानता विकसित नहीं होती, संज्ञाएं और वृत्तियां नहीं बदलतीं, तो मान लेना चाहिए कि ध्यान की साधना नहीं हो रही है, ध्यान के नाम पर कुछ और हो रहा है, केवल आंखें मुंदी हुई हैं, केवल शरीर ढीला है, मुद्रा ध्यान की है, किन्तु जो होना चाहिए वह नहीं हो रहा है। प्रवृत्ति सही होगी तो निश्चित ही परिणाम होगा। यह एक नियति है कि जिस प्रकार की प्रवृत्ति होगी उसी प्रकार का परिणाम होगा। इस नियति को बदला नहीं जा सकता। ध्यान यदि सही ढंग से हो रहा है तो निश्चित ही परमार्थ की चेतना जागेगी, वृत्तियां बदलेंगी और महानता प्रकटेगी।

हम बदला हुआ व्यक्तित्व देखना चाहते हैं। एक बच्चा जन्म लेता है। माता-पिता उसे पाठशाला में भेजते हैं। इसीलिए कि वह बदले, जैसा है, वैसा ही न रहे। साक्षर बने, पढ़ा-लिखा बने, आगे जाकर विशेषज्ञ बने। बौद्धिक स्तर पर बदले, मानसिक स्तर पर बदले तथा व्यवहार और आचरण के स्तर पर बदले। हर व्यक्ति बदले हुए व्यक्तित्व की अपेक्षा रखता है। जो जैसा है, वैसा देखना नहीं चाहता, वैसा कोई होना और रहना भी नहीं चाहता। ध्यान के द्वारा यह परिवर्तन होना चाहिए, हमारी स्वार्थ की चेतना मिटनी चाहिए। स्वार्थ की चेतना व्यक्ति को क्षुद्र बनाती है। क्षुद्रता संज्ञाओं और वृत्तियों को उभारती है। एक चक्र है—स्वार्थ, क्षुद्रता और वृत्तियों का उभार। दूसरा चक्र है—जब चेतना परमार्थ की होती है तो महानता जागती है। जब महानता जागती है तो वृत्तियां शांत-प्रशांत होती हैं।

स्व की चेतना कलुषित होती है। परमार्थ का यही अर्थ है कि चेतना में से कलुषता का अंश धुल जाए, जो मैलापन है वह धुल जाए, निर्मलता आ जाए। कलुषता समाप्त हुई और चेतना परमार्थ की बन गई। कलुषता होती है तो क्षुद्रता आती है।

खलील जिब्रान ने लिखा है—'मैंने कुछ क्षणों में क्षुद्रता का अनुभव किया। जब अपराध किया और अपराध का समर्थन करने के लिए पाप-पक्ष का समर्थन किया तब क्षुद्रता का अनुभव किया।'

गलती हो जाना, पाप हो जाना, अपराध हो जाना एक बात है, उतनी क्षुद्रता नहीं है। एक आदमी कोई अपराध करता है, गलती करता है, उस क्षण में वह सचमुच क्षुद्र बन जाता है यह होता है दुनिया में। एक आदमी गलती करता है, प्रमाद करता है, कोई कहे कि तुमने गलती की तो वह उसे स्वीकार करना नहीं चाहेगा। तत्काल यह तर्क सामने आएगा कि क्या बुरा किया मैंने ? क्या यह काम बुरा है ? कोई बुरा नहीं है। तुम नहीं समझते हो। अब तक जिस परिस्थिति में मैंने वह व्यवहार किया, वह आचरण किया, उस स्थिति में ऐसा करना ही चाहिए। जब यह समर्थन होने लगता है उस क्षण में आदमी सचमुच क्षुद्र बन जाता है।

'जब मैंने दुर्बल व्यक्तियों के सामने दर्प का प्रदर्शन किया तब मैंने अपनी क्षुद्रता का अनुभव किया।'

सामने कोई बड़ा होता है, उसके सामने दर्प का प्रदर्शन नहीं हो सकता। छोटा आदमी कोई सामने आया, उसके सामने दर्प का प्रदर्शन किया। दुर्बल व्यक्ति के सामने तुमने इतने अहंकार का प्रदर्शन किया तो उसमें तुम्हारी क्षुद्रता ही प्रकट होगी, कोई महानता प्रकट नहीं होगी।

मैंने कुरूपता से घृणा की। इस सचाई को तो मैं भूल गया कि घृणा की प्रतिच्छाया का नाम ही कुरूपता है। जिस क्षण मैंने कुरूपता से घृणा की, उस क्षण मुझे अपनी क्षुद्रता का अनुभव हुआ।

हर व्यक्ति को कुछ क्षणों में क्षुद्रता का अनुभव होता है। यह क्षुद्रता का अनुभव ही महानता के मार्ग प्रशस्त करता है, महानता की दिशा में व्यक्ति को आगे बढ़ाता है। जब-जब क्षुद्रताएं समाप्त होती हैं तब-तब व्यक्ति अपने आप निखार पाने लग जाता है।

'मैंने कर्त्तव्य के मार्ग को छोड़कर सुख की पगडण्डी को चुना तब क्षुद्रता का अनुभव हुआ। हर व्यक्ति के सामने दो रास्ते होते हैं—एक राजमार्ग का रास्ता और एक पगडण्डी का रास्ता। कर्त्तव्य का रास्ता राजमार्ग होता है, दायित्व का रास्ता राजमार्ग होता है और अपनी सुख-सुविधा का रास्ता पगडंडी का रास्ता होता है। मैंने जब-जब अपने कर्त्तव्य के मार्ग को छोड़कर सुख-सुविधा का मार्ग चुना, सुख पाने की भावना जागी—पगडंडी चुनी तब

मुझे क्षुद्रता का अनुभव हुआ।'

'जब कुछ पाने के लिए मैंने चापलूसी की, उसी क्षण मुझे अपनी क्षुद्रता का अनुभव हुआ।'

बहुत चलता है यह चापलूसी का काम। यह चमचागिरी बहुत चलती है। थोड़ा-सा स्वार्थ सधे तो आदमी न जाने क्या से क्या करने लग जाता है। थोड़ा-सा स्वार्थ सध जाए तो दुनिया भर की चापलूसी करने लग जाता है। पता नहीं पुराने जमाने में कैसा चलता था। कुछ लोग बड़ी चापलूसी करते थे। राजा के पास गया और कुछ याचना की, विरुदावली गायी। कुछ मिला नहीं तो रूठ गया। तत्काल बोला—'राणा, तू तो भाटो, मोटा माखर मांहिलो।' राणा, तू पत्थर है बना-बनाया, बड़े पहाड़ का पत्थर है, कुछ भी नहीं। जब उसे कुछ मिला, इतने में प्रशंसा शुरू हो गई—'करराखूं काठो, शंकर ज्यूं सेवा करूं।' कितना बदल गया एक क्षण में। नहीं मिला तो पत्थर बन गया। मिला तो शंकर बन गया।

जीवन में हर व्यक्ति के ये क्षुद्रता के क्षण आते हैं। क्षुद्रता का जीवन जीना एक बात है और उसका अनुभव करना दूसरी बात है। जो व्यक्ति साधना के पथ पर आरोहण करता है, कदम आगे बढ़ाता है, उसे स्पष्ट अनुभव होने लग जाता है कि जीवन के किन-किन क्षणों में क्षुद्रता का अनुभव होता है और उन क्षणों से कैसे बचा जा सकता है।

महानता के अनुभव भी होते हैं। जिस जीवन में क्षुद्रता है, उस जीवन में महानता भी छिपी हुई है। क्षुद्रता कहीं बाहर से नहीं आती और महानता भी कहीं बाहर से नहीं आती। जीवन में क्षुद्रता और महानता, दोनों साथ-साथ चलते हैं। इतना-सा अन्तर होता है कि एक पर्दे पर आती है तो दूसरी पर्दे के पीछे रह जाती है। दूसरी पर्दे पर आती है तो पहली पर्दे के पीछे चली जाती है।

ध्यान का एक अर्थ होता है कि क्षुद्रता को पर्दे के पीछे धकेल देना, महानता का विकास करना। जब-जब आदमी सपनों की दुनिया से हटकर यथार्थ का जीवन जीना शुरू करता है तो उसे अपनी महानता का अनुभव होता है। एक है सपनों की दुनिया और एक है यथार्थ की दुनिया। यथार्थ की दुनिया में जीने वाले को अपनी महानता का अनुभव होता है। जो सपनों की दुनिया के सहारे ही जीवन चलाता है, वह हमेशा दयनीय दशा में होता है। ध्यान द्वारा एक चेतना जागती है और सपने टूट जाते हैं, यथार्थ

का दर्शन होता है।

एक बहुत मार्मिक कहानी है। पुजारी था बहुत गरीब। उसे सपना आया—आज मेरा मन्दिर घेवरों से भर गया। अब क्या करूं! इतने घेवर कौन खाए! उसने सोचा, समूचे गांव को भोज दूं। छोटा गांव था। सबको जिमाऊं! सपना टूटा, उठा और सबको निमन्त्रण दे दिया—आज किसी को रसोई नहीं बनाना है, सबका भोजन मेरे घर है। लोगों ने सोचा कि गरीब आदमी है, क्या खिलाएगा? किसी ने पूछ लिया कि 'क्या खिलाओगे?' उसने कहा—'तुम उसकी चिन्ता मत करो। ऐसे ही निमन्त्रण देने थोड़े आया हूं। कुछ है, तभी तो निमन्त्रण देने आया हूं। तुम चिन्ता क्यों करते हो?' लोगों ने सोचा—पुजारी है, आखिर कहीं से कोई भेंट-पूजा आ गई होगी। उस दिन गांव में कोई चूल्हा नहीं जला। पुराने जमाने की बात है। चाय-पानी होता नहीं था। चूल्हा जलाने की जरूरत नहीं हुई। जला ही नहीं। सब लोग प्रतीक्षा में हैं। न्यौता भी दे दिया। आकर देखा तो मंदिर में तो घेवर एक भी नहीं है! सोचा, अब क्या करूं? सबको न्यौता दे आया और घेवर हैं ही नहीं, अब क्या करूं? उदास होकर बैठ गया। दस बज गए, बारह बजने को आए। सबने सोचा—निमन्त्रण तो दे दिया पर कुछ दीख ही नहीं रहा है, क्या बात है? दो-चार लोग आए। आकर किवाड़ खटखटाए। बोले, 'भोजन कब कराओगे? इतनी देर हो गई।' पुजारी बोला, 'अरे भाई, क्या करूं, भूल हो गई। आप जरा सुस्ताएं। एक बार सो लेता हूं, फिर सपना आए और घेवर बन जाए तो भोजन कराऊंगा।'

सपनों के सहारे निमन्त्रण देने वाला व्यक्ति कैसा होता है, इस सचाई को हम समझ सकते हैं। महानता वह होती है जो सपनों के सहारे को छोड़कर यथार्थ की धरती पर चरण बढ़ाए।

हमारे जीवन में भी ऐसी बहुत सारी घटनाएं घटित होती हैं, पर हम सपनों को यथार्थ मानकर कितने अरमानों को संजोते चले जा रहे हैं! कितने विचारों को विकसित करते चले जाते हैं। और जब समय आता है तो ठीक हमें अनुभव होता है वह तो सपना था। फिर कोई दूसरा सपना आएगा, घेवर बनेगा तब यह काम होगा।

महानता के लिए दूसरी बात और चाहिए। वह है—कल्पना-मुक्ति। काल्पनिक राज्य भंग हो जाने पर जो व्यक्ति पछतावा नहीं करता, उसमें महानता जागती है। हमारे जीवन में बहुत सारी कल्पनाएं होती हैं। कल्पना

को चोट लगती है, कल्पना खण्डित होती है तो आदमी पश्चात्ताप से भर जाता है। मेरे मन में यह कल्पना थी और वह कल्पना टूट गई—बस इस बात को जीवन भर रोता है, दुखड़ा गाता है, कलपता रहता है, केवल काल्पनिक जगत् को सामने रखकर। ऐसा होता है, बहुत होता है।

भिखारी सो रहा था। हंडिया भीख मांगने की सिरहाने थीं। नींद आयी। सपना आया। दिन में राजा की सवारी देखी थी। वही बात मन में बसी रही। अब सपने में देख रहा है कि मैं 'राजा' बन गया हूं। मेरी सवारी निकल रही है। अब महल में आ गया हूं। अब शैया पर सो रहा हूं। रानियां चारों ओर खड़ी हैं और पगचंपी कर रही हैं। ठीक राज्यत्व का अनुभव कर रहा है और उसी स्थिति में जी रहा है। इतने में कुतिया आयी। सिरहाने हंडिया में कुछ बासी बचा था, दुर्गन्ध आ रही थी। चाटना शुरू किया। हंडिया फूटी, नींद टूटी, सपना टूटा और राज्य भी विलीन हो गया। अब बड़ा पछतावा हुआ—अरे! मैं तो राजा बन गया था। कहां राजा? कहां रानियां? कहां पगचंपी? कहां सवारी? अब उन सारी बातों को याद कर वह रोने लग गया। इन सपनों के सहारे, कल्पना के सहारे, काल्पनिक राज्य के वैभव के सहारे जो व्यक्ति यथार्थ को झुठलाता है और दुःखी जीवन जीता है उसकी महानता नहीं जाग सकती। महानता के लिए दो सूत्र बहुत जरूरी हैं—

१. हम यथार्थ को यथार्थ के साथ स्वीकार करें।

२. कल्पना को कल्पना जितना ही मूल्य दें और जीवन को कल्पना के स्तर पर न जीएं।

तीसरी बात है—संज्ञाओं का परिवर्तन—वृत्तियों का परिवर्तन। हमारी चेतना में अनेक संज्ञाओं का मैल जमा हुआ है। वृत्तियां छायी हुई हैं। आहार की आसक्ति, भय, वासना, क्रोध, घृणा ईर्ष्या, अहंकार, लालच—नाना प्रकार की संज्ञाएं और वृत्तियां छायी हुई हैं। ये वृत्तियां बदलें। मैं यह तो नहीं मानता कि ध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति दस दिन में ही कोई वीतराग बन जाएगा। यह स्वीकार करना भी एक दम्भ होगा, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि कोई व्यक्ति ध्यान करता चला जाए, दस महीने बीत जाएं, दस वर्ष बीत जाएं और कोई भी वृत्ति बदले ही नहीं, बदलना शुरू ही न हो तो मान लेना चाहिए कि ध्यान नहीं हो रहा है। जिस व्यक्ति ने ध्यान की साधना शुरू की है, उसकी वृत्तियों में, व्यवहार में निश्चित

बदलाव आएगा और आपको लगने लग जाएगा कि यह व्यक्ति कुछ कर रहा है। यह अनिवार्य कसौटी है। ध्यान के ये तीन उद्देश्य हैं।

अब प्रश्न कि इनकी पूर्ति कैसे हो ? हम मन की चेतना के स्तर पर जीते हैं, बुद्धि की चेतना के स्तर पर जीते हैं और इन्द्रियों की चेतना के स्तर पर जीते हैं। जब तक इन्द्रिय-चेतना और मानसिक चेतना का सम्बन्ध जुड़ा रहेगा, तब तक हमारा मनोबल कम होता चला जाएगा, मन की शक्ति क्षीण होती चली जाएगी और तब तक यह ध्यान का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। यदि हम ध्यान की सफलता चाहते हैं, इन उद्देश्यों की पूर्ति चाहते हैं तो हमें इन्द्रिय और मन के संबंध का विच्छेद करना होगा। इन्द्रियों का और मन का सम्बन्ध विच्छिन्न होगा तो सूक्ष्म लोक की यात्रा शुरू हो जाएगी। हमने स्थूल जगत् को सब कुछ मान रखा है और उसी के सहारे चल रहे हैं। हमने जितनी दुनिया को देखा है, दुनिया उतनी ही नहीं है। बहुत छोटी है दुनिया हमारे समाने, हमारी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध होने वाली दुनिया तो बहुत छोटी है और इन्द्रियों के द्वारा अगम्य दुनियां बहुत विराट है।

हमने विराट् का अभी दर्शन नहीं किया है, केवल एक छोटे कण का ही दर्शन किया है। हमारी इन्द्रियों की क्षमता बहुत सीमित है। हम केवल स्थूल लोक की यात्रा कर रहे हैं। स्थूल लोक को भी हमने बहुत बड़ा मान रखा है। एक आदिवासी यदि जयपुर में आएगा तो उसे लगेगा कि शहर कितना बड़ा होता है। जिसने पांच-सात झोंपड़ियां ही देखी हों, जो जंगल में रहा हो और इक्की-दुक्की झोंपड़ियां ही इधर-उधर देखी हों, यदि जयपुर में से निकल जाए और पांच-दस किलोमीटर शहर में चलता चले तो उसे कैसा अनुभव होगा ? उसे लगेगा कि क्या सारी दुनिया शहर ही बन गई है ? इतना बड़ा लगेगा कि वह कल्पना ही नहीं कर पाएगा।

हमने अभी दो-चार झोंपड़ियां ही देखी हैं। हमारी इन्द्रियां, ये पांचों इन्द्रियों को ही पांच-सात झोंपड़ियां दिखाती हैं। एक अर्थ में तो हम पूरे आदिवासी हैं, जंगली हैं। केवल की यात्रा करते हैं। कुछेक बातों को जानते हैं और देखते हैं। जिस दिन हमारा किसी महानगर में प्रवेश होगा और महानगर की यात्रा करेंगे तब आंखें खुलेंगी कि कितना विराट् है यह महानगर। कितनी विराट् है वह महादुनिया ! सूक्ष्म-जगत् के स्तर जब खुलते हैं, परतें जब उभरती हैं, तब पता चलता है कि जिसको एक बिन्दु माना था वह बिन्दु भी इतना विराट् है कि जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

जैन आचार्यों ने एक बहुत बड़ी कल्पना या सचाई रूपक की भाषा में प्रस्तुत की थी कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के सूक्ष्म जीव होते हैं। एक सुई की नोक पर टिके उतने स्थान में असंख्य या अनन्त जीव समा जाते हैं। बड़ी विचित्र बात लगती है। शरीरशास्त्र की दृष्टि से एक आलपिन का सिरा टिके इतनी दूर में करोड़ों कोशिकाएं हो जाती हैं। कितनी विराट् है हमारी दुनिया ! किन्तु बहुत अच्छा है कि इन्द्रियां उन्हें देख नहीं पातीं। यदि देख पाती तो बेचारी बहुत उलझ जातीं। ध्यान करने वाला व्यक्ति इस स्थूलता की सीमा को लांघकर सूक्ष्म जगत् में प्रवेश शुरू करता है। वह इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को तोड़कर दुनिया से परे जिन्हें आज तक दुनिया नहीं जान पायी, उसकी यात्रा शुरू करता है और उस स्थिति में जो मनोबल क्षीण होता है वह बढ़ने लग जाता है।

हम रस का अनुभव और गंध का अनुभव करते हैं। जीभ के द्वारा रस का अनुभव होता है और घ्राण के द्वारा गंध का अनुभव होता है। ध्यान करने वाला व्यक्ति प्राण केन्द्र पर ध्यान करता है, नासाग्र पर ध्यान करता है। यदि लम्बे समय तक प्राण,केन्द्र का ध्यान करें तो कोई गंध आसपास में नहीं है, फिर भी उसका अनुभव होने लग जाता है।

लाडनूं में जैन विश्व भारती में शिविर था। एक भाई आकर बोला—'आज अगरबत्ती किसने जलाई ?' कहा गया—'किसी ने नहीं जलाई।' उसने फिर कहा, 'क्या यहां किसी ने गुलाब का इत्र लगाया है ?' उत्तर मिला, 'किसी ने नहीं लगाया।' उसने कहा, यह कैसे हो सकता है ? मैं कैसे मानूं ? मुझे सुगन्ध आ रही है। बहुत तीव्र सुगन्ध आ रही है। आप देखें, किसी ने अगरबत्ती जलाई हो या इत्र लगाया हो।'

मैंने कहा—न तो किसी ने अगरबत्ती जलायी और न किसी के पास गुलाब का इत्र है। मानने की, मनवाने की कोई बात नहीं। आपने जब प्राण पर ध्यान किया, ध्यान जम गया, लम्बा चला, उस समय आपको यह गंध का अनुभव होने लग गया। हमारे आकाश-मंडल में सब गंध के परमाणु भरे पड़े हैं। कोइ भी गंध ऐसी नहीं कि जिसके परमाणु हमारे आसपास में न भरे हुए हों। भरे हुए हैं, किंतु हमारे ज्ञान-तन्तु सोये हुए रहते हैं। जब ध्यान के द्वारा वे सोये हुए ज्ञान-तन्तु जागृत हो जाते हैं, सक्रिय हो जाते हैं तो फिर नाना प्रकार की गंधों का अनुभव होने लग जाता है। हमारी जीभ में रस का अनुभव करने की क्षमता है। जीभ पर जो चीज टिकाओ,

उसे रस का अनुभव होने लग जायेगा। स्वाद-तन्तु स्वाद का अनुभव करते हैं। किन्तु जीभ पर कोई भी चीज नहीं रखी गयी, फिर भी जिस व्यक्ति ने जिह्वा पर ध्यान का विशेष अभ्यास किया है, जीभ की नोक पर ध्यान को साधा है, लम्बे समय तक इसका प्रयोग किया है, उसे बिना वस्तु के भी इसका अनुभव होने लग जायेगा। 'मनोनुशासनम्' को पढ़ें। इस विषय की बहुत लम्बी चर्चा उसमें है। जब हमारा मन सूक्ष्मलोक की यात्रा शुरू करता है तब बिना सामने होते हुए भी विषय प्रस्तुत हो जाते हैं। विषय तो प्रस्तुत ही है। स्थूल जगत् में तो थोड़े-से विषय आए हैं। किन्तु सूक्ष्म जगत् में तो भरे पड़े हैं। केवल इतना अन्तर होता है कि हम इन्द्रियों की सीमा को पार कर सकें, सूक्ष्म में प्रवेश पा सकें। यह सूक्ष्म में प्रवेश पाने वाली बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि विशेष स्थिति आती है तो दो विरोधी बातें भी मिल जाती हैं और विरोधी अनुभव भी होने लग जाते हैं। कड़वे और मीठे का एक साथ अनुभव होने लग जाता है। कभी-कभी सुगंध और दुर्गन्ध का भी एक साथ अनुभव होने लग जाता है। चेतना की विभिन्न परिस्थितियों में इतना घटित होता है, आज तक मनोवैज्ञानिक भी उसका ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं कर पाए हैं। और न ही कर पाने का रास्ता स्पष्ट है कि उनकी चेतना विषयक मान्यताएं भी अभी विकसित नहीं हैं। किन्तु आश्चर्य इस बात का होता है कि हमारे अध्यात्मशास्त्र में चेतना की इतनी सूक्ष्म स्थितियों का विश्लेषण और निरूपण मिलता है, उसे आज तक किसी विश्व-विद्यालय ने एक विद्याशाखा के रूप में महत्त्व नहीं दिया, उसका मूल्यांकन नहीं किया। किन्तु कोई भी विश्वविद्यालय ऐसा नहीं होगा जहां फिलॉसफी का विभाग न हो और उसके साथ साइकोलॉजी का डिपार्टमेंट न हो या दोनों साथ-साथ न हों। दर्शन पढ़ना है तो मनोविज्ञान भी पढ़ना होगा। आज यह अनिवार्य हो गया है। जब मनोविज्ञान पढ़ना अनिवार्य है तो अध्यात्म का अध्ययन अनिवार्य नहीं है? पर हमारा ध्यान ही नहीं गया और इसलिए नहीं गया कि कभी प्रस्तुत ही नहीं किया गया। यह सचाई है कि चेतना के विभिन्न स्तरों का, चेतना की नाना अवस्थाओं का जितना तलस्पर्शी और सूक्ष्म विवेचन आज भी अध्यात्मशास्त्र में है उतना मानसशास्त्र में नहीं है। वह अभी तक बहुत अविकसित अवस्था में चल रहा है।

हम ध्यान के द्वारा चेतना के उस लोक में विचरण करते हैं जिस सूक्ष्म

लोक में जाना बौद्धिक स्तर पर कभी सम्भव नहीं होता। बुद्धि की अपनी सीमा होती है। पढ़ने वाला व्यक्ति चाहे मनोविज्ञान को पढ़े, चाहे अध्यात्म-विज्ञान को पढ़े, वह बुद्धि की सीमा तक ही उसे पढ़ पाएगा, उसे जान पाएगा। अनुभव की सीमा में हमारा प्रवेश होता है ध्यान के द्वारा। बहुत भाई आते हैं और कहते हैं कि इतने दिन शिविर में हम नहीं रह सके, अब हमें सारा बतला दें। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि आदमी हमेशा शॉर्टकट ही पसन्द करता है। और आजकल की मिनी सभ्यता चल पड़ी है कि हर बात में मिनी मार्ग चाहता है। हमेशा पगडंडी का मार्ग चाहता है। मैंने कहा—'भाई ! आप कोई सवाल पूछो, तो मैं उत्तर दे दूंगा। पर तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। जैसे तुम हो वैसे के वैसे रहोगे, नहीं समझ पाओगे कि क्या होता है। मैं देखता हूं, शिविरार्थियों का अनुभव सुनता हूं और उनकी बात सुनता हूं तो लगता है कि चार पांच दिन पहले उनका अनुभव था बिलकुल जीरो और आज उन्हें लग रहा है कि कुछ हो रहा है।

आज ही दो अनुभवी व्यक्ति आए और बोले—'चैतन्य-केन्द्र पर लेश्या ध्यान का प्रयोग किया, बड़ा इन्टरेस्ट आया। बड़ा रोचक है यह तो। कहना चाहता हूं कि लेश्या-ध्यान की विधि, जितनी ध्यान की पद्धतियां चल रही हैं, शायद किसी में नहीं हैं। एक विशेष प्रयोग है यह।' एक ने तो कहा कि और ध्यान के प्रयोग करता हूं, तब तो मेरे मन में यह प्रश्न होता है कि यह प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति जैनों की पद्धति है, क्या दूसरों में ऐसा नहीं है ? किन्तु जब लेश्या ध्यान का प्रयोग किया तब मैं बहुत स्पष्ट हो गया कि यह तो सचमुच ही जैनों की पद्धति है। आज तक मैंने न कहीं देखा, न पढ़ा, न सुना कि यह प्रयोग कहीं चल रहा है।

हम अनुभव की बात यदि चाहें तो हमें प्रयोग पर उतरना होगा। यह बौद्धिक मार्ग नहीं है कि आपने दस प्रश्न पूछ लिये, उत्तर मिला और समाधान मिल गया। एक हजार प्रश्नों की तालिका बना ली। हजार प्रश्नों का उत्तर पा लें और पूरे हजार दिन लगा दें, एक प्रश्न का उत्तर पाने के लिए एक-एक दिन भी लगा दें और परिणाम-काल में जब आयेगा कि क्या पाया—कुछ भी नहीं पाया, जैसे थे वैसे के वैसे बिलकुल शून्य। और आप दस दिन का प्रयोग करें, दस दिन के बाद आपसे पूछा जाए कि आपने क्या पाया तो मुझे लगता है कि सौ में से निन्यानवे व्यक्ति तो कुछ-न-कुछ बतलाएंगे कि मैंने यह अनुभव किया, मैंने वह अनुभव किया।

जो बात अनुभव के स्तर पर जानी जा सकती है, वह मन, बुद्धि और इन्द्रिय के स्तर पर कभी नहीं जानी जा सकती। ध्यान का अर्थ होता है सूक्ष्मलोक की यात्रा करना। और वह केवल अनुभव के स्तर पर ही की जा सकती है। जब सूक्ष्मलोक की यात्रा होती है तब स्थूल पदार्थ मिटकर सूक्ष्म पदार्थ प्रकट होते हैं, उनका साक्षात्कार होता है। उस अवस्था में ध्यान के उद्देश्य अपने-आप पूरे होने लग जाते हैं। यह स्वार्थ की संकुचित सीमा भी मिटने लग जाती है, क्षुद्रता भी मिटने लग जाती है, महानता का साक्षात्कार होने लग जाता है और हमारी वृत्तियां भी बदलने लग जाती हैं। पूरा का पूरा यह चक्र टूटता है तो दूसरे चक्र में हमारा प्रवेश हो जाता है।

इसलिए बहुत आवश्यक है, हम इन महान् उद्देश्यों की प्रगति के लिए न किसी विद्यालय की शरण में जाएं, न किसी विश्वविद्यालय की शरण में जाएं, न पुस्तकों की शरण में जाएं, किन्तु एक अनुभवी की शरण में जाए। अनुभव के मार्ग को चुनें। अनुभव का मार्ग सचमुच अपूर्व मार्ग होता है, अलौकिक मार्ग होता है। गुरु का काम होता है कि शिष्य को अनुभव के मार्ग में चला दें। मैं स्वयं देखता हूं, स्वयं सोचता हूं कि मैंने लगभग दस-बारह वर्ष तक प्राकृतिक चिकित्सा, आसन, प्राणायाम, योग के ग्रंथ बहुत पढ़े, पढ़ने का अवसर बहुत मिला और बहुत पढ़े। पढ़ता रहा, पढ़ता रहा। बौद्धिक व्यायाम करता रहा, करता रहा। पर जो मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। जहां पहुंचना चाहिए था वहां नहीं पहुंचा। किन्तु गुरु गुरु होता है। आचार्यश्री का एक शब्द निकला कि हमें जैन परम्परा में विलुप्त ध्यान की पद्धति का पुनः अनुसन्धान करना है। बस, इस एक शब्द ने अनुभव का मार्ग खोल दिया।

जयपुर के नाड़ी-वैद्य सुशीलकुमार आए और बोले—'मैं 'जैनयोग' पढ़ रहा हूं। पढ़ने पर मुझे ऐसा लगा कि आपने केवल तेरापंथ का नहीं, समूची जैन परम्परा पर एक विशेष उपकार किया है। ध्यान की पद्धति जो हमारे हाथ से निकल गयी थी, हम जिस बात से शून्य हो गए थे, आज हम गौरव के साथ अपने को भरा-पूरा अनुभव कर रहे हैं।' यह गुरु का अवदान, अनुदान या वरदान होता है कि वह शिष्य को अनुभव के मार्ग पर चला सकता है।

प्राण-ऊर्जा का सवर्धन

कल एक भाई ने पूछा कि जैसे सूक्ष्म शरीर के स्तर पर काम करने वाली चेतना का रूप हमने जाना वैसे ही सूक्ष्मतर शरीर पर काम करने के बारे में कुछ जानना चाहते हैं। बहुत छोटा-सा प्रश्न किन्तु बहुत बड़ा प्रश्न है। इतनी विराट् चेतना के विषय में जानना एक बहुत बड़ी घटना है। प्रत्येक बड़े काम के लिए बड़ी ऊर्जा की जरूरत होती है। छोटे-मोटे काम, छोटी-मोटी शक्ति से सम्पन्न किए जा सकते हैं। किन्तु बहुत बड़ा काम करने के लिए ऊर्जा का बहुत बड़ा संग्रह चाहिए, ऊर्जा का भण्डार चाहिए। ध्यान का प्रयोग ऊर्जा के संवर्धन का प्रयोग है। हमारी शक्ति कम नहीं है। शारीरिक शक्ति बहुत है, विलक्षण शक्ति है। एक व्यक्ति अपनी शारीरिक शक्ति का विकास इतना कर सकता है कि छाती पर से हाथी भी निकल सकता है। हाथ खड़ा कर दिया। दस आदमी लगें, पचास आदमी लग जाएं, हाथ टस-से-मस नहीं हो सकता। यह बहुत छोटी बात है। वासुदेव की शक्ति का वर्णन आता है। चक्रवर्ती की शक्ति का वर्णन आता है। अद्‌भूत है शरीर की शक्ति। एक वासुदेव खड़ा हो जाए, दुनिया भर की वाहनियां, चाहे गजसेना, अश्वसेना, रथसेना, पदातिसेना—सारी सेनाएं, सारी शक्तियां शेष हो जाती हैं। एक रस्सा बांध दें पैर पर और उस रस्से को खींचने लग जाएं तो भी वासुदेव का पैर इंच भर भी नहीं हिल सकता। तीर्थंकर की अमाप्य शक्ति होती है। इन्द्र भी आ जाए तो तीर्थंकर की शक्ति को विचलित नहीं कर सकता। बहुत बड़ी है हमारी शरीर की शक्ति। हम अपनी शक्ति का एक करोड़वां-अरबवां भाग भी काम में नहीं ले रहे हैं। शरीर से बहुत बड़ी शक्ति है हमारे मन की। जहां शरीर की शक्तियों की सीमा समाप्त हो जाती है, वहां से मन की शक्ति का प्रारम्भ होता है। मन की बहुत बड़ी शक्ति है। इसकी शक्ति का छोटा-सा कण भी हमारे काम में नहीं आ रहा है।

उससे आगे है आत्म की शक्ति। यह बहुत बड़ी शक्ति है। इतनी विशाल शक्ति कि जिसके सहारे, जिसके इंगित पर मन की और शरीर की शक्तियां

काम करती हैं। इतनी अनन्त शक्ति कि दुनिया की हर घटना को सहन करने में उसे कोई भी कष्ट का अनुभव नहीं होता। शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति या आत्मिक शक्ति—ये हमारी शक्तियां हैं। हमारी शक्तियां तो बहुत हैं किन्तु हमें अपनी शक्ति के स्रोतों का पता नहीं है। ऊर्जा के स्रोत हमें ज्ञात नहीं हैं। ध्यान की पूरी प्रक्रिया, ऊर्जा के स्रोतों का पता लगाने की पूरी प्रक्रिया है, ऊर्जा के स्रोतों से लाभ उठाने की भी प्रक्रिया है, कुछ पाने की प्रक्रिया है। जैसे-जैसे हमारी शक्ति का संवर्धन होता है, बड़े काम करने में सहजता का अनुभव होता है। कोई कठिनाई भी नहीं होती। आज तक दुनियां में जितने लोगों ने बड़े काम किए हैं वे सारे के सारे काम ऊर्जा के विकास के स्तर पर किए गए हैं। चाहे कोई अपढ़ व्यक्ति हो और चाहे कोई विद्वान व्यक्ति हो, चाहे किसी भी क्षेत्र का व्यक्ति हो, ऊर्जा के विकास के बिना बड़ा काम नहीं कर सकता।

सबसे बड़ा काम होता है इस दुनिया में अभय। जिस व्यक्ति में अभय का विकास हो गया उससे बड़ा दुनिया में कोई काम नहीं हो सकता। आप स्वयं अनुभव करते हैं—बड़े-से-बड़ा काम करने वाला आदमी भयभीत हो जाता है। सेनापति, जो सारे संसार पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है, स्वयं मौत के भय से घिरा हुआ है। जितनी सुरक्षा सेनापति की होती है, जितनी सुरक्षा राजा की होती है, उतनी किसी की भी नहीं होती। बहुत सुरक्षा होती है। क्योंकि वह बेचारा इतना डरा हुआ है कि कोई मार न डाले। दुनिया में सबसे बड़ा व्यक्ति वह होता है जो रोग से नहीं डरता, मौत से नहीं डरता और बुढ़ापे से नहीं डरता। तीन भय हैं—रोग का भय, मौत का भय और बुढ़ापे का भय। ये आते हैं तब तो सताते ही हैं, नहीं आते हैं तब भी कल्पना के माध्यम से निरन्तर सताते रहते हैं। जो भयों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह बहुत शक्तिशाली हो जाता है।

सुकरात को जहर पिलाया जा रहा था। एक भाई आया, मित्र आया बोला—'मुझे बड़ा दुःख है।' रोने लग गया, आंसू टपकाने लग गया। सुकरात ने कहा—'क्यों रो रहे हो, भाई? मैं तो बिलकुल शांत बैठा हूं, मुझे कोई डर नहीं, तुम क्यों रोते हो?' उसने कहा, 'तुम निर्दोष मारे जा रहे हो।' सुकरात ने कहा, क्या तुम यह चाहते हो कि मैं दोषी होकर मारा जाऊं? मुझे कोई भय नहीं है मौत का। बिलकुल भय ही नहीं।' ऐसी मित्रता मौत के साथ स्थापित कर ली जैसे इस घर को छोड़कर नये घर में

जा रहे हों। यह शक्ति उसी में विकसित हो सकती है जिसने अपनी आन्तरिक शक्ति के स्रोत को प्रकट कर लिया हो।

रविन्द्रनाथ के बारे में कहा जाता है कि वे पत्र लिख रहे थे। एक व्यक्ति आया मारने के लिए। हाथ में छुरा था। आकर खड़ा हो गया। उन्होंने देखा कि कोई व्यक्ति आया है, देख लिया। अपना काम करते रहे। उन्होंने कहा—'क्या चाहते हो?' उत्तर मिला—मैं तुमको मारना चाहता हूं।' रवीन्द्रनाथ ने कहा—'जरा ठहर जाओ। मुझे जरूरी पत्र लिखने हैं। पत्र लिख लूं, फिर तुम मार डालना।' वह पीछे खड़ा है, छुरा लिये और रविन्द्रनाथ अपना काम करते चले जा रहे हैं। निश्चल भाव से काम करते रहे। कोई विचलन नहीं। व्यक्ति दंग रह गया। उसने सोचा, यह भी कोई आदमी है, मैं कैसे मारूं? जो जीना जानता है, उसे मारने में कोई लाभ नहीं। सामने आकर पैरों में पड़ गया और छुरा हाथ से गिर पड़ा। यह अभय उस व्यक्ति में विकसित होता है जिसने आंतरिक शक्ति का स्रोत विकसित कर लिया हो।

जयाचार्य ने लिखा है—आचर्य भिक्षु अपने पथ पर चले तो उन्होंने इस संकल्प पर अपनी यात्रा प्रारम्भ की कि 'मरण धार सुध मग लियो'। उन्होंने पहले यह सोच लिया कि मरना है। मरने के भय को मन से निकाल दिया। मरने के संकल्प को स्वीकार कर चले तो फिर कोई भय नहीं रहा। इतने भय के प्रसंग आए, परिस्थियां आयीं की खाने की भी सुविधा नहीं थी। बहुत बार खाने को भी पूरा नहीं मिलता था। जयाचार्य का एक दूसरा पद है कि 'पंच बरस लग पेख अन्न पिण पूरो न मिल्यो। बहुत पणौ संपेख, घी चोपड़ तो किह्यां ही रह्यो'—आचार्य भिक्षु को पांच वर्ष तक तो खाने को पूरी रोटियां भी नहीं मिलीं। घी की तो बात ही छोड़ो। रोटियां भी नहीं मिलतीं तो घी की कहां बात। आचार्य भिक्षु से पूछा गया कि कहीं आपको घी मिलता है, गुड़ मिलता है, चीनी मिलती है? आचार्यवर ने कहा—'पाली के बाजार में बिकता हुआ देखता हूं।'

क्या खाने की बात, कष्ट की बात, रोटी न मिलने की बात मन से निकल जाती है? क्या कोई भय नहीं होता? इतना भय होता है कि वहां जाता तो हूं, कल वहां रोटी मिलेगी या नहीं मिलेगी। आदमी इतना समझदार होता है कि पूरी बात सोच लेता है कि स्टेशन पर कुछ मिलने वाला नहीं है तो साथ में रखता है, बराबर व्यवस्था करके जाता है। बिना

व्यवस्था के तो नासमझ आदमी जा सकता है।

आन्तरिक्ष शक्ति का स्रोत, ऊर्जा का स्रोत जब जाग जाता है, चेतना की स्थिति बिलकुल बदल जाती है। ऊर्जा का संवर्धन कैसे हो ? और सूक्ष्मतर शरीर के साथ हम सम्पर्क कैसे कर सकें ? आज हमने शरीर-प्रेक्षा का एक और नया प्रयोग किया, आज तक नहीं किया था। सबसे पहले हमने मध्यवर्ती शरीर की प्रेक्षा की। उसे देखने का अभ्यास किया। फिर पीछे से आगे और आगे से पीछे शरीर को देखने का अभ्यास किया। फिर दाएं से बाएं और बाएं से दाएं शरीर को देखने का अभ्यास किया। फिर पूरे शरीर को एक साथ देखने का अभ्यास किया। यह शक्ति-संवर्धन का नया प्रयोग है।

बहुत लोग कहते हैं कि जैन साधना पद्धति में न चैतन्य-केन्द्रों का वर्णन है, न लेश्या-ध्यान का कहीं वर्णन है। यह सारा इधर-उधर से ले लिया गया है। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि क्यों ऐसा कहा जाता है ? पर इसे मैं कोई कटु भाव में नहीं लेता हूं। इसलिए नहीं लेता हूं कि जो लोग कहते हैं वे तो नहीं जानते। आश्चर्य इस बात का है कि जैन विद्वान् भी नहीं जानते। शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के बारे में जैन साधना पद्धति में जो है, उसे एक भी जैन विद्वान् नहीं जानता। मैं विद्वानों की बात छोड़ देता हूं किन्तु एक भी आचार्य और जैन मुनि इस बात को नहीं जान रहा है, क्योंकि जो बात छूट जाती है, जब चाबियां खो जाती हैं तो सारी बात विस्मृत हो जाती है।

व्यक्ति के घर में विशाल धन था, कोई कमी नहीं थी, पर घर का मालिक भीख मांग रहा था। घर तो बहुत बड़ा लम्बा-चौड़ा किन्तु सारा व्यवसाय समाप्त हो गया। व्यापार-धन्धा चलता नहीं था। खाने को कुछ मिलता नहीं था। विवशता आ गई, बाध्यता आ गई, फिर लाचार होकर रोटी के लिए भी दूसरों के सामने साथ पसारना पड़ रहा है। एक ज्योतिषी ने देखा कि आदमी तो अच्छा लग रहा है, ऐसा लग रहा है कि कुछ है पर भीख क्यों मांग रहा है, हाथ क्यों पसार रहा है दूसरों के सामने ? पूछा कि भाई, ऐसा क्यों कर रहे हो ? उत्तर मिला—क्या करूं, मांगना तो नहीं चाहता, बहुत बड़े घराने का हूं पर ऐसी विवशता आ गई कि इसके सिवा कोई चारा नहीं। बात समझ में नहीं आयी। चलो, कहां है तुम्हारा घर ? आया, देखा। पुराने ज्योतिषियों में एक विशेषता होती थी कि वे भूगर्भ के भी विशेषज्ञ होते

थे। आज भी नेपाल में कुछ एसे विशेषज्ञ हैं जो भूगर्भ के बारे में बहुत जानकारी रखते हैं। उसने सब कुछ देखा, इधर-उधर किया और कहा कि एक हथौड़ा लाओ। एक कमरे के भीतर ले गया। खुदाई करवाई। एक शिला निकली, दूसरी शिला निकली, तीसरी निकली। खोदते-खोदते एक सीमा यह आयी कि इतना विशाल रत्नों का भण्डार भरा पड़ा था कि एक तो क्या, चाहे तो समूचे देश को भी धनी बना दे।

बड़ा आश्चर्य होगा आपको कि इतना विशाल खजाना है और आदमी भीख मांग रहा है। ठीक मैं इसी स्थिति से तुलना करना चाहता हूं कि जैनों की भी यही स्थिति बन गई। उनका पूरा साहित्य, महावीर की पूरी वाणी ध्यान की वाणी है। महावीर ने स्वयं ध्यान के प्रयोग किये। बारह वर्ष से अधिक समय तक ध्यान किया। जब तक वे केवली नहीं बने थे, उनका सारा समय ध्यान करने में बीता। बहुत प्रयोग किए। केवली हो जाने के बाद उन्होंने जो कहा, ध्यान के बारे में कहा। उनकी सारी उपदेश-वाणी, ध्यान की वाणी है। ध्यान के रहस्यों को प्रकट करने वाली, उजागर करने वाली वाणी है। किन्तु समय की अवधि होती है, समय का परिपाक होता है। ऐसी स्थिति आयी कि जैन आचार्य और बड़े-बड़े मुनि भी साम्प्रदायिक बातों में उलझ गए, ऊपर की खींच-तान और पक्षपात की बातों में ज्यादा उलझ गए। ध्यान के जो महान रहस्य थे वे उनके हाथों से निकल गए, छूट गए। और फिर मन्त्र की शक्ति में उलझ गए, शक्ति-प्रदर्शन और चमत्कार में उलझ गए।

चमत्कार की बात बड़ी लुभावनी लगती है। ऐसा लगता है कि जो संत, जो साधक चमत्कार की दशा में पैर रख देता है, वह अपनी नियति को अंधकार के साथ जोड़ देता है। एक बार तो आकर्षण लगता है किन्तु वह आसक्ति में और मूर्च्छा में इतना फंस जाता है कि अन्य सचाई सारी लुप्त हो जाती है।

एक बड़े जैन विद्वान् ने, जो अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् हैं, आकर कहा—'आपने चैतन्य-केन्द्रों की चर्चा दूसरे ग्रन्थों से उधार ले ली?' मैंने कहा—'आप कह सकते हैं। मैं अन्यथा भी स्वीकार नहीं करूंगा। क्योंकि आपको जब ज्ञात भी नहीं है, आप यही जानते हैं कि चक्रों का वर्णन हठयोग में है। तन्त्रशास्त्र में छह चक्रों का या नौ चक्रों का वर्णन है। वहां से हमने ले लिया और जैनों में इसकी कोई चर्चा नहीं है। यही तो आप कहना

चाहते हैं ?' 'हां, यही कहना चाहता हूं।' तो बिलकुल ठीक है आपका कहना। पर मैं इसे स्वीकार नहीं करूंगा।' उन्होंने कहा कि 'आप बतलाएं।' मैंने कहा, 'बताऊंगा भी नहीं। जैन साहित्य में कहां है अभी आपको बिलकुल नहीं बताऊंगा। समय आने पर ही मैं बताऊंगा, अभी नहीं बताऊंगा। यह मैं आपको विश्वास के साथ कह सकता हूं कि चैतन्य-केन्द्रों की चर्चा जितनी जैन साहित्य में है उतनी हठयोग या तन्त्र-साहित्य में भी नहीं है। यह बहुत बड़ा विवाद का विषय है।' 'यह कैसे ?' मैंने कहा—'यह ऐसे हो रहा है कि हमारे पैरों के नीचे जो यह वसुंधरा है, रत्नों का भंडार है, सोने का भंडार भरा पड़ा है किन्तु हमारी दृष्टि नहीं कि उस भंडार को हम देख सकें। प्रेक्षाध्यान की खोज का आधार क्या रहा है और हमने इस तत्त्व को कैसे खोजा है, यह भी जानने की बात है। अवधिज्ञान तो कर्म-शरीर या सूक्ष्मतर शरीर के स्तर पर होने वाली एक घटना है। अतीन्द्रिय ज्ञान में अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये तीन ज्ञान आते हैं। सबसे पहला है अवधिज्ञान, जो सूक्ष्मतर शरीर की चेतना के स्तर पर होता है। अवधिज्ञान जिस व्यक्ति को होता है उसे देखने के लिए आंख के उपयोग की जरूरत नहीं। कान के उपयोग की जरूरत नहीं। वह इन्द्रियों से परे, अतीन्द्रिय चेतना के विकास के द्वारा दुनिया के किसी भी अंचल में होने वाली घटना को जान सकता है, साक्षात्कार कर सकता है। वह चेतना हमारे शरीर के भीतर है।

हमारे इस स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर के भीतर एक सूक्ष्मतर शरीर तथा उस सूक्ष्मतर शरीर के भीतर है चेतना। चेतना बाहर नहीं आती जब तक कि उस पर ढक्कन रहता है। ढक्कन को यदि हम जालीदार बना सकते हैं तो वह चेतना बाहर आ सकती है। यह ध्यान की प्रक्रिया दाएं-बाएं, आगे-पीछे, मध्य को देखने की प्रक्रिया है, इस शरीर को विद्युत्-चुंबकीय क्षेत्र बनाने की प्रक्रिया है। यदि हम अपने शरीर को विद्युत्-चुंबकीय क्षेत्र बना सकें तो वह जो भीतर में प्रकाश है वह छन-छनकर बाहर आ सकता है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक भीतर-ही-भीतर चेतना रह जाएगी, बाहर नहीं आ पायेगी। यह देखने की जो प्रक्रिया है, वह शरीर को विद्युत्-चुंबकीय क्षेत्र बनाने की प्रक्रिया है। हम आगे से देखते हैं, आगे का हिस्सा विद्युत्-चुंबकीय बन जाता है। पीछे से देखते हैं तो पीछे का बन जाता है। दाएं-बाएं देखते हैं तो दाएं-बाएं का बन जाता

है। मध्य में देखते हैं तो मध्य का बन जाता है। पूरे शरीर को देखते हैं तो पूरा शरीर विद्युत्-चुंबकीय बन जाता है। इसी आधार पर अवधिज्ञान को दो भागों में बांटा गया। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है—एक मध्यगत अवधिज्ञान और दूसरा अन्तगत अवधिज्ञान। जब मध्य शरीर चुंबकीय क्षेत्र बनता है तो वह चेतना मध्य शरीर में से बाहर निकलने लग जाती है। जब अन्तगत यानी छोर का हमारा हिस्सा चुंबकीय क्षेत्र बनता है तो चेतना की सूक्ष्म रश्मियां उससे बाहर निकलने लग जाती हैं। अन्तगत अवधिज्ञान के चार प्रकार होते हैं—आगे से होने वाला अवधिज्ञान, पीछे से होने वाला अवधिज्ञान, दाएं भाग से होने वाले अवधिज्ञान और बाएं भाग से होने वाला अवधिज्ञान। क्या चैतन्य-केन्द्रों के बिना यह सारी प्रक्रिया समझी जा सकती है? हमारा पूरा शरीर चैतन्य-केन्द्रों का शरीर है। चारों ओर चैतन्य-केन्द्र हैं। यदि हम मध्यवर्ती चैतन्य-केन्द्रों को विकसित करते हैं तो मध्य का ज्ञान होता है। आगे-पीछे का करते हैं तो आगे-पीछे का होता है। दाएं-बाएं चैतन्य-केन्द्रों को विकसित करते हैं तो दाएं-बाएं का ज्ञान होता हैं। मेरे मन में एक संदेह था कि आगे-पीछे, मध्य के चैतन्य-केन्द्र तो हमारी पकड़ में आ गए। दाएं-बाएं ये चैतन्य-केन्द्र नहीं समझे जा रहे थे। वहां कैसे चेतना की किरणें बाहर निकलेंगी, यह समझ में नहीं आ रहा था। हम इस खोज में थे। और बातें तो खोज ली गयी, किन्तु यह बात नहीं मिली थी। खोज होती है तो समाधान मिल जाता है। प्रश्न होता है तो उत्तर जरूर मिलता है। एक अमेरिकन भाई आया, प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए। सूफी संप्रदाय को मानने वाला था। वह पहले ईसाई था, फिर मुसलमान बना और सूफियों के मत की उसने बहुत कड़ी साधना की, बहुत खोजा। बहुत घूमा। न जाने कितनी कब्रों के पास उसने समय बिताया। न जाने कितनी खोजें कीं, बड़ा कष्टसहिष्णु आदमी।

आचार्यवर थे मोमासर में, जहां रेल नहीं। डूंगरगढ़ से भटकता-भटकता बसों में मोमासर पहुंच गया। पूछा, 'कैसे आए हो?' बोला, 'लुधियाना से आया हूं। धर्मपाल ओसवाल ने हमें भेजा है प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए।' बड़ा आश्चर्य हुआ, 'कैसे पहुंच गए?' पूछता-पूछता पहुंच गया।' 'अच्छी बात है, क्या करना चाहते हो?' 'प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करना चाहता हूं। अभ्यास शुरू किया। कायोत्सर्ग का अभ्यास शुरू किया। एक दिन, दो दिन किया तो बोला—'यह तो बड़ा रोचक है। मुझे बड़ा अच्छा लगता है।'

फिर लम्बे रहने की स्थिति बनी। चर्चाएं होती गयीं। होते-होते सूफी संप्रदाय के सम्बन्ध में हमारी चर्चा चली। उसने बताया कि बारहवीं शताब्दी में एक सबसे बड़ा सूफी संत हुआ है। उसने दो चक्रों का वर्णन किया है—एक दायीं ओर कांख के नीचे और एक बायीं ओर कांख के नीचे—ये दो बड़े महत्त्वपूर्ण चक्र होते हैं। सबसे ज्यादा ध्यान इन्हीं केन्द्रों पर करना चाहिए। मैंने कहा—'तुमने हमारे मन का एक कांटा निकाल दिया। मन की एक बड़ी जिज्ञासा थी। मन में एक बड़ा प्रश्न था कि यह दाएं-बाएं अवधिज्ञान कैसे हो सकता है? अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे हो सकता है? अब बात समझ में आ गयी कि दाएं-बाएं दोनों ओर दो चैतन्य-केन्द्र हैं। इन पर विशेष ध्यान करने से जब ये जागृत हो जाते हैं तो चेतना की रश्मियां इन केन्द्रों से भी बाहर निकलने लग जाती हैं। हमारा समाधान हो गया। आंख से देखने की उनको आवश्यकता नहीं। कंधों के बारे में हमारी जानकारी हो गयी। मैं तो शरीर की दृष्टि से और हाड़-मांस की दृष्टि से नहीं देखता। हर जगह की यही खोज रहती है कि चैतन्य-केन्द्र कहां है? दृष्टि अपनी-अपनी होती है। इस शरीर को लोग अनेक दृष्टियों से देखते हैं। डॉक्टर की एक दृष्टि होती है। मारने वाले की एक दृष्टि होती है और बचाने वाले की भी एक दृष्टि होती है तथा शरीर के भीतर छिपे हुए रहस्यों को खोजने वाले व्यक्ति की भी एक दृष्टि होती है। एक बड़ा समाधान हो गया। किस प्रकार हमने चैतन्य-केन्द्रों को शरीर में खोजा, उसका मात्र एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत किया, पूरी चर्चा तो अभी भी आपके सामने नहीं करूंगा। समय आने पर ही इस बात की पूरी चर्चा होगी। ऐसे चैतन्य-केन्द्रों के बारे में सामग्री पड़ी है, किन्तु हमारा आवरण अभी हट नहीं रहा है।

ऊर्जा-संवर्धन के लिए, इन चैतन्य-केन्द्रों शक्ति-संवर्धनों की खोज बहुत जरूरी है। यह खोज जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, सूक्ष्मतर शरीर या कारण शरीर की शक्तियों के बारे में हमारी जानकारी बढ़ती जाती है। हम पहले स्थूल शरीर से ही चलें। हमारे स्थूल शरीर में शक्ति के तीन बड़े केन्द्र हैं। एक नीचे का भाग जिसे शक्ति-केन्द्र कहा जाता है—रीढ़ की हड्डी का निचला सिरा या गुदा का भाग। दूसरा नाभि का भाग और तीसरा कंठ का भाग। ये हमारे शरीर में तीन बड़े शक्ति के स्रोत हैं। कंठ तक शक्ति के स्रोत और इनसे ऊपर हैं हमारी चेतना के स्रोत। ये तीनों बहुत बड़े केन्द्र हैं। नाभि का भाग बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह खतरनाक भी है और महत्त्वपूर्ण भी है।

सारे खतरे नाभि के पास पैदा होते हैं। जिस व्यक्ति की चेतना नाभि के आसपास घूमती है, वह बहुत खतरों में फंस जाता है। क्रोध, उत्तेजना, भय, वासना—सारे इस पांच-छह अंगुल के क्षेत्र में फैले हुए हैं। जो अपनी चेतना को नाभि के आसपास ही घुमाता है वह व्यक्ति बहुत खतरों में फंस जाता है। किन्तु यह नाभि का क्षेत्र बहुत महत्त्वपूर्ण भी है। कोई भी साधना करने वाला व्यक्ति जब तक नाभि के केन्द्र को, इस प्राण-शक्ति के केन्द्र को जागृत नहीं कर लेता, अच्छी तरह नहीं समझ लेता तब तक वह आगे नहीं बढ़ सकता। आगे बढ़ने के लिए शक्ति चाहिए।

खुदाई करनी है—नीचे से चाहे पत्थर निकालना है, चाहे पन्ना निकालना है, चाहे हीरा निकालना है, चाहे सोना निकालना है—गहरी खुदाई करनी पड़ेगी और खुदाई करने के लिए विस्फोटक पदार्थ चाहिए। अगर विस्फोटक पदार्थ नहीं है तो खुदाई नहीं हो सकती। कुल्हाड़ी के बल पर कभी खुदाई नहीं हो सकती। फिर तो बड़े विस्फोटक पदार्थ चाहिए। वह नाभि का केन्द्र बड़ा विस्फोटक पदार्थ है। जो साधक उसका उपयोग करता है विस्फोटक सामग्री के रूप में, उसे बड़ी शक्ति प्राप्त होती है। जो व्यक्ति इस ऊर्जा को, इस शक्ति को नहीं समझता वह बड़ा काम नहीं कर सकता। चेतना की बड़ी उपलब्धि करने के लिए तैजस केन्द्र को जागृत करना जरूरी है। हम तैजस केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस बात की सावधानी के साथ कि यह खतरनाक काम है। इस पर ध्यान करते हैं—पांच-पांच मिनट करते हैं और समय आने पर आधा-आधा घंटा कर लेते हैं। किन्तु जहां खतरे होते हैं वहां सावधानी भी बरती जाती है। तैजस पर ध्यान करने वाला, नाभि पर ध्यान करने वाला, खतरों से बच सकता है। जो इस क्षेत्र में चलता है केवल पुस्तकों के सहारे, वह बहुत बड़ी कठिनाइयां उठा लेता है। एक व्यक्ति आया। हमारे पास आकर बोला, 'मैंने योग की कुछ पुस्तकें पढ़ीं, मैंने नाभि पर ध्यान केन्द्रित करना शुरू कर दिया, क्योंकि इसका काफी महत्त्व लिखा था। परिणाम यह हुआ कि मेरा गुस्सा बढ़ गया, वासना बढ़ गयी, मैं तो और कठनाइयों में फंस गया। मैं तो प्रयत्न कर रहा था उनसे छुट्टी पाने के लिए, किन्तु अधिक कठिनाइयों में फंस गया।' मैंने कहा—'तुमने गलत काम किया, ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह पढ़ा, लेकिन जब तक पूरी बात को नहीं जान लो, तब तक बात ठीक नहीं होती। पूरी बात जान लेनी चाहिए और पूरी बात जान लेने पर खतरे भी अपने आप कम हो जाते हैं।

केवल नाभि पर ध्यान करेंगे, खतरनाक काम होगा। नाभि पर ध्यान किया और दूसरा शक्ति-केन्द्र हमारा कण्ठ है उस पर ध्यान केन्द्रित कर लें तो खतरे सारे टल जाएंगे। ध्यानशक्ति का विकास हो जाएगा। किन्तु यहां शक्ति के विकास के साथ-साथ जो खतरा पैदा होता है, जो वासनाएं, जो भय, जो प्रवृत्तियां पनपती हैं (एड्रीनल ग्लैण्ड से जो अधिक एड्रीनेलिन का स्राव होता है, वह प्रवृत्तियों को उभारता है) उनका शमन करने के लिए शक्ति-केन्द्र पर (कण्ठ पर) ध्यान किया तो वह दबाव उनका कम हो जाएगा और शक्ति का संवर्धन हो जायेगा।'

हमें नियमों को समझना भी बहुत जरूरी है। जब तक नियमों को नहीं जान लेते, जब तक शरीर के रहस्यों को नहीं जान लेते, केवल एक बात को पकड़कर हम चल पड़ते हैं तो कठिनाई पैदा होती है।

प्राण का बहुत बड़ा केन्द्र है यह नाभि। दूसरा केन्द्र है—गुदा का भाग। रीढ़ की हड्डी का निचला सिरा जहां स्पाइनल कार्ड पूरा होता है, उसके नीचे बहुत पतले-पतले जैसे चांदी के तार हों, जाल बिछा हुआ है। बहुत बड़ी शक्ति का स्रोत है। वहां बहुत बड़ी शक्ति है। जो प्राण-ऊर्जा नाभि के आस-पास पैदा होती है, वही तो शक्ति को जेनरेट करती है और उसका भंडार होता है शक्ति केन्द्र में।

तीसरा भंडार है—हमारा विशुद्धि केन्द्र। यह बहुत बड़ा शक्ति का स्रोत है। शरीरशास्त्र को पढ़ने वाला विद्यार्थी यह जानता है कि थायराइड ग्लैण्ड ठीक काम नहीं करती है तो शरीर की सारी क्रियाएं गड़बड़ जाती हैं। हमारा चयापचय ठीक नहीं होता। पुरानी कोशिकाओं का मिटना और नयी कोशिकाओं का निर्माण होना सारा मिट जाता है तो शरीर की सारी स्थिति गड़बड़ा जाती है।

थायराइड का ठीक काम नहीं होता है तो आदमी या तो नाटा बन जाता है या बड़ा भयंकर बन जाता है। फिर दस फीट से भी ज्यादा आगे बढ़ने लग जाता है। यह बहुत बड़ा शक्ति का केन्द्र है हमारा। इन तीनों शक्ति केन्द्रों का विकास कर लेने पर फिर चेतना के विशिष्ट केन्द्रों को जागृत करने की हमारी क्षमता बढ़ जाती है, मानसिक क्षमताएं भी बढ़ जाती हैं। उनके विकास के कुछ स्रोत हैं—उपवास, संकल्प-शक्ति, आसन प्राणायाम, आतापना और ऊर्जा-केन्द्रों पर ध्यान। ये छह स्रोत हैं प्राण-शक्ति के संवर्धन के।

पहला स्रोत है—उपवास। उपवास की परम्परा भारतीय धर्मों में बहुत है। प्रत्येक धर्म के साथ उपवास की परम्परा जुड़ी हुई है किन्तु उपवास के बारे में हमारी जानकारी ठीक नहीं है उपवास को भी हमने तोड़कर स्वीकार किया है। लंबी-लंबी तपस्याएं होती हैं। दस, बीस, तीस, चालीस, पचास-पचास दिन के उपवास होते हैं। बहुत उपवास होते हैं। उपवास के द्वारा प्राण-शक्ति बहुत बढ़ती है। किन्तु प्राण-शक्ति बढ़ती है, उसका परिणाम भी होता है। और यह एक आम कहावत बन गई कि तपस्या तो बहुत करता है पर गुस्सा भी बहुत आता है। प्राण-शक्ति बढ़ेगी तो गुस्सा क्यों नहीं आएगा ? प्राण-शक्ति तो सब कार्यों को बढ़ाती है। प्राण-शक्ति अगर अच्छी बात को बढ़ाती है तो गुस्से को भी बढ़ाएगी। वासना को भी बढ़ाएगी। उपवास वासना को भी उभार सकता है, गुस्से को भी उभार सकता है। उपवास तपस्वी को दुर्वासा भी बना सकता है। प्राण-शक्ति का काम है, क्यों नहीं करेगी वह ? किन्तु उपवास के साथ एक दूसरी बात थी कि जो प्राण-शक्ति बढ़े उसका खर्च कैसे करें ? बहुत बढ़ी हुई प्राण-शक्ति भी बड़ी खतरनाक होती है। आग को जला देना एक बात है और आग से चूल्हा बनाना एक बात है। जिस व्यक्ति ने आग से जलाने की बात सोची, उसने चूल्हा बना लेने की बात भी सोच ली। चूल्हा नहीं बनाया गया तो पता नहीं आग कैसे फैल जाए। इसलिए रसोई बनाने वाले को सबसे पहले सुरक्षा करनी पड़ी। आग जलाई तो पहले ही चूल्हा बना लिया, आग को बांध दिया। तो प्राण-शक्ति को भी बांधने की जरूरत है, एक चूल्हा बनाने की जरूरत है। प्राण-शक्ति को बढ़ाते मत चले जाओ, बड़ा खतरनाक होगा। चूल्हा बनाना सीख लो। उसे बांधना सीख लो। उपवास यानी ध्यान का प्रयोग। कोरा उपवास नहीं चल सकता। दोनों साथ-साथ चलेंगे। एक चूल्हा है। जो प्राण-शक्ति बढ़ती है उसको यह नियंत्रित कर देता है। उसको खपाता है, उसको काम में लगा देता है।

शक्ति का विकास और शक्ति का सम्यक् नियोजन—ये दोनों बातें साथ-साथ चलें, तब हमारी चेतना का विकास संभव हो सकता है। एक बात छूट गई। कोरा उपवास तो बच गया और ध्यान वाली बात छूट गई। कोरा क्रोध को उभारने वाला, वासना को उभारने वाला और वृत्तियों को उभारने वाला तंत्र तो बच गया और उनको शमन करने वाला तथा उनका शमन करके अगली शक्तियों को विकसित करने वाला तंत्र हमारे हाथ से निकल

गया ।

दूसरा स्रोत है—संकल्पशक्ति । संकल्प का भी यही सूत्र है । इसके द्वारा भी बड़े-बड़े काम किए जा सकते हैं । संकल्प के साथ भी यह बात जुड़ी हुई है । संकल्प के साथ किसी को ऊपर उठाया जा सकता है, किसी का भला किया जा सकता है तो किसी को मारा भी जा सकता है ।

संकल्प के द्वारा दूसरे का भला भी किया जा सकता है और संकल्प के द्वारा दूसरे का विध्वंस भी किया जा सकता है । आसन और प्राणायाम के द्वारा बहुत लाभ भी उठाया जा सकता है और बहुत हानि भी उठाई जा सकती है ।

तीसरा स्रोत है—आसन । कल ही एक बहन आयी थी । बड़ी जिज्ञासु थी । ध्यान करने के लिए उसने कहा कि मैंने एक 'योगा' के शिवर में भाग लिया, ध्यान तो हट गया, योगा का मतलब कोरा आसन रह गया । उस शिविर में भाग लिया और शीर्षासन किया । न जाने क्या स्थिति बनी, ऐसी उलझ गई कि ५०,००० रु० खर्च किए, अब कुछ ठीक हो पायी हूं । आसन बहुत खतरनाक भी होता है और आसन बड़ा भला करने वाला भी होता है ।

चौथा स्रोत है—प्राणायाम । प्राणायाम की भी यही स्थिति होती है । प्राणायाम तारने वाला भी होता है और प्राणायाम मारने वाला भी होता है ।

ये सारे साधन हैं—ऊर्जा के संवर्धन के ।

पांचवां साधन है—सूर्य की आतापना । जैन लोगों में बहुत परम्परा रही है—आतापना की । सूर्य की आतापना प्राण-शक्ति को बढ़ाने का बहुत बड़ा स्रोत है ।

छठा स्रोत है—ऊर्जा केन्द्रों पर ध्यान ।

ये छह बड़े साधन हैं, जिनके द्वारा प्राण-शक्ति का विकास किया जा सकता है और कारण-शरीर या सूक्ष्मतर शरीर पर पहुंचा जा सकता है । इन साधनों का हम सम्यक् प्रयोग करें ।

प्रेक्षाध्यान का एक सूत्र है—क्रमिक विकास और सम्यक् नियोजन—केवल आसन नहीं, केवल प्राणायाम नहीं । केवल प्राणायाम को भी मैं खतरनाक मानता हूं । हम दीर्घश्वास का प्रयोग करते हैं—दीर्घश्वास प्रेक्षा । समवर्ती श्वास का प्रयोग करते हैं—समवर्ती श्वास प्रेक्षा । यह प्राणायाम भी है और ध्यान भी है । केवल प्राणायाम का प्रयोग नहीं करते, किन्तु प्राणायाम के साथ ध्यान का प्रयोग करते हैं । ध्यान साथ में होता हैं तो हर

तपस्या बहुत कल्याणकारी बन जाती है। फिर चाहे प्राणायाम हो या कुछ और हो। मैं तो यह भी चाहता हूं कि प्रेक्षाध्यान करने वाले आसन करें तो आसन के साथ भी ध्यान को जोड़ें। साथ में ध्यान करें, कोरा आसन नहीं। ध्यान की सीमाओं से मुक्त होकर विहार करने वाले ये छोटे-छोटे पंछी, वैसी ही कठिनाई में पड़ सकते हैं जैसे पंछी का छोटा बच्चा उड़ नहीं पाता, वह घोंसले से तो बाहर निकल जाता है, पर भटक जाता है।

पुरुषार्थ की नियति और नियति का पुरुषार्थ

आदमी कोई भी प्रयत्न करता है, उसका परिणाम चाहता है, सफलता चाहता है। जिस प्रयत्न का कोई परिणाम न आए, जिस पुरुषार्थ का कोई फल न हो, उसके प्रति हमारे मन में बहुत आकांक्षा और जिज्ञासा नहीं जागती। आज प्रातःकाल जयपुर के न्यायाधीश कोठारीजी ने कहा कि दो दिन ध्यान किया और सारे शरीर में हलचल-सी हो गई, सक्रियता बढ़ गई। मैंने कहा, 'कुछ करें और पता ही न चले तो फिर क्या है, किया या नहीं किया ? पता तो होना चाहिए कि हम कुछ कर रहे हैं। उसका अनुभव होना चाहिए। एक फल होना चाहिए।

आदमी सफलता चाहता है। जो भी प्रवृत्ति प्रारंभ करता है, उसमें सफल होना चाहता है। सफलता के लिए तीन शर्तें हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् उपाय और सम्यक् प्रयत्न जब दृष्टि सम्यक् नहीं होती तो सफलता नहीं मिलती। उपाय सम्यक् नहीं होता तो सफलता नहीं मिलती और पुरुषार्थ सम्यक् नहीं होता तो सफलता नहीं मिलती। ये तीनों बातें अनिवार्य हैं और तीनों में से एक को भी नहीं छोड़ा जा सकता। तीनों परस्पर संबद्ध हैं।

दृष्टि ठीक नहीं होती, हमारा ज्ञान सम्यक् नहीं होता तो पुरुषार्थ की सफलता नहीं हो सकती। हम परिणाम की भावना नहीं रख सकते। सबसे महत्त्व की बात है—दृष्टि का सम्यक् होना। इसीलिए प्रेक्षाध्यान के प्रयोग में हम इस बात पर सबसे अधिक बल देते हैं कि सबसे पहले पद्धति का जितना ठीक सम्यक् ज्ञान होगा, मार्ग का जितना सम्यक् ज्ञान होगा, उतना ही आगे विकास संभव होगा। बहुत बार ऐसा होता है कि बताया कुछ जाता है और पकड़ कुछ लिया जाता है। इससे भ्रांति पैदा हो जाती है।

एक महिला ने प्रवचन सुना। प्रवचन में बात हो रही थी कि ईश्वर सर्व-व्यापी है, भगवान सर्वव्यापी है। उसने इस बात को पकड़ लिया, पर उस बात को ठीक समझ नहीं पायी। घर में गई और कपड़ों सहित स्नान करने लगी। रोज का बन गया क्रम। घरवालों ने कहा, 'यह क्या बात है ? कपड़ों सहित क्यों स्नान करती हो ?' वह बोली, 'तुम्हें पता नहीं है। मैंने सुना

है—भगवान् सर्वव्यापी है। जब सर्वव्यापी है तो उसके सामने नग्न फिर कैसे हुआ जाए ! चाहे फिर मैं स्नान कितने ही एकान्त में करूं, आखिर भगवान् तो देखता है ?'

एक सिद्धान्त को इस प्रकार पकड़ लिया कि दृष्टि सम्यक् नहीं हुई। जब दृष्टि सम्यक् होती है तब सिद्धान्त का ग्रहण दूसरी प्रकार से होता है। ठीक इसी घटना को तो दूसरे रूप में उद्धृत करना चाहता हूं।

तीन शिष्य थे और तीनों शिष्यों की परीक्षा के लिए उपाध्याय ने कहा—'ये कबूतर ले जाओ। जहां कोई न देखे, वहां इन्हें मारकर आ जाओ। एक गया और सोचा कि गुरु का निर्देश है कि जहां कोई न देखे। जंगल में गया और देखा कि इधर-उधर कोई नहीं देख रहा था, गर्दन काट दी और आ गया। दूसरा शिष्य भी एकांत स्थान में चला गया, गर्दन काट दी और आ गया। तीसरा बहुत गहरे पहाड़ों के बीच में चला। एकान्त स्थान, बिलकुल निर्जन स्थान जहां चिड़िया भी नहीं देखती। सोचा, बिलकुल एकान्त स्थान में पहुंच गया हूं। जैसे ही तैयारी करने लगा, उसे खयाल आया कि कोई मनुष्य नहीं देखता, कोई पशु नहीं देखता, फिर भी परमात्मा तो सर्वदर्शी है। वह तो सबको देखता है। गुरु का आदेश है कि कोई भी नहीं देखे। मैं ऐसा कैसे कर सकता हूं ? कबूतर को लेकर वापस गुरु के चरणों में आया और कहा—'यह आपका कबूतर प्रस्तुत है।' गुरु ने कहा, 'अरे ! तूने आदेश का पालन नहीं किया। लगता है आलसी है। एकान्त में नहीं गया।' शिष्य ने कहा—'मैं सबसे आगे गया हूं।' गुरु ने कहा—'देख लो, दोनों आ गए और इन दोनों ने मेरे आदेश का पालन किया है। ये गर्दन कटे हुए कबूतर पड़े हैं। तुमने कैसे नहीं किया ?' उसने कहा—'कैसे करूं ? मैं बहुत दूर गया, बहुत दूर गया। किन्तु जैसे ही आपके आदेश का पालन करने लगा, मेरे मन से एक बात उठी कि गुरु का आदेश है कि जहां कोई भी न देखे। तत्काल मेरे मन में यह एक स्फुरणा हुई कि भगवान् तो सब जगह देखता है। अब कहीं भी चला जाऊं, चाहे निर्जन से निर्जन स्थल में चला जाऊं किन्तु दुनिया में कोई भी स्थान ऐसा नहीं होगा कि जहां भगवान् न देखता हो, जहां परमात्मा न देखता हो, जहां सर्वदर्शी की ज्ञान-रश्मियां न पहुंचती हों। मैं लौट आया।'

सम्यक् दृष्टि में अन्तर होता है। बात एक थी, भगवान् की सर्वव्यापकता को उस महिला ने भी पकड़ा और भगवान् की सर्वव्यापकता को उस विद्यार्थी

ने भी पकड़ा। किन्तु पकड़ने में बहुत अन्तर हो गया।

ध्यान करने वाले व्यक्ति में शक्ति जागती है, ऊर्जा का जागरण होता है। किन्तु सम्यक् नियोजन करने वाला उसका उपयोग कर लेता है और जो सम्यक् नियोजन करना नहीं जानता वह उसका दुरुपयोग भी कर लेता है। आप यह न मानें कि ध्यान से केवल लाभ ही होता है। ध्यान से लाभ भी उठाया जा सकता है और ध्यान से हानियां भी उठाई जा सकती हैं। दृष्टि सम्यक् हो जाए तो बहुत लाभ उठाया जा सकता है और दृष्टि साफ न हो, दृष्टि के दोष बने के बने रहें तो बहुत हानियां उठाई जा सकती हैं। दूसरी बात, सम्यक् उपाय होना चाहिए। आज सबसे बड़ी समस्या है उपाय की खोज। उपाय नहीं मिलते। हमारे सामने जितने उपाय हैं, जितनी अविद्या है, जितने अन्तराय हैं, उन्हें शान्त करने के लिए उतने उपाय मिल जाएं तो बहुत बड़ी बात होती है। मुझे आश्चर्य होता है कि उपाय किस प्रकार काम कर जाता है।

मैं इस शिविर की घटना ही आपको बताऊं। बिहार से एक अवकाश-प्राप्त प्रिंसिपल यहां आए, कृष्णनंदन शाह, जो वहां विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य भी हैं, बहुत प्रबुद्ध आदमी हैं। काफी ध्यान कर चुके हैं। लाहिड़ी योगी हुए हैं अच्छे, उनकी पद्धति के अनुसार वे ध्यान कर चुके हैं और उनके गुरु ने कहा, 'अब तुम कुण्डलिनी जागरण का ध्यान मत करो, तुम्हारा शरीर साथ नहीं दे रहा है।' यहां पहुंचे। कल बैठे थे मेरे पास। बात चल पड़ी। उन्होंने कहा, 'यह शरीर-प्रेक्षा का प्रयोग मुझे बहुत अच्छा लगा। यह बहुत सहज-सरल है और मैं कर सकता हूं।' मैंने कहा कि ठीक है। फिर उन्होंने कहा कि मेरी एक बीमारी है—हाथीपांव। (पैर बिलकुल सूजा हुआ था) इसके लिए क्या करूं? मैंने कहा कि आप शरीर-प्रेक्षा का प्रयोग करें और साथ-साथ सुझाव का भी प्रयोग करें। 'आटो सजेशन—स्वयं सूचना और स्वयं-निर्देशन का प्रयोग भी आप करें। बात पूरी हो गई। अब जो व्यक्ति प्रबुद्ध होता है वह बात को पकड़ता है और सम्यक् उपाय हाथ लग जाता है। उन्होंने रात को लगभग एक घंटा इस स्वतः सूचना का प्रयोग किया। अभी मेरे पास एक शिविरार्थी भाई आया जो उनसे देवघर में बहुत संपर्क में है, आकर बोला, 'प्रिंसिपल साहब के जो इतनी सूजन थी वह आधी हो गई।' मैंने विश्वास नहीं किया। यह कैसे हो सकता है?

थोड़ी देर बाद स्वयं प्रिंसिपल साहब आ गये और मैंने कहा, 'क्या किया

आपने, कुछ प्रयोग किया ?' उन्होंने कहा, 'प्रयोग ही नहीं किया बल्कि देखिए मेरा पैर, कल जो सूजन थी वह आधी हो गई।'

अब कल्पना नहीं की जा सकती। यह कहानी-सी लगती है। एक रात में इतनी भयंकर बीमारी और सूजन आधी हो जाए। किन्तु उपाय सम्यक् होता है और आस्थावान् पुरुष आस्था के साथ उसका प्रयोग करता है तो एक विचित्र घटना घट जाती है।

आस्था और उपाय—दोनों का योग होना चाहिए। उपाय ठीक है और आस्था नहीं है कि भई, बात तो कही जा रही है पर होगा या नहीं होगा, तो बिलकुल नहीं होगा। मन में जब यह विकल्प है कि होगा या नहीं होगा तो नहीं ही होगा। पहले ही क्षण में जब आस्था भंग हो गई, विश्वास खंडित हो गया तो फायदा कभी होने वाला नहीं। उपाय और आस्था दोनों का योग मिले। सही उपाय और झूठी आस्था है तो भी नहीं होगा और कोरी आस्था से भी काम नहीं बनता। आस्था है और सही उपाय मिला तो कुछ बातें ऐसी घटित हो जाती हैं कि जिनकी हम कल्पना नहीं कर सकते।

दवा लेते हैं और तत्काल परिवर्तन होता है तो दवा में क्षमता होती है। हमारे एक बहुत कुशल चिकित्सक थे, भंवरलाल दूगड़। उन्होंने कहा कि मैं दस दिन में दस किलो वजन बढ़ा सकता हूं औषधि के द्वारा। बात बड़ी अजीब-सी लगती थी। पर रोज एक किलो वजन बढ़े, यह तो हो सकता है। खाने से पहले वजन लें और खाने के बाद वजन लें—एक किलो वजन बढ़ जाएगा। पानी पी लें डटकर और खा लें तो एक किलो वजन बढ़ जाएगा। यह तो संभव है। पर एक किलो वजन शरीर का बढ़ जाए बिना खाए-पीए, बड़े आश्चर्य की बात लगती है। किन्तु वे उपाय को जानते थे। हमारी आंखों के सामने ऐसा कर दिखाया। हमने देख लिया। एक व्यक्ति ने दवा का सेवन किया और सात दिन में सात किलो वजन बढ़ गया। उपाय होते हैं। हमारे सामने उपायों की कोई कमी नहीं है। इतने पदार्थ, इतने यंत्र, इतनी औषधियां, इतने द्रव्य हैं कि अगर कोई उपाय को जाने तो बहुत आश्चर्यकारी घटनाएं घट सकती हैं। जब एक औषधि के द्वारा इतना परिवर्तन हो सकता है तो क्या हमारे भीतर की औषधि के द्वारा इतना परिवर्तन नहीं हो सकता ? यह सारा परिवर्तन होता है रसायनों के द्वारा। जो रसायन औषधि में मिलते हैं, वे सारे रसायन हमारे शरीर के भीतर विद्यमान हैं। यह जो पिनीयल ग्लैण्ड, पिच्यूटरी ग्लैण्ड, बहुत छोटे-छोटे दाने जैसे हैं,

किन्तु उनसे जो स्राव होते हैं, जो रसायन बनते हैं, इतने शक्तिशाली रसायन होते हैं कि पिनीयल का एक छोटा-सा, थोड़ा-सा, एक सूई की नोक पर टिके उतना-सा रसायन, उतना-सा हारमोन सारे शरीर में हलचल पैदा कर देता है। तालपुट उग्र जहर होता है। उस जहर की, एक सूई की नोक पर टिके, उतनी-सी मात्रा एक हाथी के शरीर में पहुंच जाए तो हाथी चलता-चलता लुढ़क जाता है। आदमी की तो बात छोड़ दें। इतना भारी-भरकम जानवर लुढ़क जाता है। द्रव्य की शक्ति बहुत होती है। हमारे भीतरी द्रव्यों की शक्ति भी कम नहीं है। हमारे शरीर में रसायन भरे पड़े हैं। हमारा मस्तिष्क अनेक रसायनों को पैदा करता है। हमारी ग्रंथियां अनेक रसायनों को पैदा करती हैं। हम नियम को जान लें, नियति को जान लें। पुरुषार्थ के साथ नियति को जानना बहुत जरूरी है। पुरुषार्थ सफल होता है, किन्तु वह पुरुषार्थ कभी भी सफल नहीं होता जिसके साथ नियति जुड़ी हुई नहीं है। नियति का भी अपना काम होता है किन्तु वह नियति अकिंचित्कर बन जाती है, जिसके साथ पुरुषार्थ जुड़ा हुआ नहीं होता। हम नियति के पुरुषार्थ को जानें और पुरुषार्थ की नियति को जानें। यदि दोनों बातों को ठीक प्रकार से जान लें तो हमारा रास्ता बहुत साफ और सरल बन जाता है।

उपाय सम्यक् होना चाहिए। उपाय का बड़ा महत्त्व होता है। हर जगह जहां समस्या आती है, आदमी उपाय खोजता है। समाधान तब तक नहीं होता जब तक उपाय नहीं मिल जाए। उपाय स्वयं भी खोजा जा सकता है और उपाय खोजने के लिए गुरु की शरण भी ली जा सकती है।

कोई संन्यासी था। भीड़ बहुत होती। सभी संन्यासी अपरिग्रही नहीं होते। कुछ संन्यासी बहुत परिग्रह भी रखते हैं। यह अपनी-अपनी परम्परा है। बड़ा आश्रम था। बहुत धन और बहुत लोगों की भीड़। वह परेशान हो गया। गुरु के पास जाकर बोला, 'गुरुदेव ! और तो सब ठीक है पर एक बड़ी समस्या है। भीड़ बहुत हो जाती है, इतने लोग आते हैं कि मैं अपनी साधना पूरी तरह नहीं कर पाता, समय नहीं मिलता। रात-दिन चक्र-सा चलता है।' गुरु ने कहा, 'तुम एक काम करो, गरीब लोग आएं तो उनको कर्ज देना शुरू कर दो और जो धनवान लोग आएं तो उनसे मांगना शुरू कर दो।' उपाय हाथ में लग गया। उसने प्रयोग करना शुरू कर दिया—जो निर्धन आते, उन्हें कर्ज देना शुरू किया और धनी आते उनसे धन मांगना शुरू किया। पांच-दस दिनों में भीड़ बिलकुल छंट गई। क्योंकि जिन्होंने कर्ज

लिया वे वापस किसलिए आते सामने आना नहीं चाहते थे क्योंकि वापस तो देना नहीं था—मुफ्त में मिला है। और धनियों से मांगना शुरू किया तो उन लोगों ने सोचा कि अब तो जाना ठीक नहीं है। जाते ही पहले यह होगा कि 'लाओ-लाओ'। भीड़ कम हो गई।

उपाय ठीक मिलता है तो दोनों बातें हो जाती हैं। हमारे हाथ उपाय लगना चाहिए। आज ही एक भाई ने पूछा कि क्रोध आए तो क्या करना चाहिए? उपाय की बात है। क्रोध एक बहुत बड़ी समस्या है। जटिल समस्या है और पारिवारिक शान्ति को अस्त-व्यस्त करने में एक सबसे बड़ी समस्या है। हर बात पर आवेश आ जाता है। इतना झगड़ा परिवार में हो जाता है कि एक-दूसरे की बात कोई सुनना नहीं चाहता। हित की बात भी कोई सुनना नहीं चाहता है तो अहित की बात को कोई सुने ही क्यों! एक बहुत जटिल समस्या है, पर क्या यह निरुपाय है? निरुपाय कुछ भी नहीं है। उपाय है। उपाय के द्वारा हम इस समस्या से छुट्टी पा सकते हैं। सबसे सीधा उपाय है कि जब क्रोध आए तत्काल वहां से उठकर एकान्त में चले जाएं। क्रोध की स्थिति समाप्त हो जाएगी। क्रोध हमेशा आमने-सामने आता है। एकान्त में चले गए तो गुस्सा शांत हो जायेगा। क्रोध आया और एक क्षण के लिए नाक को बन्द कर लें, श्वास को रोक लें, क्रोध का आवेग कम हो जाएगा।

पुराने जमाने की घटना है। एक युवती को बहुत गुस्सा आता था। बहुत तेज स्वभाव। सास कोई बात कहती, उससे पहले ही वह उछल पड़ती। इतना तेज गुस्सा! घर में बड़ा कलह रहने लगा। सब परेशान हो गए। सोचा क्या करूं? पास में एक पड़ोसी था बहुत समझदार, चिकित्सक और बड़ा अनुभवी। वह युवती उसके पास जाकर बोली, 'पिताजी! बड़ी समस्या है। घर में बहुत कलह होता है। दिनभर लड़ाइयां चलती हैं। मैं परेशान, मेरी सास परेशान, सारा वातावरण ही अशांत हो गया है। मेरी चिकित्सा करें, कोई ऐसी दवा दें जिससे मेरा क्रोध शांत हो जाए। यह झगड़ा समाप्त हो जाए।' वह बड़ा अनुभवी था। उसने कहा—'बेटी! एक दवा देता हूं पर उसका पथ्य बहुत कड़ा है। ध्यान रखना पड़ेगा।' वह बोली, 'जो कुछ आप कहेंगे, वही करूंगी।' भीतर गया, एक बोतल लाया और बोला, 'यह लो दवा। जिस समय गुस्सा आए उस समय यह दवा ले लो। पर पथ्य कड़ा है। दस मिनट तक इस दवा को मुंह में रखना पड़ेगा। ऐसा नहीं कि पानी

की तरह दवा पीकर निगल लो। दस मिनट तक उसे मुंह में रखो जिससे कि पूरी लार उसके साथ में मिल जाए। जो भी खाया जाता है, पीया जाता है उसमें लार नहीं मिलती तो ठीक से पाचन नहीं होता। इस दवा के साथ लार नहीं मिलेगी तो यह पचेगी नहीं। यह दवा तभी काम करेगी जब दस मिनट तक मुंह में इसे घुमाती रहो। जब पूरी लार मिल जाएगी तो यह ऐसी कीमती दवा है कि पहले ही दिन यह अपना प्रभाव डाल देगी।'

वह युवती दवा लेकर आश्वस्त होकर घर चली गई।

अब झगड़ा तो रोज का क्रम था। ऐसा क्रम बन गया कि सास को बहू से और बहू को सास से लड़े बिना शांति नहीं मिलती। झगड़ा शुरू हुआ छोटी-सी बात पर। अब सास बड़ी गुस्से में आयी। वह भला पीछे रहने वाली कब थी! पर आज तो दवा ले आयी थी। सोचा, अभी दवा लूं। भीतर गयी और दो घूंट मुंह में डालकर आ गई। मुंह तो भरा था, बोले तो कैसे बोले? बोलने वाली तो थी पर दस मिनट तक पालन करना था। दस मिनट तक नहीं बोली। तो सास का गुस्सा भी पांच मिनट में ही शांत हो गया। गुस्सा तब बढ़ता है जब सामने ईंधन मिले। ईंधन नहीं मिले तो आग अपने आप बुझ जाएगी। ईंधन नहीं मिला तो सास भी बोलती-बोलती शांत हो गई। उत्तेजना नहीं मिली, बिना उत्तेजना के कुछ होता नहीं। ये जितने स्थायी भाव, सात्विक और संचारी भाव होते हैं वे सारे उत्तेजना के सहारे, उद्दीपन के सहारे चलते हैं। यदि उद्दीपन नहीं होता तो वे अपने आप शांत हो जाते हैं। उद्दीपन मिला नहीं, सास शांत हो गई। बहू ने सोचा—दवा तो बहुत अच्छी दी। पहले ही दिन शांति हो गई। दो-चार-पांच दिन प्रयोग किया। झगड़ा बन्द, गुस्सा बन्द, लड़ाइयां बन्द—सब कुछ समाप्त हो गया। चिकित्सक के पास जाकर बोली, 'पिताजी, आपने दवा तो बहुत बढ़िया दी। ऐसी दवा कि आपने कहा था कि पांच-दस दिन में शांति हो जाएगी, लेकिन दवा ने तो पहले ही दिन अपना चमत्कार दिखला दिया। सब कुछ ठीक हो गया है, अब कुछ भी समस्या नहीं है।' 'बेटी, पथ्य का पालन ठीक किया?' 'हां, बिलकुल आपने कहा—वैसा ही किया।'

अब भला दस मिनट तक जो गुस्सा नहीं करे, वह गुस्सा कर ही नहीं सकता। गुस्सा तो पहले ही क्षण में आता है। अगर दो क्षण भी गुस्सा न करे तो वह कर ही नहीं सकता।

आपने पढ़ा होगा कि पश्चिमी जर्मनी में एक कानून बनाया न्यायालयों ने कि कोई भी क्रिमिनल केस आए, उसे तत्काल स्वीकार नहीं करना। पांच-चार घंटे तक उस व्यक्ति को बिठाया जाए और फिर बाद में उसको स्वीकार किया जाए। परिणाम यह आया कि १०० में से ७० तो ऐसे ही लौट जाते। और वास्तव में २० से ३० जो यथार्थ होते, वे ही बच पाते। आदमी आवेश में बहुत काम करता है और जब आवेश को शांत होने का मौका मिल जाता है तो फिर ये क्षण टल जाते हैं।

उपाय का सम्यक् प्रयोग करें तो हमारी बहुत सारी समस्याएं टल जाती हैं। यह भी एक उपाय है कि गुस्सा उतरे और तत्काल श्वास को रोक दें। एक मिनट में गुस्सा शांत हो जाएगा। श्वास के बिना गुस्सा आएगा कैसे? हमारे शरीर में होने वाली सारी हलचलें, सारी प्रवृत्तियां श्वास के साथ होती हैं और जब श्वास शांत, फिर आवेग जीवन में उतर नहीं सकता। क्रोध-शमन के एक नहीं, दसों उपाय हैं। केवल क्रोध के नहीं, वासना के, भय के, शमन के दसों उपाय हैं। दुनिया में जितने अपाय हैं उतने ही उपाय भी हैं। हमारा दूसरा सूत्र है सफलता का कि हम उपायों को जानें, नियमों को जानें। नियति का अर्थ होता है नियम। ध्यान के अपने अर्थ होते हैं। ध्यान के अपने नियम हैं। हम अध्यात्म के नियमों को नहीं जानते इसलिए उसका उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। धर्म की तेजस्विता, अध्यात्म की शक्ति जो कम हुई है उसका मैं एक कारण मानता हूं कि अध्यात्म और धर्म की जो नियति थी, जो सार्वभौम नियम थे उन नियमों से आज हम अपरिचित हो गए। ध्यान के प्रयोग का एक बहुत बड़ा अर्थ होता है उन नियमों की जानकारी, उन रहस्यों की जानकारी।

तीसरी बात, हमारा सम्यक् पुरुषार्थ हो। दृष्टि भी सम्यक् है। उपाय का ज्ञान भी हमें हो गया है। किन्तु हम पुरुषार्थ करना नहीं जानते। यह मारकोस जैसा आलसीपन। एक पश्चिमी व्यक्ति हुआ है—मारकोस। बहुत आलसी था कि काम करना नहीं चाहता। एक दिन सो रहा था। सोते-सोते सपना आ गया कि आज तो मैं बहुत काम कर रहा हूं। उसने सोचा बड़ा अन्याय हो गया, भला काम का और मेरा संबंध ही क्या? उस दिन से उसने सोना ही बन्द कर दिया, बैठे-बैठे नींद लेने लगा। उसने सोचा, कहीं दूसरी बार सपना न आ जाए कि मैं काम कर रहा हूं। जहां इतनी पुरुषार्थहीनता होती है और इतना आलस्य होता है तो दृष्टि साफ हो जाने पर भी कार्य

नहीं हो सकता। कार्य की सफलता के लिए तीसरा सूत्र है—हमारा सम्यक् पुरुषार्थ हो। पुरुषार्थ हो और सम्यक् हो। ये तीनों बातें जब मिलती हैं तो सफलता में हमें कोई सन्देह नहीं होता।

ध्यान के सोपान

हम श्वास लेना सीखें

मेरे सामने कोई पचास वर्ष का आदमी बैठा हो और मैं उससे कहूं कि तुम रोटी खाना सीखो, पानी पीना सीखो, कैसा अटपटा-सा लगेगा। वह सोचेगा कि कौन-सी बड़ी बात कह दी, कौन-सी दर्शन की गुत्थी को सुलझाने की बात कही कि रोटी खाना सीखो और पानी पीना सीखो। यह तो हम सब जानते हैं। यदि यह नहीं जानते तो इतने वर्ष आते ही नहीं। अगर पानी पीना नहीं जानते तो पचास वर्ष तो क्या, पांच वर्ष भी नहीं, पांच महीने भी नहीं आते। हर आदमी, जो पचास वर्ष तक जीता है, वह रोटी खाना जानता है और पानी पीना जानता है, इसीलिए पचास वर्ष तक जी रहा है। नहीं तो कैसे जीता ? कभी नहीं जी पाता। उस व्यक्ति को यह कहा जाए कि तुम श्वास लेना सीखो और भी अटपटा लगेगा। बड़ा विचित्र लगेगा। यह कोई सीखने की बात है ! जब बच्चा जीना शुरू करता है तो श्वास के साथ जीना शुरू करता है। श्वास हमारे जीवन का लक्षण है। जो श्वास लेता है वह जीता है। जो श्वास नहीं लेता उसे मृत घोषित कर दिया जाता है। जीवित में और मृत में क्या अन्तर होता है ? अन्तर यही होता है कि जब तक धौंकनी चलती है, आदमी जीवित कहलाता है और जब श्वास बन्द हो जाता है आदमी मर जाता है। श्वास के बिना प्राणवायु नहीं मिलती और प्राणवायु के बिना जीवन नहीं चलता। यदि किसी आदमी की कोशिकाओं को ऑक्सीजन न मिले, प्राणवायु न मिले तो दस सेकण्ड के बाद आदमी मूर्च्छित हो जाता है, फिर सचेत नहीं रह सकता, सावधान नहीं रह सकता। शरीर की हर कोशिका को काम करने के लिए ऑक्सीजन चाहिए, प्राणवायु चाहिए। वह मिलता है श्वास के साथ। यदि श्वास बन्द हो जाए तो सब कुछ गड़बड़ा जाए, सारा शरीर का तंत्र गड़बड़ा जाता है। जब श्वास की कमी होती है तब ऑक्सीजन की नलियां लगाकर कृत्रिम श्वास दिलाया जाता है। फिर सीखने की बात क्या है ? न रोटी खाना सीखना है, न पानी पीना सीखना है और न श्वास लेना सीखना है। जो अपने आप में होने वाली बातें हैं, जो नैसर्गिक हैं, निसर्ग से होने वाली घटनाएं हैं उनके लिए सीखने की क्या जरूरत

है ? सहज ही यह तर्क होगा । जहां बुद्धि है वहां तर्क होना स्वाभाविक है । मैं मानता हूं कि जीवन की बहुत सारी घटनाएं तर्क के कारण ही विकृत बनती हैं । जीवन की बहुत सारी समस्याएं तर्क के कारण ही उलझती हैं । आदमी स्वयं जब तर्क में जाता है तो सचाई नीचे रह जाती है, तर्क ऊपर चला जाता है । दोनों में कोई संगति नहीं होती । समस्या उलझ जाती है । श्वास लेना एक बात है और श्वास विधिवत् लेना दूसरी बात है । मैं मानता हूं आपके इस तर्क को कि जो जीता है, वह श्वास लेता है । ऐसा कोई नहीं होता कि जो जीता है वह श्वास नहीं लेता । श्वास लेना एक बात है, किन्तु श्वास कैसे लिया जाए, श्वास कैसे लेना चाहिए यह बिलकुल दूसरी बात है । मैं आपको यह नहीं बता रहा हूं कि श्वास लें । यह तो स्वाभाविक बात है, बताने की जरूरत नहीं है । इसके लिए कोई उपदेश की जरूरत नहीं, कोई सिखाने की जरूरत नहीं । रोटी के बारे में भी यही बात है । रोटी खाना एक बात है और रोटी कैसे खानी चाहिए, यह दूसरी बात है । पानी पीना एक बात है और पानी कैसे पीना चाहिए, यह दूसरी बात है । जो आदमी जान लेता है कि रोटी कैसे खानी चाहिए, जो आदमी जान लेता है कि पानी कैसे पीना चाहिए उसका सारा जीवन बदल जाता है । जो आदमी जान लेता है कि श्वास कैसे लेना चाहिए, उसका सारा जीवन बदल जाता है । प्रश्न है बदलने का कि कैसे बदला जाए ? तभी बदला जा सकता है कि हम जब इस बात को समझ लें कि कौन, कहां, कैसे । ये प्रश्न हमारे जीवन में बहुत महत्त्व के होते हैं । कौन है कहां है और कैसे है—जब तक इन प्रश्नों पर गंभीर विमर्श नहीं करते तब तक समस्याएं नहीं सुलझतीं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—हर वस्तु की मीमांसा इन दृष्टिकोणों से की जाती है ।

व्यक्ति का फोन आया ऑपरेटर के पास कि मैं पंडित जवाहरलाल नेहरू बोल रहा हूं और तुम मेरे आदेश का पालन करो । एक बार आया, दो बार आया, सोचा क्या बात है, ध्यान नहीं दिया । तीसरी बार गुस्से में बोला—मैं पंडित जवाहरलाल नेहरू बोल रहा हूं । तुम मेरे आदेश का पालन करो । ध्यान नहीं दिया तो बोला—तुम्हें पता नहीं कि मैं कौन बोल रहा हूं ? ऑपरेटर ने कहा—महाशय ! मैं यह नहीं जानना चाहता कि आप कौन बोल रहे हैं, मैं तो यह जानना चाहता हूं कि आप कहां से बोल रहे हैं । उत्तर मिला—पागलखाने से बोल रहा हूं ।

अब कौन बोल रहा है, इतने से काम नहीं चलता । कहां से बोल रहा

है, यह आवश्यक है। वही उत्तर यदि मिलता कि मैं प्राइम-मिनिस्टर हाउस से बोल रहा हूं तो सारी स्थिति बदल जाती और जब उत्तर मिला कि पागल-खाने से बोल रहा हूं तो वहां से पंडित जवाहरलाल नेहरू बोले या कोई भी बोले, कोई फर्क नहीं पड़ता। पागल पंडित जवाहरलाल नेहरू भी बन सकता है और कुछ भी बन सकता है। अवतार भी बन सकता है। कौन, कहां और कैसे, जब तक इन प्रश्नों पर मीमांसा नहीं करते, जब तक हम इन प्रश्नों पर विमर्श नहीं करते और ध्यान नहीं देते तब तक समस्याओं को नहीं सुलझा पाते।

श्वास कैसे लें? बहुत महत्त्व का प्रश्न है, क्योंकि श्वास हमारे जीवन का प्रश्न है। जीवन के साथ जुड़ा हुआ है यह। जीवन के साथ इतना जुड़ा हुआ है कि उसको कभी अलग नहीं किया जा सकता। न जागने में अलग किया जा सकता है और न सोने में अलग किया जा सकता है। आदमी नींद में भी श्वास लेता है और जागता है तब भी श्वास लेता है। श्वास निरन्तर सहचर, हमेशा साथ चलने वाला, साथ रहने वाला है। उसे कैसे अलग किया जा सकता है? हम कहते हैं कि छाया साथ में रहने वाली है। छाया तो तब होती है जब धूप होती है। धूप नहीं होती तो छाया नहीं होती। छाया साथ में तभी रहती है जब धूप होती है। किन्तु श्वास तो निरन्तर साथ में रहता है चाहे धूप हो चाहे न हो। हर क्षण साथ में रहने वाला जो श्वास है, उसके प्रति हम उपेक्षा नहीं बरत सकते। श्वास का संबंध केवल हमारे भौतिक शरीर से ही नहीं है, श्वास का संबंध हमारे मानसिक शरीर से भी है। मन से भी बड़ा गहरा संबंध है। जिस व्यक्ति ने श्वास को नहीं समझा, उसने मन को भी नहीं समझा।

अभी दो दिन पहले डॉक्टर मेरे पास बैठे थे। उन्होंने पूछा—आपने पुस्तक लिखी है और उसका टाइटल दिया है 'किसने कहा मन चंचल है।' यह कैसे? मन तो चंचल ही होता है। यह नयी बात क्यों? यह नया प्रश्न क्यों? क्या मन चंचल नहीं होता? यदि नहीं होता तो हमारे हजारों-हजारों आचार्यों ने कहा कि मन चंचल होता है। क्या आप उन सबको झुठलाना चाहते हैं? मैंने कहा—'यह कोई झुठलाने का प्रयत्न नहीं है। आप डॉक्टर हैं और विज्ञान के बारे में जानते हैं। यह बिजली जल रही है और यह पंखा चल रहा है। पंखे की ताड़ियां इतनी घूम रही हैं, लगता नहीं कि ताड़िया घूम रही हैं। लगता है कि एक चक्राकार कोई वस्तु घूम रही है।

ताड़ियां जैसे लुप्त हो गईं, समाप्त हो गईं। कितना वेग है, कितना चंचल है! मैं कहूं कि पंखा कितना चंचल है। झूठ तो नहीं होगा किन्तु सच भी नहीं होगा। अगर कहूं कि पंखा चंचल है तो बिलकुल सच नहीं होगा। यह पंखा तब तक चंचल है जब तक बिजली का इसमें प्रवाह है। जैसे ही प्रवाह रुकेगा, पंखा लड़खड़ाता-सा चलने लग जाएगा और एक-दो मिनट में वह शांत हो जाएगा। अब मैं आपसे पूछना चाहता हूं, क्या पंखा चंचल है? आप कहेंगे कहां चंचल है? स्थिर है। पंखा चंचल नहीं है। विद्युत् का करंट है, प्रवाह है। स्विच ऑन किया, पंखा चलने लगा, पंखा चंचल हो गया। बिजली चली गयी या स्विच ऑफ किया, पंखा बिलकुल शांत हो गया। तो अब क्या कहें पंखे को, चंचल कहें या स्थिर कहें? पंखा चंचल भी नहीं है, पंखा स्थिर भी नहीं है। अपने आप में कुछ भी नहीं है। कोरा पंखा है। किन्तु पीछे कोई धक्का लगता है, पंखा तेज चलने लग जाता है और धक्का बंद हो जाता है, पंखा चलना बन्द हो जाता है।

मेरे हाथ में कपड़ा है। हिल रहा है, चंचल है। किसी से पूछूं कि क्या है? वह कहेगा—चंचल है। रख दिया नीचे। अब क्या है? चंचलता समाप्त हो गई। क्या मैं मान लूं कि कपड़ा चंचल है? क्या मैं मान लूं कि पंखा चंचल है? पंखे को चंचल नहीं कहा जा सकता, कपड़े को चंचल नहीं कहा जा सकता। चंचल बनाने वाला है वह कोई दूसरा ही है। बहुत बार ऐसा होता है कि कुछ लोग आरोप कर लेते हैं। काम करना किसी को होता है, कराते हैं किसी से। कार्य किसी का होता है, नाम किसी का हो जाता है।

आदमी न जाने कहां, कैसे, क्या आरोपण करता है! अपनी बात को दूसरों पर कैसे थोपता है। यह भी एक थोपी हुई बात है कि मन चंचल है। ठीक वैसे ही लगता है कि चंचल कोई दूसरा है, उपवास किसी दूसरे को करना है और बेचारी मन की भैंस को उपवास करवा दिया, उसको हमने चंचल बना दिया। बहुत अजीब प्रश्न है।

डॉक्टरों के साथ मेरी जो बात हो रही थी वह समाप्त हो गई। वे समझदार लोग थे, डॉक्टर थे, बात को समझ गए और उनको ऐसा लगा कि जैसे कोई कांटा निकल गया हो।

मन चंचल क्यों होता है? हम कहते हैं—शास्त्र कहते हैं, न जाने कितने ग्रंथों में, कितने शास्त्रों में आपको लिखा मिलेगा कि मन चंचल है। गीता में लिखा मिलेगा। उत्तराध्ययन सूत्र में मिलेगा कि यह मन का घोड़ा इतना तेज

चलता है कि जिस पर काबू पाना काफी कठिन है। केशी स्वामी ने गौतम से कहा—'भंते ! मन का घोड़ा दुःसाहसी, बड़ा भयंकर है जो दौड़ रहा है और आप उस पर चढ़े हुए हैं। फिर कैसे नहीं आपको वह कहीं ले जा रहा है। कहां नहीं भगा रहा है ? यह कैसे हो रहा है ? मन चंचल है यह बात जैन ग्रन्थों में मिलेगी, वैदिक ग्रंथों में मिलेगी और बौद्ध ग्रन्थों में मिलेगी। न जाने यह प्रश्न मैंने क्यों उपस्थित कर दिया। सचमुच आश्चर्य है। जहां सब ग्रन्थों में मिलता है कि मन चंचल है। हजारों-हजारों बार नहीं, लाखों-करोड़ों बार हमारे वायु-मंडल में यह स्वर गूंजा है कि मन चंचल है और यही स्वर आज भी गूंज रहा है। फिर यह कहना कि मन चंचल नहीं, बड़ा अजीब-सा है। मैं आपको एक सच्चाई पर ले जाना चाहता हूं और वह सचाई यह है कि मन को चंचल बनाने वाले दो तत्त्व हैं। एक वासना और एक वायु। ये मन को चंचल बनाते हैं। एक है हमारी अजित वासना। पुरानी भाषा में उसे कर्म और संस्कार कहा जाता है। आज की भाषा में कहूं तो अवचेतन मन में दमित वासना। हमने कर्मों का संचय किया। हमारे पास कर्मों का बड़ा संचय है। इन कर्मों की जब-जब प्रतिक्रियाएं होती हैं, कर्म के जब-जब विपाक होते हैं और वे कर्म जब-जब अपना परिणाम देते हैं, सक्रिय बनते हैं, जागृत होते हैं, मन चंचल हो जाता है। वे सारे संस्कार जब उभरते हैं तो मन ऐसा चंचल होता है कि जैसे पंखे की तारिया। बिजली का प्रवाह इतना तेज आता है और तत्काल स्विच ऑन हो जाता है, मन चक्राकार घूमने लग जाता है। तेज गति से घूमने लगता है। बहुत सारे लोग तो अशांत और व्याकुल हो जाते हैं। वे विचार को, विकल्प को रोक नहीं पाते। इतना सोचने लग जाते हैं कि जितना सोचना शायद एक वर्ष में भी जरूरी नहीं होता। एक आदमी को एक वर्ष में जितना सोचना जरूरी नहीं है उतना एक दिन में वह सोच लेता है। चक्र-सा चलता रहता है, रोक नहीं पाता। चंचलता का एक कारण है—वासना, कर्म का संस्कार, कर्म का विपाक, कर्म का उदय और उसकी प्रेरणा और प्रतिक्रिया। क्रिया की प्रतिक्रिया। एक प्रश्न हुआ था कि मुक्त जीव यहां मुक्त हुआ हमारे जगत् में, और वह ऊर्ध्व-लोक में कैसे चला जाता है ? यह समझाने के लिए एक उदाहरण दिया गया कि घड़ा चाक पर चढ़ाया हुआ है। चाक घूम रहा है। कुम्हार ने उसे घुमाना बन्द कर दिया, फिर भी वह घूमता जा रहा है। क्यों ? वहां कारण बताया गया कि 'पूर्वप्रयोगात्'। अभी कुम्हार चाक को नहीं घुमा रहा है

किन्तु पहले इतना तेज घुमाया कि अभी तक वह अपने वेग को रोक नहीं पा रहा है और तेजी के साथ घूमता चला जा रहा है। हमने कर्मों का ऐसा शक्तिशाली संचय और संग्रह किया है, हमने ऐसी क्रियाएं की हैं कि हमें ऐसी प्रतिक्रियाएं फलस्वरूप भोगनी पड़ रही हैं। क्रिया बंद हो गयी किन्तु प्रतिक्रिया आज भी चल रही है और यह मन का चाक बिलकुल घूमता चला जा रहा है।

एक कारण है कर्म। दूसरा कारण है वायु। वायु भी बहुत चंचलता बढ़ाता है। मन की चंचलता बढ़ाने में वायु का भी बड़ा योग होता है। जो लोग वायु की प्रकृति वाले होते हैं उनका मन बड़ा चंचल होता है। आयुर्वेद के अनुसार हमारे शरीर में तीन मूल तत्त्व होते हैं—वात, पित्त और कफ। कफ की प्रकृति वाला आदमी लोभी ज्यादा होता है, पित्त की प्रकृति वाला आदमी क्रोधी ज्यादा होता है और वायु की प्रकृति वाला आदमी चंचल ज्यादा होता है, बातूनी ज्यादा होता है। वायु भी चंचलता को बढ़ाती है। आयुर्वेद का प्रसिद्ध श्लोक है—

'पित्तं पंगु कफः पंगु, पंगवः सर्वधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते, तत्र गच्छन्ति ते तथा॥'

पित्त पंगु है, कफ पंगु है, किन्तु वायु गतिमान है। वह जिधर ले जाता है, वे उधर चले जाते हैं। यह सारी चंचलता, वायु की चंचलता है। अगर तेज तूफान आता है तो बैलगाड़ियां तक उछलने लग जाती हैं, उड़ने लग जाती हैं। आसाम में कुछ वर्षों पूर्व चक्रवात आया था, बैलगाड़ियां उड़ीं, उड़कर पेड़ों पर अटक गयीं। पता नहीं चलता आदमी का भी, मकान का भी। हवा की शक्ति का पता नहीं चलता। हमारे संसार की यह चंचलता हवा की चंचलता है। वायु मन को चंचल बनाती है। यह श्वास और क्या है, पवन है। यह श्वास क्या है, वायु है। यह स्वयं चंचल है और मन को चंचल बनाता है। मन की चंचलता का एक बड़ा कारण है—वायु। हम श्वास लेना सीखें। इस प्रश्न के पीछे केवल जीवन का प्रश्न नहीं है। केवल शारीरिक स्वास्थ्य का प्रश्न नहीं है किन्तु मानसिक स्वास्थ्य का बहुत बड़ा प्रश्न इसके साथ जुड़ा हुआ है। जिस व्यक्ति ने श्वास को ठीक से लेना नहीं सीखा, उसने अपनी मन की अवस्थाओं को सम्यक् करना भी नहीं सीखा। उसका मानसिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं हो सकता। आपको पता है कि व्यक्ति को गुस्सा क्यों आता है? और कब आता है? हर बात को समझने के लिए क्यों और

कब को समझना ही पड़ेगा। गुस्सा इसलिए आता है कि वह श्वास को ठीक से लेना नहीं जानता। और गुस्सा तब आता है जब श्वास को ठीक लेना नहीं जानता। श्वास जब छोटा होता है तब गुस्सा आता है। जब श्वास लम्बा चलता है तब किसी को गुस्सा नहीं आ सकता। दीर्घ श्वास में गुस्सा नहीं आ सकता। छोटा श्वास चलता है तब गुस्सा आता है। ऑक्सीजन कम हो जाता है और कार्बन ज्यादा जमा हो जाता है तो गुस्सा ज्यादा आने लग जाता है। श्वास के साथ सारा धर्म का प्रश्न जुड़ा हुआ है। हम लोगों ने क्या किया? बड़े सिद्धान्तों पर ध्यान ज्यादा दिया। आत्मा को जानें, आत्मा को समझें, पुनर्जन्म को जानें, पूर्वजन्म की चर्चा करें, परमात्मा को जानें। दर्शन के बड़े-बड़े प्रश्न हैं, उन पर हम ध्यान केन्द्रित करते हैं। दर्शन की बड़ी-बड़ी गुत्थियां हैं, उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करते हैं और ऐसे सूक्ष्मतम प्रश्न करते हैं जिनका शायद जीवन के साथ कोई सीधा संबंध नहीं होता। किन्तु छोटी बातों पर ध्यान नहीं देते। और यह हमेशा होता है कि जब बड़ी बातों पर ध्यान होता है, छोटी बातों पर ध्यान नहीं होता, वहां सारे भवन डगमगाने लग जाते हैं। आदमी नींव पर ध्यान नहीं देता और केवल खण्डों पर ध्यान देता है कि ऊपर की मंजिल कितनी अच्छी होगी और उस पर ध्वजा कैसे फहराएगी। इस बात पर ज्यादा ध्यान देता है तो भवन ज्यादा टिक नहीं पाता। धर्म की भी यही स्थिति हुई है। छोटी-छोटी बातों पर ध्यान कम दिया, बड़ी बातों पर ध्यान केन्द्रित कर दिया।

भगवान् महावीर के सामने जब कोई व्यक्ति दीक्षित होता, भगवान् उसे बहुत बड़ी बातें नहीं समझाते, बड़े उपदेश नहीं देते, दर्शन के गूढ़ रहस्य नहीं समझाते। वे समझाते कि तुम्हें कैसे चलना चाहिए? कैसे खड़ा होना चाहिए? कैसे बैठना चाहिए और कैसे सोना चाहिए? बहुत छोटी-छोटी बातें समझाते। आप सोचेंगे कि महावीर को ऐसी बातें समझाने की क्या जरूरत है कि ऐसे सोना चाहिए। कोई माता-पिता ने क्या किसी बच्चे को सिखाया कि कैसे सोना चाहिए। शायद नहीं सिखाया होगा। और सिखाना जरूरी भी नहीं है। क्या आवश्यक है? कैसे खड़ा होना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, यह कोई सिखाने की बात होती है? अपने आप आदमी खड़ा होता है और अपने आप बैठता है। किन्तु महावीर ने सिखाया। इसलिए सिखाया कि महावीर कोई बड़े आदमी नहीं थे। बड़े आदमी तो बड़ी बातें सिखाते हैं, महावीर तो छोटे आदमी थे। जो छोटा आदमी होता है वह छोटी बातों

पर ध्यान देता है। दुनिया में सबसे बड़ा आदमी वह होता है जो छोटी बातों पर ध्यान देता है। महावीर उन बड़ों में नहीं थे, वैसे बड़े जो छोटी बातों की उपेक्षा करें और बड़ी बातों का बखान करें। वैसे बड़े नहीं थे। वे सबसे महान् इसलिए बने कि उन्होंने छोटी-छोटी बातों पर ध्यान दिया।

मैंने जब महात्मा गांधी के साहित्य को पढ़ा तो ऐसा लगा कि भगवान् महावीर के बाद छोटी बातों पर ध्यान देने वाले कुछ लोगों में महात्मा गांधी भी थे।

एक भाई आया आश्रम का और दातून तोड़कर लाया। गांधीजी ने कहा—अरे! इतना क्यों तोड़ा? तुमने फालतू तोड़ लिया। इतने से ही तुम्हारा काम चल सकता था। टहनी को ज्यादा तोड़ लिया। अब भला नीम की टहनी ऐसे ही टूटती रहती है, उस पर ध्यान देने की क्या बात है। आदमी तो चलते-चलते ही प्रमाद में ऐसा झटका देता है कि मात्र टहनी को ही नहीं, समूची शाखा को ही गिरा देता है। और दातून के लिए थोड़ा-सा ज्यादा तोड़कर लाया, गांधीजी ने टोक दिया। बहुत टोका।

एक बार एक व्यक्ति आया और खटिया को ऐसे ही सरका दिया। गांधीजी ने कहा कि तुमने खटिया सरकाई, देखा ही नहीं कि कोई जीव-जन्तु है। कितनी छोटी बात कि जहां चलते समय आदमी बैठे हुए को कुचलकर चला जाता है और ध्यान नहीं देता वहां खटिया को सरकाने में जीव-जन्तु का ध्यान दिया जाए। इतनी छोटी बात। लगता है कि जो लोग निकम्मे होते हैं वे इतनी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देते हैं। निकम्मे थे भगवान् महावीर, निकम्मे थे महात्मा गांधी, निकम्मे थे और कुछ आचार्य, जो इतनी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देते। किन्तु जिन लोगों ने अपनी नींव को मजबूत नहीं किया, अपनी नींव पर ध्यान नहीं किया, और केवल ऊपर की मंजिल को सजाना-संवारना चाहा, केवल पताका फहराना चाहा और अपने झण्डे को ऊंचा करना चाहा, उनके मकान हमेशा ढहते गए और जिन लोगों ने नींव पर ध्यान दिया उनके मकान मंजिल से मंजिल चढ़ते चले गए और पताकाएं अपने आप फहराती चली गईं। उन्हें प्रयत्न करने की जरूरत नहीं पड़ी।

सचमुच जीवन का निर्माण छोटी-छोटी बातों से होता है। बड़ी बातें तो तब बनती हैं जब कि छोटी बातें बनते-बनते बहुत इकट्ठी होती हैं। पहले

बड़ी बात बनाने की बात झूठ होती है। मुझे लगता है कि धार्मिक जगत् ने श्वास लेने की छोटी बात को भुलाया, उपेक्षा की, इससे समूचा धर्म एक प्रकार की दुर्व्यवस्था में चला गया। आज कितना बड़ा प्रश्न? एकाग्रता नहीं होती, स्वभाव नहीं बदलता, आदतें नहीं बदलतीं। गुस्सा जितना करता है, उतना ही करता जा रहा है। कोई परिवर्तन नहीं आता। अहंकार उतना का उतना है, रोज सुनते हैं, पढ़ते हैं, पर कोई परिवर्तन नहीं होता। जब तक मन को चंचल बनाने वाली दो बातों पर आपका ध्यान केन्द्रित नहीं होता, जब तक आदतों में विकार भरने वाली दो बातों की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं होता तब तक यह परिवर्तन आना समस्याओं का नहीं है। एक तो है पहले किए हुए कर्म के विपाक को बदलने की प्रक्रिया और दूसरा श्वास लेने की कला, जो कि मन को चंचल बनाने वाली वायु को जीतने की प्रक्रिया है। जिस व्यक्ति ने वायु को जीत लिया उसने सचमुच अपनी समस्याओं का समाधान पा लिया, धर्म की सुन्दरतम आराधना उस व्यक्ति ने कर ली। जितना महत्त्व पुराने संचित कर्मों को क्षीण करने का है, उतना ही महत्त्व वायु को वश में करने का है।

अब प्रश्न होगा कि वश में करने की प्रक्रिया क्या है? प्रेक्षाध्यान का पहला सूत्र है—दीर्घश्वास प्रेक्षा। श्वास कैसे लें? दीर्घ श्वास लें, श्वास को लंबा करना सीखें। एक सामान्य आदमी एक मिनट में १५, १६, १७ श्वास लेता है। यह तो हमारा सामान्य नाप है। जब आदमी आवेग में जाता है तो श्वास की संख्या बढ़ जाती है। क्रोध के आवेग में वह संख्या २५-३० हो जाती है। आदमी दौड़ता है तो श्वास की संख्या बढ़ जाती है। चढ़ाई करता है तो श्वास की संख्या बढ़ जाती है। अब्रह्मचर्य के सेवन के साथ श्वास की संख्या ६०,७० तक चली जाती है। श्वास की संख्या जितनी बढ़ती है, उतनी शक्तियां ज्यादा क्षीण होती है। श्वास की संख्या बढ़ जाती है, कार्बन कम निकलता है और ऑक्सीजन की मात्रा कम मिलती है। कोयले इकट्ठे ज्यादा हो जाते हैं और प्राणशक्ति कोशिकाओं को पूरी मिलती नहीं। जीवन एक प्रकार से लड़खड़ाने लग जाता है। जब दीर्घश्वास का प्रयोग करते हैं तो स्थिति बदल जाती है। जहां एक मिनट में १५-१६ श्वास की बात होती है, वहां दीर्घश्वास का प्रयोग करके श्वास की संख्या बारह हो जाती है। दस होती है, आठ होती है, सात होती है, पांच तक चली जाती है। चार तक तो बहुत लोग चले जाते हैं। और अच्छा अभ्यास हो जाए तो एक मिनट में

एक श्वास । एक श्वास लेना और छोड़ना एक मिनट में । जब एक मिनट में पांच श्वास लेने की स्थिति आ जाए उस व्यक्ति के लिए मन चंचल है, यह प्रश्न समाप्त हो जाता है । उस व्यक्ति के लिए मन में अशान्ति है, यह प्रश्न समाप्त हो जाता है । मन भारी है, बोझिल है, दिमाग भारी-भारी है, ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं । और जब श्वास की संख्या बढ़ती है तो मन कितना तेज घूमने लग जाता है कि भगवान् भी बचाना चाहे तो उस व्यक्ति को मन की अशान्ति से नहीं बचा सकता ।

हमारे सामने तीनों स्थितियां स्पष्ट हैं—एक सामान्य श्वास की स्थिति, एक छोटे श्वास की स्थिति और एक दीर्घ श्वास की स्थिति । सामान्य श्वास की स्थिति में आदमी सामान्य ढंग से जीता है किन्तु जब-जब श्वास छोटा होता है, आवेग बढ़ते हैं, तब-तब कठिनाइयां बढ़ने लग जाती हैं । और जब हम श्वास को दीर्घ करना सीख जाते हैं तो समस्याओं को साथ-साथ में दूर करना सीख जाते हैं । हम मानसिक उलझनों को मिटाना भी सीख जाते हैं । केवल मानसिक समस्याएं ही नहीं सुलझतीं, साथ-साथ में शारीरिक समस्याएं भी सुलझती हैं । स्वास्थ्य भी अच्छा होता है, बड़ी शान्ति मिलती है, गहरी नींद आती है और सारे शरीर की क्रिया ठीक होने लग जाती है । कितना बड़ा प्रश्न मैंने ले लिया कि श्वास कैसे लें ? केवल श्वास के एक पहलू पर मैं थोड़ा-सा प्रकाश डाल पाया हूं । श्वास कैसे लें इसका पूरा विज्ञान जानना हो तो बहुत जानने की जरूरत है । आज के डॉक्टर नहीं जानते । उन्हें पता नही है । किसी डॉक्टर से पूछें कि बाएं नथुने से श्वास ठंडा आता है और दाएं नथुने से गर्म आता है, कारण क्या है ? डॉक्टर आपको कोई कारण नहीं बता पाएंगे, किन्तु सही बात है, ऐसा होता है । दाएं नथुने से १०-२० श्वास लें, सिर चकराने लग जाएगा । गर्मी बढ़ जाएगी । न जाने श्वास के साथ-साथ कितनी रहस्यपूर्ण बातें हमारे योग के आचार्यों ने खोजी हैं, जो आज के विज्ञान के लिए अगम्य बनी हुई हैं ।

इस परिचर्चा से आपके मन में प्रेरणा जागे और श्वास कैसे लें, उसे सीखने का थोड़ा-सा संकल्प आपके मन में उठ जाए तो वह संकल्प शरीर, मन और वाणी को स्वच्छ करने तथा आदतों और स्वभाव को बदलने तथा कषाय को कम करने के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है ।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य

जीवन का सार क्या है ? यह प्रश्न बहुत बार मन में उभरता है। मनुष्य सदा सार के प्रश्न पर चिंतन करता रहा है। असार को छोड़ना और सार को उपलब्ध होना, ये दो बहुत बड़े कार्य हैं। प्रत्येक कार्य के साथ सार का संबंध जुड़ा है। जीवन के साथ भी सार का सम्बन्ध जुड़ा है। जीवन का सार क्या है ? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्रश्न पूछा गया—ज्ञान का सार क्या है ? उत्तर मिला—ज्ञान का सार है आचार। 'धर्म का सार क्या है ?'—प्रश्न पूछा गया। उत्तर मिला—शान्ति। जीवन का सार क्या है ? इसका उत्तर होगा—श्वास। जीवन का सार है—स्वास्थ्य। हमारा जीवन है—प्राण। प्राणी प्राण से जीता है। प्राण उसका जीवन होता है। प्राण सन्तुलित होता है, प्राणी स्वस्थ होता है। प्राण असन्तुलित होता है, प्राणी अस्वस्थ होता है। स्वस्थ व्यक्ति जीवन का आनन्द लेता है और अस्वस्थ व्यक्ति निराशा के साथ, दुःख के साथ जीवन जीता है। वह जीते हुए भी अपने को मृतवत् अनुभव करता है। सचमुच वही व्यक्ति जीवन जीता है जो स्वस्थ होता है। जिसकी प्राण-शक्ति प्रबल होती है वह सदा आशा, उत्साह और शक्ति-सम्पन्नता का अनुभव करता है। शरीर स्वस्थ होता है, जीवन का रस मिलता है। शरीर स्वस्थ हो और मन अस्वस्थ हो तो जीवन का रस खण्डित हो जाता है, पूरा आनन्द का अनुभव नहीं होता। शरीर तो ठीक चल रहा है किन्तु मन गड़-बड़ा रहा है तो शांति समाप्त हो जाती है। शरीर भी स्वस्थ, मन भी स्वस्थ किन्तु भाव स्वस्थ नहीं है, तो ये दोनों गड़बड़ा जाते हैं।

स्वास्थ्य का प्रश्न तीन स्तरों पर चर्चित होता है—भाव, मन और शरीर। भाव स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य। भाव स्वास्थ्य आध्यात्मिक स्वास्थ्य है। मन का स्वास्थ्य मानसिक स्वास्थ्य है और शरीर का स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य है। शरीर स्थूल है, मन उससे सूक्ष्म और भाव उससे सूक्ष्म। सूक्ष्म, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर। सबसे पहले हमारे सामने शरीर आता है। हम शरीर के स्वास्थ्य की चिन्ता करते हैं। जिन लोगों ने सूक्ष्म की दिशा में प्रस्थान किया है, सूक्ष्म की यात्रा शुरू की है, वे स्थूल पर

नहीं अटकते। वे सूक्ष्म में जाते हैं, तब पता चलता है कि शरीर के स्वास्थ्य का मूल्य केवल दस प्रतिशत है। मानसिक स्वास्थ्य का मूल्य तीस प्रतिशत है, तिगुना है, बहुत मूल्य है। जब और आगे जाते हैं तब पता चलता है, मानसिक स्वाथ्य का मूल्य भी कम है। भाव स्वास्थ्य या आध्यात्मिक स्वास्थ्य का मूल्य साठ प्रतिशत है। सर्वाधिक मूल्य है भाव स्वास्थ्य का, आध्यात्मिक स्वास्थ्य का। जिस व्यक्ति ने आध्यात्मिक स्वास्थ्य उपलब्ध कर लिया, उसे मानसिक स्वास्थ्य के लिए चिन्ता करने की जरूरत नहीं होती। वह स्वतः उपलब्ध होता है। जिस व्यक्ति ने भाव स्वास्थ्य प्राप्त कर लिया, उसे शारीरिक स्वास्थ्य की भी बहुत चिन्ता करने की जरूरत नहीं, वह अपने आप हो जाएगा। हमारी अधिकतर चिन्ता शारीरिक स्वास्थ्य के लिए होती है। हम मानसिक स्वास्थ्य को गौण करते हैं। भाव स्वास्थ्य को और अधिक गौणता देते हैं। इसीलिए शारीरिक स्वास्थ्य की चिन्ता भी मिट नहीं पाती। हम उलटे क्रम से चलें। सबसे पहले चिन्ता करें आध्यात्मिक स्वास्थ्य की, फिर हमारी चिन्ता हो मानसिक स्वास्थ्य की, फिर हमारी चिन्ता हो शारीरिक स्वास्थ्य की। इस क्रम से चिन्ता स्वयं अचिन्ता बन जाएगी, समस्या सामने नहीं रहेगी।

साधना का पहला सूत्र है—आध्यात्मिक स्वास्थ्य। आध्यात्मिक स्वास्थ्य में और साधना में कोई भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती। जो साधना है, वह आध्यात्मिक स्वास्थ्य है और जो आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, वह हमारी साधना है। दोनों एक हैं, शब्द भिन्न, तात्पर्य सर्वथा अभिन्न। ध्यान करने वाले आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दिशा में प्रस्तुत होते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। कोई भी कार्य बाधाओं से मुक्त नहीं होता। सब कामों में बाधाएं आती हैं, विघ्न आते हैं। प्रत्येक प्रवृत्ति के साधक-बाधक तत्त्वों को जानना जरूरी होता है—प्रवृत्ति के ये बाधक तत्त्व हैं और ये साधक तत्त्व हैं। कोई भी प्रवृत्ति करने वाला यदि बाधक और साधक तत्त्वों का विश्लेषण नहीं कर लेता, उसकी प्रवृत्ति कभी सम्पन्न नहीं होती, निष्ठा तक नहीं पहुंच पाती, पहले ही समाप्त हो जाती है। सफलता के बिन्दु तक वही प्रवृत्ति पहुंच पाती है जिसके साथ साधक और बाधक तत्त्वों का पूरा विवरण होता है, विश्लेषण होता है। आध्यात्मिक स्वास्थ्य के साधक तत्त्व भी हैं और बाधक तत्त्व भी हैं।

जैसे ही व्यक्ति अध्यात्म की साधना शुरू करता है, विघ्न आने शुरू होते

हैं। बाधाएं सामने आ खड़ी होती हैं। उन सब बाधाओं में सबसे पहली और सबसे बड़ी बाधा है—काममूर्च्छा। भगवान् महावीर ने बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा—संज्ञाएं चार हैं—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा ये चार संज्ञाएं सब प्राणियों में होती हैं। ये संज्ञाएं अविकसित स्थावर प्राणियों में भी होती हैं तो परम विकसित प्राणी मनुष्य में भी होती हैं। सबमें चारों संज्ञाएं होती हैं। फिर प्रश्न हुआ किस प्राणी में कौन-सी संज्ञा कम और अधिक होती हैं। इस प्रश्न के उत्तर से बहुत सारी मनोवैज्ञानिक गुत्थियां सुलझी हैं। पशु में आहार की संज्ञा सबसे ज्यादा होती है और मनुष्य में काम की संज्ञा सबसे अधिक होती है। उसमें काम का तनाव निरन्तर बना रहता है। आज के मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि क्रोध का तनाव सामयिक होता है, काम का तनाव निरन्तर बना रहता है। फ्रायड ने इसी आधार पर कहा था कि हमारी सारी वृत्तियों के मूल में सेक्स है और काम का अनेक दिशाओं में प्रकटीकरण होता है। उसका सब्लीमेशन होता है, उदात्तीकरण होता है, अनेक दिशाओं में प्रस्फुटन होता है। उन्होंने संगीत, बौद्धिक विकास—सभी अभिव्यक्तियों को काम की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया। इसमें कुछ चर्चनीय भी हो सकता है, विवादास्पद भी हो सकता है। किन्तु यह सचाई है कि काम का तनाव मनुष्य में सबसे अधिक होता है, काम की संज्ञा सबसे प्रबल होती है। यह सबसे बड़ी बाधा है। काम की संज्ञा को कम किए बिना कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक स्वास्थ्य को उपलब्ध नहीं हो सकता। काम की संज्ञा को कम करना सबसे कठिन कार्य है। दोनों में कैसे समझौता हो और इस समस्या को कैसे सुलझाया जाए? पूज्य कालूगणीजी कहा करते थे कि बूर का लड्डू खाने वाला भी पछताता है और नहीं खाने वाला भी पछताता है। खाता है, अनुभव करता है कि खाया, फिर भी मजा नहीं आया। कोई स्वाद नहीं, कुछ भी नहीं है। और जो नहीं खाता वह सोचता है कि वह आदमी तो खा रहा है, कितने स्वाद का अनुभव कर रहा होगा, आनन्द का अनुभव कर रहा होगा। और मैं बिलकुल वंचित रह रहा हूं। वह तरसता है। दोनों ओर से कठिनाई है। काम की भी समस्या है और ब्रह्मचर्य की भी अपनी समस्याएं हैं। दोनों ओर समस्याएं हैं। काम की भी कम समस्याएं नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की समस्या को वे लोग जानते हैं जो इस दिशा में जाते हैं। बहुत बड़ी समस्याएं होती हैं। आज के समाचारपत्रों को पढ़ने वाला हर व्यक्ति जानता है

कि कौन-सा समाचारपत्र ऐसा होगा जिसमें आत्महत्या की चर्चा न हो। आत्महत्याओं में प्रेम के कारण आत्महत्या करने वालों की चर्चा कम नहीं होती। बहुत बड़ी समस्या है। विवाह कर लेने वाले भी समस्याओं का अनुभव करते हैं। जहां दो व्यक्तियों का सम्बन्ध होता है, कोई गारण्टी नहीं कि परस्पर प्रेम सदा बना रहे। अगर ऐसा होता तो तनाव चलता ही नहीं, तनाव की नौबत ही नहीं आती, किन्तु तनाव होते हैं। यह इस बात की सूचना है कि विवाह या अब्रह्मचर्य या काम भी एक समस्या है। कितने झगड़े होते हैं परस्पर, कितने कलह होते हैं, कितनी हत्याएं होती हैं? काम के साथ बहुत सारी समस्याएं जुड़ी हुई हैं। कहना यह चाहिए कि काम के कारण बहुत सारी समस्याओं का जन्म हुआ है। हिंसा की समस्या, चोरी की समस्या, असत्य की समस्या और उनकी उपजीवी समस्याएं, ये सारी समस्याएं काम के परिवार के रूप में उत्पन्न हैं। तो क्या अब्रह्मचर्य की कोई समस्या नहीं है? अगर कोई समस्या नहीं होती तो फिर यह बाधा ही नहीं होती। यह भी बहुत बड़ी समस्या है और इसलिए समस्या है कि ब्रह्मचर्य की मांग शरीर की मांग भी है और मन की मांग भी है। दोनों की मांग है। इसे केवल मानसिक नहीं कह सकते, काल्पनिक नहीं कह सकते। शरीर और मन दोनों की मांग है और इसके पीछे शृंखला है संस्कार की। इसके साथ संस्कार जुड़ा हुआ है। ब्रह्मचर्य की अपनी समस्या है। कोई ब्रह्मचारी बने और शरीर व मन की मांग को पूरा न करे तो पागल भी हो सकता है, पागल हो जाता है। कुछ ऐसे लोग हैं जिन्होंने शादी नहीं की, गृहस्थी में बने हुए हैं। लगता ऐसा है कि जैसे आधे विक्षिप्त हों। आधे पागल बन गए। बड़ी समस्या है यह। तो फिर क्या करें? कौन-सा रास्ता चुने? अब्रह्मचर्य की अपनी समस्या, ब्रह्मचर्य की अपनी समस्या और हम लोग चाहते हैं कि समस्या-मुक्त मार्ग में जाएं। कौन-सा मार्ग चुनें? न अब्रह्मचर्य को चुनें, न ब्रह्मचर्य को चुनें तो किसको चुनें? अधर में रहें। आकाश भी नहीं, पाताल भी नहीं, त्रिशंकु की भांति बीच में ही लटकते रहें? कहां जाएं? बहुत बड़ी उलझन है। निश्चित मानकर चलें कि हमारे जीवन में कोई घटना, कोई भी बात ऐसी नहीं होती जिसके साथ समस्या जुड़ी हुई न हो। किन्तु आदमी समस्या का सामना करता है लक्ष्य के आधार पर। जो लक्ष्य चुनता है उसके आधार पर समस्याओं को सुलझाने की बात उसके सामने आती है। मूल प्रश्न प्रवृत्ति का नहीं है, समस्या का नहीं है। मूल प्रश्न है लक्ष्य का। जिन लोगों ने

लक्ष्य को चुना कि गृहस्थी में रहना है तो वे गृहस्थी में जाते हैं और सैकड़ों समस्याओं को झेलते हैं। बहुत समस्याएं होती हैं। गृहस्थाश्रम इतना कठोर होता है कि भुगतने वाला जानता है। बहुत लोग कहते हैं—'महाराज ! आप बहुत सुखी हैं। आपको कोई चिन्ता नहीं। हमारे दुःखों को देखें, तब पता चलेगा कि गृहस्थी में कितना दुःख है।' तब सोचता हूं ये हमें सुखी मानते हैं और गृहस्थावास को दुःखी मानते हैं। शायद दूसरे खेमे के लोग कभी-कभी सोचते होंगे कि कितना सुखप्रद है घर में रहना। जो मन में आया, बना लिया, खा लिया। जो जैसा अच्छा लगा वह कर लिया। कोई चिन्ता नहीं, किसी का अनुशासन नहीं। कब उठना, इच्छा की बात। इच्छा हो तो आठ बजे उठो, इच्छा हो तो बारह बजे उठो। कोई कहने वाला नहीं, कोई रोकने वाला नहीं। यहां कितना अनुशासन, चार बजे उठना। ध्यान करो, स्वाध्याय करो। यह करो, वह करो। सारा जीवन, लगता है कि नियन्त्रित और अनुशासित है। कितना अच्छा होता कि घर में रहते ! बहुत स्वाभाविक है ऐसे विचार आना। इधर वे सोचते हैं कि ये सुखी हैं, इधर ये सोचते होंगे कि वे सुखी हैं। सचमुच यह संभावना हो सकती है। किन्तु लक्ष्य के साथ जब व्यक्ति जुड़ जाता है तब यह विकल्प समाप्त हो जाता है। जिन लोगों ने लक्ष्य निश्चित किया कि मुझे सूक्ष्म सत्य का अनुभव करना है, अपने अस्तित्व का अनुभव करना है, अपने चैतन्य के स्तर पर जीवन जीना है, उनकी समस्याएं सुलझ गईं। फिर कोई भी समस्या उनके लिए समस्या नहीं रहती।

एक संन्यासी को किसी संदेहवश दंड मिला। राजा ने दंड दिया कि कोड़े लगाए जाएं। पतला-दुबला था बूढ़ा संन्यासी। अब कोड़े लगने लगे। इधर कोड़े लग रहे हैं तेज, और उधर वह मुसकरा रहा है, हंस रहा है। कोड़ों की सजा समाप्त हो गई। एक आदमी देख रहा था, पूछा—'महाराज ! आपके इस क्षीण जर्जर शरीर पर कोड़े बरस रहे थे और आप मुसकरा रहे थे। यह क्या है ? आपके शरीर में कहां ताकत है, कहां शक्ति है कि उनको सह सके ? फिर भी आप हंस रहे थे।' संन्यासी बोला—विपदा को शरीर-बल से नहीं सहा जा सकता। उसे सहा जाता है—आत्मबल से। शरीर कोई नहीं सह सकता। भारी-भरकम पुष्टकाय शरीर का आदमी भी थोड़ा-सा कष्ट होता है तो सबसे पहले जुआ डाल देता है, झुक जाता है। कोई भी आदमी शरीर के बल पर कष्ट को नहीं सह सकता, विपत्ति को नहीं सह

सकता। विपत्ति को सहा जाता है आत्मबल से। फिर प्रश्न पूछा—महाराज! रहस्य बतलाएं कि कैसे उत्पन्न होता है आत्मबल? उसका रहस्य क्या है? जानना चाहता हूं। संन्यासी बोला, 'अच्छे विचार से पैदा होता है आत्मबल।' निरन्तर शुभ विचार किया जाए, पोजीटिव विचार किया जाए, विधायक विचार किया जाए, धनात्मक विचार किया जाए, अमंगल विचार कभी न किया जाए तो वह आत्मबल उत्पन्न होता है। तब व्यक्ति हर कठिनाई को झेल सकता है, उसका सामना कर सकता है। एक बहुत बड़ा सूत्र मिलता है मंगल विचार का। मन में कोई अमंगल भावना न आए, किसी के प्रति न आए। निरन्तर मंगल भावना, अपने प्रति, दूसरों के प्रति भी और सब दिशाओं के प्रति भी। बहुत शक्ति जाग जाती है। यह स्थिति पैदा होती है कुछ आलम्बनों के द्वारा। लक्ष्य के साथ फिर आलम्बन जुड़ते हैं। भगवान् महावीर के सामने भी यह प्रश्न था कि कोई मुनि बना, ब्रह्मचारी बना और काम की मूर्च्छा सताने लगी। क्या करना चाहिए? भगवान् महावीर ने उसके लिए कुछ सूत्र बतलाए। साधक में जब काम की मूर्च्छा जगे तो उसे कुछ आलम्बनों का उपयोग करना चाहिए। वे आलम्बन छह हैं[1]—

१. रस का परित्याग—गरिष्ठ भोजन का परिहार,
दुर्बल भोजन का आसेवन।
२. ऊनोदरी —भूख से कम खाना।
३. अनशन —भोजन का सर्वथा परिहार।
—ये तीन आलम्बन भोजन से संबंधित हैं।
४. उर्ध्वस्थान —खड़े-खड़े ध्यान करने का अभ्यास करना।
५. ग्रामानुग्राम विहरण—एक गांव से दूसरे गांव में विचरण करना।
६. काम-वासना में जाते हुए मन का विषय बदल डालना, संकल्प को हटा लेना।

यहां छह आलम्बनों का प्रतिपादन किया गया है। आलम्बन इतने ही

१. आयारो ५/७६-८५ : अवि णिब्बलासए। अवि ओमोयरियं कुज्जा।
अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा।
अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा। अवि आहारं वोच्छिंदेज्जा।
अवि चए इत्थीसु मणं।

नहीं हैं, और अधिक हो सकते हैं। छह नहीं, छह सौ हो सकते हैं। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यदि छह करोड़ आदमी हैं तो आलंबन भी छह करोड़ हो सकते हैं। यह प्राणी जगत् का प्रश्न है। प्राणी यंत्र तो है नहीं कि एक ही तरह से सब बन जाएं। यह प्रश्न है चैतन्य जगत् का, प्राणी जगत् का। प्राणी जगत् के लिए कोई सार्वभौम नियम नहीं बनाया जा सकता। प्राणी जगत् के लिए कोई जागतिक कानून नहीं बनता। प्राणी की अपनी स्वतन्त्रता होती है, अपनी क्षमता होती है और क्षसता के आधार पर सारे नियम बनते हैं। साधना का चुनाव एक ही प्रकार से नहीं होता। विभिन्न क्षमताओं के आधार पर साधना के मार्ग भी अलग-अलग होते हैं। साधना कराने वाले व्यक्ति को पहले देखना होता हैं कि साधना में प्रवेश पाने वाले व्यक्ति की लेश्या कौन-सी है ?

लेश्याएं छह हैं। प्रत्येक व्यक्ति में छह लेश्याएं होती हैं, किन्तु कुछ लेश्याएं प्रधान होती हैं। जो व्यक्ति कृष्णलेश्या प्रधान होता है, उसमें आर्त्त-भाव अधिक होता है। उससे कहा जाए—तुम बैठो, मन को एक अग्र पर टिकाओ। खूब गहरे में जाओ, अन्तर्ध्यान करो। वह भटक जाएगा, कर ही नहीं पाएगा। उसे यह मार्ग नहीं बतलाया जाना चाहिए। नील लेश्या वाला व्यक्ति बहुत प्रमत्त होता है। उसे कहा जाए—तुम निर्विचार बैठो, शान्त होकर बैठा। वह सीधा नींद में चला जाएगा। नींद में जाने वाले प्रमादी लोग होते हैं। नील लेश्या की प्रधानता आती है तो आदमी नींद में चले जाते हैं। प्रमादी की तुलना अजगर से होती है। अजगर बहुत प्रमादी होता है। पड़ा रहता है, पड़ा रहता है। आसपास में कुछ मिल जाए तो खा लेता है और पड़ा रहता है। बिलकुल चंचल नहीं होता, बहुत गतिशील नहीं होता, बहुत घूमता नहीं, पड़ा रहता है। प्रमत्त आदमी अजगर होते हैं। उनको कहो, कायोत्सर्ग करो, कितना अच्छा रास्ता है, दो मिनट में ही नींद में चले जाएंगे। बस, अच्छा कायोत्सर्ग बन जाएगा। नील लेश्या के लोग बहुत जल्दी नींद में चले जाते हैं। रंग-चिकित्सा का सिद्धान्त है कि जिस व्यक्ति को नींद न आए, उसे नीले रंग का पानी पिलाया जाए, नींद बहुत जल्दी आएगी। सूर्य-चिकित्सा में, सूर्य-रश्मि-चिकित्सा में नीले रंग के पानी को उपयोग में लाया जाता है नींद दिलाने के लिए। नील लेश्या वाले लोगो के लिए ध्यान सबसे अच्छा साधन होता है नींद का। फिर पूछा जाए कि ध्यान कैसा हुआ तो कहेंगे—आज तो ध्यान बहुत अच्छा हुआ।

एक कहानी है। कुछ लोग रामायण सुनने को आए। एक भाई बहुत नींद लेता था। दूसरे लोगों ने देखा, रोज आकर बैठता है, कुछ सुनता ही नहीं। बस, दो मिनट में नींद शुरू करता है और जब प्रवचन पूरा होता है, अंगड़ाई लेते हुए उठता है और चला जाता है। कथावाचक ने सोचा—यह क्या ? बड़ा तमाशा है। एक दिन प्रवचनकार उठा और उसके मुंह में मिसरी की एक डली डाल दी। उठाया, जागा तो मुंह बड़ा मीठा था। पूछा—प्रवचन सुना ? कहा—सुना। पूछा—कैसा लगा। बोला, आज तो बहुत मीठा लगा। आज तो इतना मीठा लगा कि अभी तक मुंह मीठा हो रहा है। कुछ दिनों बाद वह एक दिन फिर नींद ले रहा था। अब उसके मुंह में ऐसी वस्तु डाल दी, जो बहुत कड़वी थी, दुर्गन्ध भी थी। जगाया। उठा। पूछा—प्रवचन पूरा हो गया, कैसा लगा ? उसने कहा—आज बहुत कड़वा लगा, पूछो मत, आज तो बहुत कड़वा प्रवचन हुआ कि अभी तक मुंह कड़वा हो रहा है।

ऐसे लोग चाहे प्रवचन हो, चाहे ध्यान हो, चाहे और कुछ हो, चाहे अध्ययन करने बैठें, तत्काल नींद में चले जाएंगे। ऐसे लोगों के लिए, निर्विचार ध्यान या मन को एकाग्र करना या मन को निर्विकल्प करना, ये बातें काम की नहीं हैं। जो कापोत लेश्या के लोग हैं, उनका मन बहुत चंचल होता है, भटकता रहता है, सक्रिय होता है। वे प्रमादी नहीं होते। उनकी तुलना करनी चाहिए बंदर से। बंदर की तरह उनका मन दौड़ता रहता है। उनको भी कहा जाए कि बिलकुल स्थिर, एकाग्र होकर ध्यान करो तो ठीक वैसा ही होगा जैसे बंदर को कहा जाए, तुम स्थिर होकर बैठे रहो। कैसे सम्भव होगा ? यह कहा गया कि बंदर कभी स्थिर होकर बैठे तो मानना चाहिए कि 'तत् कपेरपि चापलम्'—उसका स्थिर रहना भी चंचलता का एक लक्षण है।

इन तीनों प्रकार के लोगों को एकाग्रता, निर्विकल्पता, निर्विचारता की साधना नहीं कराई जा सकती। यदि कराते चले जाएं, दस वर्ष तक भी कराते जाएंगे तो भी नींद हमेशा साथ रहेगी, चंचलता साथ रहेगी, पीछा नहीं छोड़ेगी। साधना का मार्ग उनके लिए दूसरा चुनना होगा। दूसरा विकल्प उनके सामने प्रस्तुत करना होगा, जिससे कि वे उस रास्ते पर चलें और चलते-चलते स्वभाव को बदल दें, दूसरे स्वभाव में चले जाएं। तेजोलेश्या की अधिकता वाले व्यक्ति में अचपलता शुरू होती है, वह अचपल होता है।

यहां से अचपलता शुरू होती है। पद्मलेश्या वाला व्यक्ति प्रशान्त होता है। शुक्ल-लेश्या वाला व्यक्ति उपशान्त होता है। ये तीन लेश्याएं हैं, जिनके लिए निर्विकल्पता, निर्विचारता, एकाग्रता की बात संभव हो सकती है। हम एक ही मार्ग का आलंबन लें, एक ही बात का चुनाव करें, यह कोई मनोवैज्ञानिक बात नहीं होती। मैं सोचता हूं कि ध्यान करने वाले व्यक्तियों को भी अपना निर्णय लेना चाहिए। किस प्रकार की प्रवृत्ति है? प्रमादी प्रवृत्ति है या चंचलता की प्रवृत्ति है या कुछ शांति की प्रवृत्ति है? उनके लिए अलग-अलग आलंबनों का सहारा लेना उचित होगा। जो लोग बहुत प्रमादी होते हैं उनके लिए बोल-बोलकर जप करना अच्छा रास्ता होगा। बोल-बोलकर जप करें, मौखिक। मानसिक नहीं, वाचिक। वाचिक जप करें। करते-करते ऐसी स्थिति आ सकती है कि वे आगे बढ़ जाएं। यह सबसे अच्छा मार्ग होगा। भजनकीर्तन आदि की प्रवृत्ति उन लोगों के लिए चली है जिन लोगों में इस प्रकार की तामसिक भावना थी। वे जानते ही नहीं थे कि मन चंचल है, इसे कैसे ठीक किया जाये? जिनका मन बहुत चंचल है, उन्हें श्वास की क्रिया का आलंबन लेना चाहिए। और मानसिक जप के साथ श्वास की प्रक्रिया चले। एक नथुने से श्वास लें, दूसरे से छोड़ें। मानसिक जप चलता रहे। यह एक आलंबन हो सकता है मन की चंचलता को कम करने का। यह अचंचलता नहीं है, निष्क्रियता नहीं है। यह सक्रिय ध्यान है। चंचलता है, पर चंचलता को एक दिशा दे दी, एक रास्ता दे दिया, एक आलंबन दे दिया कि इस आलंबन पर चंचल बनो, इससे हटकर चंचल मत बनो।

तीसरा मार्ग होता है—अचंचलता का, एकाग्रता का। तेजो-लेश्या वाले व्यक्ति के लिए एकाग्रता का आलंबन किया जाये। नासाग्र पर ध्यान करो तथा दस मिनट तक लगातार एक अग्र को देखते जाओ। ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करो। दस मिनट तक लगातार ज्योति-केन्द्र पर एकाग्र बने रहो। यह आलंबन लिया जा सकता है। हमारी साधना के अनेक आलंबन होते हैं। ब्रह्मचर्य के भी अनेक आलंबन हैं। छह आलम्बन बताये गए और ये आलंबन भी प्रारंभिक हैं। आगमों के व्याख्याकार कहते हैं कि अबहुश्रुत के लिए ये आलंबन हैं। बहुश्रुत के लिए ये आलंबन नहीं हैं। वह भिन्न आलंबनों का चुनाव करेगा। उसके लिए आलंबन होगा—स्वास्थ्य। उसके लिए आलंबन होगा—ध्यान। किन्तु सामान्य साधक के लिए ये छह आलंबन बनते हैं। ये प्रारंभिक आलम्बन हैं। सबसे पहला आलम्बन है भोजन का।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आहार का और ब्रह्मचर्य का बहुत गहरा संबंध है। जिस व्यक्ति ने गहराई के साथ इस विषय पर विचार नहीं किया, आहार को यथार्थ मूल्य नहीं दिया, साधना में आहार का कितना मूल्य होता है, उसे नहीं जाना, वह कैसे ब्रह्मचारी हो सकता है ? मैं तो नहीं समझ पाता। स्वास्थ्य की दृष्टि से आहार का बहुत बड़ा मूल्य है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उसका इतना मूल्य है तो मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए उसका कितना मूल्य होगा, यह सब नहीं जानते। कुछ लोग पागल बन जाते हैं। पहले तो यही माना जाता था कि स्नायु-संस्थान दुर्बल हो गया या और कोई आघात लगा कि पागल बन गया। किन्तु आज आहार-शास्त्रीय खोजों ने अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन किया है। आहार-शास्त्रियों का कहना है कि अपोषण और कुपोषण के कारण भी मनुष्य पागल बनता है। पूरा पोषण नहीं मिलता तो पागल बन जाता है। कुपोषण मिलता है तो पागल बन जाता है। आहार का संबंध तो हमारे समूचे जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। प्रारंभ से अन्त तक उसका परिणाम हमें परिलक्षित होता है। भगवान् महावीर ने साधना के प्रथम चरण में भी आहार को बहुत महत्त्व दिया। तपस्या के बाहर प्रकार हैं। तपस्या शुरू कहां से होती है ? आहार के संबंध से शुरू होती है। बारह प्रकार में से चार प्रकार आहार से सम्बन्धित हैं—अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप और रस-परित्याग। चारों का संबंध है भोजन से। ब्रह्मचर्य में भी सबसे पहले 'अवि णिब्बलासए'—'दुर्बल आहार करो, निर्बल आहार करो।' यहां से साधना शुरू होती है। यह बहुत बड़ा विषय है। यह संभव नहीं कि आज इस पर पूरी चर्चा हो सके। आज इतना ही।

सहिष्णुता के प्रयोग

रत्न की परीक्षा करने वाला केवल पुस्तकें नहीं पढ़ता, रत्नों को देखता है। पुस्तक पढ़ने वाला कभी कुशल जौहरी नहीं बन सकता। पुस्तक न पढ़ने वाला, केवल रत्नों को देखने वाला, निरीक्षण करने वाला, जांचने वाला कुशल जौहरी बन सकता है। जो बात अभ्यास से आती है, वह सिद्धांत से नहीं आती। सिद्धांत एक सुविधा है। जान लेने पर अभ्यास में सुविधा होती है। इसलिए सिद्धांत का भी मूल्य होता है। किन्तु वास्तविक मूल्य है अभ्यास का, प्रयोग का। जब हम अभ्यास करते हैं तब अनजानी बातें स्वयं जान ली जाती हैं। जो बातें पुस्तकों में नहीं होतीं, वे बातें भी जान ली जाती हैं। पुस्तकों का निर्माण उन लोगों ने किया है, जो पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु अभ्यासी थे। अभ्यास में जो फलित हुआ, वह पुस्तकों में आ गया। कर्मजा-बुद्धि का जितना मूल्य है, उतना दूसरी बुद्धि का मूल्य नहीं भी हो सकता है। कर्मजाबुद्धि का बहुत बड़ा मूल्य है। कर्म करते-करते जो बुद्धि पैदा होती है, वह बहुत काम की होती है। साधना के क्षेत्र में ऐसा ही है। यदि हम केवल सिद्धान्त को जानें तो बात पूरी बनती नहीं। बहुत लोग आते हैं, जल्दी में आते है और कहते हैं कि मन बहुत चपल है, कैसे ठीक हो, बता दें। मैं कहता हूं यह कोई बुद्धि का व्यायाम नहीं है। बता भी दूंगा तो इससे कोई लाभ नहीं होगा। यदि समस्या का समाधान करना है तो अभ्यास करो, सामने अभ्यास करो। फिर पूछने की जरूरत भी नहीं होगी। किन्तु हमारी आदतें ही ऐसी हैं कि हम अभ्यास करना नहीं चाहते। दो टूक जवाब चाहते हैं, उत्तर चाहते हैं प्रश्न का। प्रश्न और उत्तर में तो तर्क की बात आ जाएगी प्रश्न एक तर्क है और फिर उसका उत्तर होगा प्रतितर्क। तर्क के प्रति तर्क। लाभ कुछ भी नहीं होगा। अभ्यास का हम मूल्यांकन करें। साधना स्वयं एक अभ्यास है। साधना का सिद्धान्त भी है और साधना का अभ्यास भी है, प्रयोग भी है। हम प्रयोग करें। कहां से शुरू करें साधना का प्रयोग? किस बिन्दु से शुरू करें? वही प्रश्न आएगा। भोजन से शुरू करें। सहिष्णुता की साधना करनी है, शक्ति के विकास की साधना करनी है। सहिष्णुता कैसे

बढ़े ? प्रयोग करना होगा, और इसके लिए भी भोजन का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचारांग का एक सूत्र है—साधक को दो अन्तों से परिचित होना चाहिए। एक राग और दूसरा द्वेष। एक प्रियता और दूसरी अप्रियता। ये दो छोर हैं। हमारी सारी प्रवृत्तियों के दो छोर हैं। कोई भी प्रवृत्ति होती है, वह राग से शुरू होती है या द्वेष से शुरू होती है। वह राग में समाप्त होती है, या द्वेष में समाप्त होती है। ये दोनों छोर हैं। आदि-बिन्दु में राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता। समाप्ति में भी दोनों बिन्दु हैं—प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष। साधक वह होता है, जो प्रियता और अप्रियता—इन दोनों छोरों के बीच में नहीं रहता। इनसे परे हो जाता है। जिसकी प्रवृत्ति के आदि-बिन्दु में भी राग नहीं, द्वेष नहीं, जिसकी परिसमाप्ति में भी राग नहीं, द्वेष नहीं, प्रियता और अप्रियता नहीं, वह साधक होता है। यथार्थ को हम अस्वीकार नहीं कर सकते, भोजन को अस्वीकार नहीं कर सकते। वह यथार्थ है। आहार करना एक यथार्थ की समस्या का समाधान है। किन्तु प्रियता और अप्रियता—ये दोनों आरोपित हैं। हम आरोपित करते हैं। हमने ऐसा मान लिया कि जिह्वा को स्वाद मिलना चाहिए। जो जिह्वा के ज्ञान-तन्तु हैं उन्हें स्वाद मिले तो हमें अच्छा लगता है, न मिले तो हमें बुरा लगता है। हमने उसके साथ प्रियता और अप्रियता का भाव जोड़ रखा है। चीनी, नमक और चिकनाई—ये तीनों भोजन के अनिवार्य अंग बने हुए हैं—इनके कारण अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, यह सब नहीं जानते। हृदय की बीमारी के लिए तीनों निषिद्ध माने जाते हैं। बहुत चीनी का प्रयोग भी न हो, बहुत चिकनाई का प्रयोग भी न हो। और नमक का प्रयोग सर्वथा न हो तो बहुत अच्छा है। हृदय की बीमारी वाले चीनी, चिकनाई को तो शायद नहीं छोड़ते होंगे, किन्तु नमक तो सर्वथा निषिद्ध होता है। नमक का तो हमारे शरीर के लिए कोई उपयोग ही नहीं है। पता नहीं, यह कैसे चला ? यह नमक जो खनिज है, कृत्रिम है, इसका कोई उपयोग नहीं है। नमक शरीर के लिए उपयोगी होता है किन्तु वह नमक, जो शाक, भाजी व फलों में मिलता है। वह प्राकृतिक लवण है। वह शरीर में घुल जाता है। यह कृत्रिम नमक उपयोगी नहीं होता। यह शरीर में विकार पैदा करता है। उच्च रक्तचाप नमक से होता है। और भी अनेक बीमारियां नमक के कारण होती हैं। पर एक बात बहुत प्रसिद्ध है कि वह क्या भोजन जिसमें नमक भी न हो। इतना मूल्य मिल गया कि भोजन का मतलब ही नमक है। यदि नमक नहीं तो

भोजन ही क्या हुआ ? सामान्य बोलचाल की भाषा में भी कहा जाता है कि यह तो वैसा ही फीका रहा जैसा कि बिना नमक का भोजन। अनिवार्य तत्त्व मान लिया गया कि अगर भोजन है तो नमक होना ही चाहिए। उतने से ही काम नहीं चलता, ऊपर से भी न जाने कितना लिया जाता है। रसोई बनाने वाली तो नमक डालती ही है, खाने वाला ऊपर से और नमक डालता है। यदि नमक का प्रयोग बन्द हो जाये तो दस-बीस प्रतिशत बीमारियां भी कम हो जायें। नमक के कारण लोग ज्यादा खाते हैं। गर्मी के दिन हैं। फिर भी बाजार में से निकलो, चटपटी चीजें खरीदने वालों की भीड़ लगी मिलेगी। लोग ये चीजें बड़े चाव से खाते हैं। उनका तर्क है कि चटपटी चीजें खाने के बाद जब पानी पीते हैं तो वह बड़ा स्वादिष्ट लगता है, तृप्ति देता है। ये गर्म चटपटी चीजें खाए बिना पानी भी स्वादिष्ट नहीं लगता। तो कृत्रिम स्वाद पैदा कर हमने नमक को भोजन का प्रधान तत्त्व मान लिया। जीभ को स्वाद मिले, डॉक्टरों को संरक्षण मिले, उनका धंधा चले और बीमारियां अच्छी तरह से पलें। प्रयोग शुरू करें, साधना का प्रयोग शुरू करें। इसे मैं केवल साधना का प्रयोग ही नहीं मानता, स्वास्थ्य का प्रयोग भी मानता हूं। यदि पूरे सप्ताह में सात दिन नमक न छोड़ सकें तो एक, दो, तीन दिन ही छोड़कर देखें और बिना नमक का भोजन करें। यह प्रियता और अप्रियता से बचने का प्रयोग होगा, संकल्प शक्ति का प्रयोग होगा तथा साथ-साथ स्वास्थ्य का भी प्रयोग होगा। हृदय रोग की संभावना कम होगी, अन्तर्व्रण (कैंसर) की संभावना कम होगी। ध्यान करने वालों को उत्तेजना के वातावरण से बचना चाहिए। नमक कृत्रिम ढंग से उत्तेजना पैदा करता है, रक्त को अद्रव बनाता है। जब वह उत्तेजना नहीं होगी, मानसिक शांति में भी सहयोग मिलेगा। सूत्रकृतांग में एक चर्चा है। कुछ दार्शनिक या कुछ धार्मिक साधक लोग मानते थे कि नमक खाने वाले को मोक्ष नहीं मिलता। अलवण भोजन होना चाहिए। जो नमकीन भोजन करता है उसे मोक्ष नहीं मिलता। यह तो कहने का ढंग है। एक बात को बहुत महत्त्व दे दिया, किन्तु हमें तो उससे सार लेना चाहिए। इतना ही अर्थ इसका हो सकता है कि नमक का प्रयोग साधना के लिए वर्जित होता है और स्वास्थ्य के लिए यह विघ्न है। आयंबिल करने वाले जानते हैं, इसलिए नमक नहीं खाते। आयंबिल में कोरा एक धान्य और पानी चलता है। कितना प्रभाव होता है ! आयंबिल का प्रयोग अनेक बीमारियों को मिटाने वाला प्रयोग है। यह एक

तपस्या का प्रयोग है किन्तु भयंकर बीमारियां आयंबिल से नष्ट होती हैं। पक्षाघात की बीमारी बहुत भयंकर बीमारी होती है, किन्तु आयंबिल के द्वारा ठीक हो जाती। अजीर्ण और अपच की बीमारी इससे ठीक होती है। एक साथ ज्यादा वस्तुएं खाने से बहुत बीमारियां होती हैं और एक अनाज खाने से पाचन-शक्ति को बहुत राहत मिलती है। किसी के सिर पर एक साथ बहुत काम लाद दिया जाये तो वह घबरा जायेगा कि इतने काम करने हैं। और एक-एक काम कराया जाये, बहुत सुविधा से कर लेगा। इस बात को समझ लें कि जहां भीड़ होती है उसे संभालना कठिन होता है। एक को संभालने में कोई कठिनाई नहीं होती। तो, एक वस्तु पेट में जाती है तो पचाने में बहुत सुविधा होती है और अनेक वस्तुएं एक साथ पेट में जाती हैं तो उन्हें पचाने में अधिक शक्ति लगानी पड़ती है।

लाडनूं की घटना है। एक भाई आया जो यह बताता था कि कहां कुआं खोदना चाहिए? कहां पानी निकलेगा? मैंने पूछा—क्या प्रयोग किया था तुमने? उसने कहा—मेरे गुरु ने मुझे एक प्रयोग बताया कि छह महीने तक एक अनाज खाया जाए और केवल पानी पीया जाये तो भूगर्भ में छिपी वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है। मैंने वह प्रयोग किया और मुझमें यह ताकत पैदा हो गई। मैंने कहा—यह तो आयंबिल का प्रयोग है। एक अनाज और पानी चले तो यह शक्ति पैदा हो सकती है। आगमों में आयंबिल के बहुत प्रयोग मिलते हैं। बीमारियों में भी इसके बहुत प्रयोग होते हैं। आयंबिल में नमक का भोजन नहीं होता। यह अति नमक वाली बात बिलकुल गलत है। इसे छोड़ा जाये तो कोई हानि की बात नहीं, प्रत्युत लाभ ही होगा। प्राकृतिक चिकित्सा के लोग इस विषय पर बहुत बल देते हैं कि नमक खाया ही न जाये।

क्या नमक का उपयोग न करने की साधना अन्य साधनाओं में सहयोगी बनती है—यह एक प्रश्न है। यह प्रियता और अप्रियता से बचने का पहला प्रयोग है। जब आहार का प्रयोग सध जाता है, तब कपड़ों के प्रति, शरीर के प्रति, आसपास के व्यक्तियों के प्रति भी यह प्रयोग सधने लगता है। व्यक्ति में प्रियता और अप्रियता का भाव घटने लगता है। समता का अभ्यास सधता है। नमक की बात पहले इसलिए ली गई कि आहार सबसे अधिक सताता है मनुष्य को। आदमी का अधिक समय आहार की चर्चा में बीतता है। जैन साहित्य में यह प्रतिपादित है कि आदमी की चर्चा में चार मुख्य विषय होते

हैं—स्त्री-कथा, भक्त-कथा (भोजन की कथा), देश-कथा और राज-कथा। आदमी स्त्री सम्बन्धी चर्चा करता है, वासना सम्बन्धी चर्चा करता है। वह भोजन की चर्चा, देश की चर्चा और राज्य की चर्चा में रस लेता है। इन सब में भी भोजन की चर्चा मुख्य होती है। यदि हम नमक के परित्याग से आहार की चर्चा का नियमन कर लेते हैं तो शेष चर्चाओं का रस भी क्षीण होने लगता है। बांध में यदि एक छेद कर दिया जाये तो एक दिन बांध टूट सकता है, सारा पानी बहकर बाहर जा सकता है। राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता का दृढ़ बांध है। उसमें एक स्थान पर छेद कर देने से वह बांध टूट सकता है।

एक विशेष बात है। एक डॉक्टर ने कहा था कि यदि बच्चों को नमक न दिया जाये तो वह मर सकता है। अधिक नमक खाने से भी हानियां होती हैं—दोनों रोग हैं। नमक शरीर के लिए आवश्यक है। यदि शरीर में लवण न हो तो शरीर में विष अधिक जमा हो जाता है। किन्तु यहां यह विवेक होना चाहिए कि खनिज नमक आवश्यक नहीं है। साग-सब्जी और फलों में स्वाभाविक रूप से प्राप्त नमक उपयोगी है। यह नमक घुल जाता है। कृत्रिम नमक घुलता नहीं। नमक को बाहर निकालने के लिए गुर्दे को बहुत काम करना पड़ता है। वह खराब हो जाता है। कृत्रिम नमक किसी भी अवस्था में उपयोगी नहीं माना जा सकता। जैसे शरीर के लिए नमक आवश्यक होता है वैसे ही शक्ति के लिए चीनी आवश्यक होती है। किन्तु यह सफेद चीनी नहीं। चीनी तो सहज प्राप्त होती है। दूध में चीनी होती है। फिर चीनी में चीनी मिलाई जाती है, तो यह कहावत चरितार्थ होती है—टोपी पर टोपला। दूध में तो वैसी ही चीनी होती है, फिर दूसरी चीनी की जरूरत क्या है? उन लोगों को स्वाद का कभी पता नहीं चलता जो दूध में चीनी डालते हैं। कुछ लोग तो इतनी डालते हैं कि शायद दूध का स्वाद तो बेचारा कहां रहे, चीनी का स्वाद भी पूरा न रहे। अधिक चीनी से अम्लता बन जाती है। बहुत चीनी के सेवन से बड़ी हानियां होती हैं। अति मात्रा में चीनी के प्रयोग से बहुत बीमारियां पैदा होती हैं। अतः चीनी का प्रयोग छोड़ा जाये। नमक-वर्जन और चीनी-वर्जन। इसका परिणाम यह होगा कि अस्वाद का प्रयोग होगा। हम अस्वाद की दृष्टि से प्रयोग करें। अन्य बातों को गौण करें। अस्वाद की दृष्टि से प्रयोग करें कि दूध में चीनी नहीं, पानी है। प्रयोग करके देखें। रोटी में नमक नहीं डालना है, प्रयोग करके देखें। फिर

प्रियता और अप्रियता पर भी हमारा प्रहार हो जायेगा। अब यह स्थिति है कि नमकीन (नमक वाला) भोजन करते हैं तो प्रिय लगता है। और कभी भूल से रसोई बनाने वाली नमक नहीं डालती, वह भोजन थाली में परोसा जाता है, एक कौर लिया जाता है, तत्काल अप्रियता की बात आती है। थोड़ा शान्त व्यक्ति होता है तो सहन कर लेता है और ऊपर से ले लेता है। जो उत्तेजित प्रकृति का होता है तो थाली को ठोकर मार देता है। थाली कहीं जाती है और भोजन कहीं जाता है। दस-बीस गालियां ऊपर से और बक देता है। अप्रियता जागती है। अप्रियता इसलिए जागती है कि हमने प्रियता को पाल रखा है। प्रियता को पालने का मतलब है अप्रियता को पालना और अप्रियता को पालने का मतलब है प्रियता को पालना। प्रियता और अप्रियता को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, वास्तव में दोनों एक हैं। एक अवस्था में जो प्रियता होती है, दूसरी अवस्था में वही अप्रियता बन जाती है। हमारा प्रियता का संस्कार पुष्ट है तो अप्रियता का संस्कार भी पुष्ट होगा और राग का संस्कार पुष्ट है तो द्वेष का संस्कार भी पुष्ट होगा। द्वेष का संस्कार पुष्ट है तो राग का संस्कार भी पुष्ट होगा। राग और द्वेष दो नहीं हैं, वास्तव में एक ही बात है। अनुयोगद्वार सूत्र में बहुत सुन्दर ढंग से समझाया गया है कि मूल है राग, केवल राग। राग होता है इसलिए द्वेष होता है। द्वेष का अपना कोई मूल्य नहीं है, अपना कोई अस्तित्व नहीं है। द्वेष राग के कन्धे पर चढ़कर चलता है। हम प्रियता पर प्रहार करें। जो हमें प्रिय है, उस प्रिय का वर्जन करें, त्याग करें, एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग होगा। अस्वाद का प्रयोग होगा। यह स्थिति बन जाये कि नमक का वर्जन किया। भोजन में कोई फर्क नहीं पड़ा, खाने में कोई अन्तर नहीं आया। और यह अनुभव नहीं किया कि आज तो कुछ नीरस भोजन कर रहा हूं या कमजोर भोजन कर रहा हूं। यह अस्वाद का प्रयोग है, जिसमें चीनी न हो और जिसमें नमक न हो। कभी चीनी को छोड़ें, कभी नमक को छोड़ें। तीसरा प्रयोग यह भी हो सकता है—कभी अलग-अलग खाया जाए। जैसे रोटी खाने के लिए साग जरूरी होता है। साग न हो तो रोटी कैसे खायी जाये? फुलका है तो साग चाहिए, व्यंजन चाहिए। उसके बिना कैसे खायी जाये? जब अस्वाद का प्रयोग करना है तो रोटी अलग और साग अलग। क्योंकि साग जरूरी होता है, यह तो ठीक बात है। पर इसमें तो फर्क नहीं पड़ेगा कि अलग-अलग खाया जाये, पूर्ति तो हो जाएगी। अलग खाने का मतलब है अस्वाद

का प्रयोग और साथ ही अनजाने स्वास्थ्य का भी बहुत बड़ा प्रयोग हो जायेगा। रोटी के साथ साग खाते हैं तो पूरा चबाया नहीं जाता। स्वास्थ्य का मूल सिद्धान्त है कि भोजन को जितना चबाया जाये उतना ही अच्छा है। कहा जाता है, बत्तीस बार एक कौर को चबाया जाये। इतना निकम्मा कौन बैठा है जो बत्तीस बार चबाए। पांच मिनट में भोजन करना है, दस मिनट में भोजन करना है। बत्तीस बार एक कौर को चबाएं, बेचारा कब तक बैठा रहे? फिर क्या खाये? इतना कैसे खाये, खा ही नहीं सकता। एक बात तो जरूर है कि जो इतना चबाये तो उसे ज्यादा खाने की जरूरत भी नहीं पड़ती। पांच रोटियां जो काम नहीं करतीं, एक-डेढ़ रोटी उतना काम कर सकती है अगर उतना चबाया जाए। किन्तु आदमी तो मात्रा ज्यादा चाहता है, क्वांटिटी पूरी होनी चाहिए. उसके बिना संतोष नहीं होता। चबाने की बात बहुत गौण होती है। नहीं चबाने का परिणाम होता है कि दांत भी खराब होते हैं और आंत भी खराब होती है। दांत और आंत दोनों के साथ शत्रुता का पोषण करना हो तो चबाना छोड़ दो। अपने आप दोनों कष्ट में पड़ जाएंगे। इसलिए दांत कमजोर होते हैं। अभी एक बहन आयी थी सुजानगढ़ से, मालचंदजी डोसी की धर्मपत्नी। विचित्र महिला है, वृद्ध महिला है। आप विश्वास नहीं करेंगे, ७४ वर्ष की अवस्था है। आज तक उसने दातुन नहीं किया, मंजन नहीं किया, कभी नहीं किया। दवा नहीं लेती कभी, दवा का बिलकुल प्रत्याख्यान (त्याग)। किसी भी अवस्था में कोई दवा का प्रयोग नहीं किया। मैंने कहा—तुम्हारे दांत खराब कैसे हों? दांत तो उन लोगों के खराब होते हैं जो बहुत मात्रा में खाते हैं और बार-बार खाते हैं, चबाते ही रहते हैं, दिन भर चरते रहते हैं, उनके दांत खराब होते हैं, उनमें सड़ांध भी पैदा हो जाती है। जो लोग बहुत सीमित खाते हैं, उनके दांत कैसे खराब हों? पशु के दांत तो कभी खराब नहीं होते। खराब होने का कोई कारण ही नहीं। दांतों को खराब करना हो तो चीनी खूब खाएं। फिर कोई जरूरत नहीं है किसी की। चीनी जितनी ज्यादा जाती है, दांत उतने ही कमजोर होते हैं। दांतों की जड़ें उतनी ही कमजोर होती हैं। चीनी खा लेते हैं और वे चीनी के कुछ अंश दांतों में जमे रह जाते हैं। वे सबसे ज्यादा दांतों को हानि पहुंचाते हैं। मैं अस्वाद की चर्चा करते हुए स्वाद की चर्चा भी कर रहा हूं कि आप फुलका खाते हैं गेहूं का, गेहूं की रोटी खाते हैं। जिन लोगों ने बिना साग के कभी गेहूं की रोटी नहीं खायी उन्हें पता ही

नहीं कि गेहूं का स्वाद कैसा होता है। बिना साग के गेहूं की रोटी खाकर देखें; पता चलेगा कि गेहूं कितनी मीठी होती है। कितना मिठास है गेहूं में, इतनी मीठी होती है कि फिर चीनी डालने की कहीं बात नहीं आती। बहुत मीठी होती है। किन्तु जब साथ में खाते हैं तो पता ही नहीं चलता। बाजरी में बहुत मिठास है, बहुत चीनी है। गेहूं में बहुत चीनी है। पर नमक के साथ खाते हैं, साग के साथ खाते हैं तो बेचारे गेहूं का स्वाद कहीं दब जाता है, छिप जाता है, पता नहीं चलता। बस, केवल नमक का और मसालों का स्वाद ही जीभ पर होता है। स्वाद का भी बहुत बड़ा अन्तर होता है।

उपवास सहिष्णुता का बड़ा प्रयोग है। प्रतिदिन प्रातःकाल भोजन की मांग हो जाती है। जो उपवास करते हैं, उनमें सहज ही सहिष्णुता का विकास होता है और संकल्प-शक्ति का विकास होता है। भगवान् महावीर ने बहुत बड़ी लम्बी तपस्याएं की थीं और वे कोरी शरीर को सताने वाली तपस्याएं नहीं थीं। तो यह भ्रांति से लोगों ने मान लिया कि शरीर को बड़ा कष्ट दिया, सताया। उनके तो वे सारे प्रयोग थे। अब जब प्रयोग की बात भूल गए, तब लगा कि उन्होंने शरीर को बहुत सताया। आज भी लोग बहुत कहते हैं कि जैन लोग शरीर को बहुत सताते हैं। सताने की कोई बात नहीं। ये सारी प्रयोग की बातें हैं और शरीर को सताते के लिए तपस्या की जाए तो वैसी तपस्या गलत है और ऐसी तपस्या होनी ही नहीं चाहिए। केवल प्रयोग होना चाहिए। आयुर्वेद का विश्वास है कि सप्ताह में एक उपवास अवश्य होना चाहिए। आज हम उपवास के महत्त्व को भूल गये और पश्चिम के लोगों ने उपवास-चिकित्सा का प्रयोग कर रखा है, न जाने कितने वर्षों से चल रहा है। उपवास-चिकित्सा पर पश्चिम की जितनी अच्छी पुस्तकें निकली हैं, शायद भारत में नहीं निकलीं। उपवास प्रयोग है, अगर प्रयोग की दृष्टि से किया जाये। पर होता क्या है कि कल उपवास करना है, आज धारणा गरिष्ठ भोजन का होना चाहिए। ऐसा उपवास न करें तो अच्छा, उपवास का लाभ स्वास्थ्य की दृष्टि से तो बिलकुल चला गया। मात्र अनशन हो जाएगा, लंघन हो जाएगा। उपवास प्रयोग बनता है जब पहले दिन हलका खाया जाये और पारणा में फिर हलका खाया जाये। तीन दिन बराबर यह चले। पहले दिन हलका भोजन, दूसरे दिन उपवास और तीसरे दिन फिर हलका भोजन, तब उपवास वास्तव में प्रयोग बनता है। पर मान लिया गया कि धारणा भी भारी हो और पारणा भी भारी हो, बीच में पूरा हल्का

हो जाये। लाभ वह नहीं होता, जो होना चाहिए। यदि उपवास विधिवत् किया जाये तो बीमारियां सहज ही ठीक हो सकती हैं। यह मांड वाली बात भी पुराने जमाने में चलती थी। उपवास में भी चावल का मांड पीने की परम्परा थी। आजकल तो नहीं है, पुराने जमाने में थी। यह मांड स्त्रियों के लिए बहुत लाभदायी होता है। स्त्रियों के लिए कोष्ठबद्धता (कब्ज) का एक कारण होता है ऋतुस्राव की अनियमितता। उससे बहुत भयंकर कब्ज होती है। और उसके लिए मांड का प्रयोग जितना लाभदायी होता है, शायद सैंकड़ों दवाइयां भी उतनी लाभदायी नहीं होतीं। उपवास से बहुत सारी समस्याएं हल होती हैं, यदि वह प्रयोग की दृष्टि से किया जाये। इस वैज्ञानिक युग में इतने बौद्धिक विकास और अनुसंधानों के उपरान्त भी यदि कोई परम्परा केवल परम्परा के रूप में चलती है तो लगता है कि हम जान-बूझकर यथार्थ के साथ आंख-मिचौनी कर रहे हैं। आज हर बात के पीछे गहरी अनुसन्धान की दृष्टि होनी चाहिए। यह करें तो क्यों करें? क्या परिणाम होगा? कैसे किया जाये? इस पद्धति में कैसे विकास किया जा सकता है? यह हमारा सारा चिन्तन स्पष्ट होना चाहिए।

मैंने प्रयोग की दृष्टि से दो-चार बातें प्रस्तुत कीं—अस्वाद का प्रयोग, आयंबिल का प्रयोग, उपवास का प्रयोग। साथ-साथ में आतापना का प्रयोग भी है। आतापना का प्रयोग केवल धार्मिक दृष्टि से नहीं, शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। आतापना का अर्थ केवल मध्याह्न की चिलचिलाती धूप में लेटना, शिलापट्ट पर लेटना ही नहीं है। सूर्य के आतप को लेना सहिष्णुता का प्रयोग है, संकल्प-शक्ति का प्रयोग है और साधना का बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। सूर्य-रश्मि-चिकित्सा, रंग-चिकित्सा इसके साथ जुड़ी हुई है। शरीर के लिए विटामिन 'डी' बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। विटामिन 'डी' का सबसे बड़ा स्रोत है सूर्य का आतप। उससे जितना अच्छा विटामिन 'डी' मिलता है, उतना दूसरी जगह नहीं मिलता। स्वास्थ्य के लिए धूप का सेवन बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। यह आतापना का प्रयोग है। आतापना के साथ आसनों का प्रयोग भी जुड़ा हुआ है। एक प्रकार के आसन में आतापना लेने से सूर्य की रश्मियों का एक प्रकार का प्रभाव होता है और दूसरे प्रकार के आसन में आतप लेने से सूर्य की रश्मियों का दूसरे प्रकार का प्रभाव होता है। आज के वैज्ञानिकों ने

कुछ ऐसी पद्धतियां विकसित की हैं पानी को साफ करने की, जिसमें किसी पदार्थ की जरूरत नहीं होती। केवल बर्तनों को बदल दें, कांच के बर्तन, उनके आकारों को बदल दें और धूप में पानी रख दें इन बर्तनों में। पानी अपने आप साफ हो जाएगा। कोई वस्तु डालने की जरूरत नहीं। पानी बिलकुल साफ हो जाता है। अभी-अभी इन पद्धतियों के बारे में काफी खोजें हुई हैं। दो बातें हैं—एक सूर्य का आतप और दूसरा है संस्थान। संस्थान की विशेषता, यंत्र की विशेषता, रेखाओं की विशेषता और मुद्रा की विशेषता। विभिन्न मुद्राओं में, विभिन्न आसनों में आतापना का प्रयोग विभिन्न प्रकार के परिणाम लाता है। ये तपस्या के कुछेक प्रयोग हैं। ये प्रयोग सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाते हैं, संकल्प-शक्ति को विकसित करते हैं। इनसे साधना के प्रति और अधिक आकर्षण बढ़ता है और साथ-साथ स्वास्थ्य की समस्याएं भी सुलझती हैं।

सहिष्णुता के विकास के लिए कोई साधक सूर्य के आतप का प्रयोग करे तो कब, कितना और किस आसन में करना चाहिए, यह एक प्रश्न है। प्रारंभ करने वाले के लिए प्रातःकाल सूर्योदय से लेकर एक घंटे तक यह प्रयोग किया जा सकता है। कायोत्सर्ग की मुद्रा (लेटे-लेटे) या पद्मासन की मुद्रा लाभप्रद होती है। प्रारम्भ में आतप का सेवन दस-पन्द्रह मिनट तक लिया जाए और फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ाकर एक घंटा तक खींचा जा सकता है।

हम ध्यान, आसन, तपस्या—इन सबको केवल एक रूढ़ धार्मिक दृष्टिकोण से न देखें, किन्तु इन सबका हमारे जीवन में कितना मूल्य है, इसको भी समझें। एक व्यक्ति जो सफल जीवन जीना चाहे, जो कुछ करना चाहे, केवल स्वार्थ का जीवन ही न जीना चाहे, जीवन में अपने व्यक्तित्व को कर्तृत्व को कुछ नये आयाम देना चाहे, उस व्यक्ति के लिए इन सब प्रयोगों का मूल्यांकन करना आवश्यक है।

प्रश्न तीन : समाधान एक

मेरे सामने तीन प्रश्न हैं।

पहला प्रश्न है—आज का मनुष्य प्रगति करना चाहता है। सदा से वह प्रगति करने की चाह से चरण बढ़ाता रहा है। उसका झुकाव बाह्य जगत् की ओर अधिक है, अन्तर् जगत् की ओर नहीं है। पहले भी उसकी यही स्थिति थी। आज भी यही स्थिति है। वह इस स्थिति को बहुत महत्त्व देता है। क्या उसे अन्तर् जगत् की जानकारी नहीं थी ? है ? यदि थी, है, तो ऐसा क्यों ?

दूसरा प्रश्न है—समय गतिशील है। समय के साथ-साथ मनुष्य प्रगति कर रहा है। जो प्रगति आज दिखाई दे रही है, पहले थी या नहीं ? यदि थी तो उसकी गति अवरुद्ध क्यों हुई ?

तीसरा प्रश्न है—आज का मनुष्य असंतुष्ट दिखायी देता है, क्योंकि उसका मन बार-बार इस बात में उलझ जाता है कि मरने के बाद क्या होगा ? परलोक किसने देखा है ? स्वर्ग और नरक को देखकर कौन लौटा है ? इस विचारधारा के आधार पर वह मौज-मस्ती के लिए नये-नये उपक्रम करता रहता है। फलस्वरूप वह और अधिक उलझनों में फंसा है, फंसता जा रहा है। साथ-साथ वह दीर्घ और आनन्दमय जीवन की खोज भी कर रहा है। मानव इन उलझनों से कैसे मुक्त हो सकता है ? वह निरापद और आनंदमय दीर्घ-जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है ?

ये तीन प्रश्न हैं। तीनों का समाधान एक है और वह भी केवल तीन शब्दों में—'आदमी जानता नहीं।' उसका उत्तर एक है। यदि आदमी जानता तो अन्तर् जगत् को अस्वीकार नहीं करता। यदि आदमी जानता तो अतीत की प्रगति को नजरंदाज नहीं करता। यदि आदमी जानता तो उलझनों में नहीं फंसता। उलझनों में वह इसलिए फंसा है, फंसता है कि वह जानता नहीं। अतीत को इसलिए नकार रहा है कि वह जानता नहीं। अन्तर् जगत् को इसलिए अस्वीकार कर रहा है कि वह जानता नहीं।

हम स्थूल जगत् में जीते हैं। स्थूल जगत् को ग्रहण करने का माध्यम हैं—इन्द्रियां। इनके माध्यम से ही स्थूल जगत् के साथ हमारा संपर्क बना हुआ है,

इसलिए इस शरीर को कोई अस्वीकार नहीं करता, यथार्थ को भी अस्वीकार नहीं करता। किन्तु प्रश्न है कि परमाणु को कौन स्वीकार करता है? जब तक परमाणु की खोज नहीं हुई, परमाणु को कौन स्वीकार करता था? हमारा सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत् में छिपा हुआ है। पर्दे के पीछे जो होता है, वह कभी जाना नहीं जाता। जाना वही जाता है, जो उभरकर पर्दे के ऊपर आ जाता है। फिल्म के फीते पर कितने चित्र होते हैं, किसी को पता नहीं चलता, किन्तु जब वे परदे पर प्रतिबिम्बित होते हैं, तब आश्चर्य होता है कि छोटे-से फीते पर जितने बड़े-बड़े चित्र हैं? पहाड़ों, नदियों, मनुष्यों और पशु-पक्षियों के हजारों-हजारों चित्र चित्रपट पर उतर जाते हैं। आदमी आश्चर्य से भर जाता है। हमारा बहुत बड़ा जगत् सूक्ष्म में छिपा हुआ है। हमारा आकाश-मण्डल सूक्ष्म प्रतिबिम्बों का अनन्त भण्डार है। यदि वे प्रतिबिम्ब बड़े आकार में प्रस्तुत हों, तो आदमी आश्चर्य से स्तब्ध हो जाए। जितने भी महायुद्ध आज तक हुए हैं. जितनी भी घटनाएं घटित हुई हैं, जितने भी प्रसंग महावीर, बुद्ध और राम के समय में हुए हैं, उन सबके प्रतिबिम्ब आकाशीय रेकार्ड में संचित पड़े हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इसलिए इन आंखों से नहीं देखे जाते। समूचा आकाश इन सूक्ष्म चित्रांकनों से भरा पड़ा है। यदि इन्हें बड़ा आकार दिया जाए तो हम यहां बैठे-बैठे उन सबको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। सूक्ष्म को पकड़ने का साधन हमारे पास नहीं है। हमारी इन्द्रियां स्थूल को ही पकड़ पाती हैं। हमारा सूक्ष्म शरीर भी इस स्थूल शरीर की छाया के नीचे दबा पड़ा है। किसी को पता नहीं चलता। आदमी जानता है केवल चमड़ी को। स्थूल शरीर को भी पूरा कौन जानता है? आदमी केवल जान पाता है चमड़ी को, रूप-रंग और आकृति को। बस, हमारे लिए इतना ही तो है आदमी। इससे आगे हमारे लिए कहां है आदमी? शरीर के भीतर रक्त है, उसे भी हम नहीं देख पाते। शरीर के भीतर मांस है, उसे भी हम नहीं देख पाते। हड्डियां भी हमारे सामने नहीं हैं। मज्जा और गहरे में छिपी होती है। स्थूल शरीर की धातुओं को भी हम नहीं जान पाते तो फिर सूक्ष्म शरीर की बात ही क्या? तैजस शरीर और कार्मण शरीर को कैसे जान सकते हैं? संस्कारों और अन्तर् जगत् को कैसे जान सकते हैं? मुझे आश्चर्य नहीं होता, यदि आदमी अन्तर् जगत् को नहीं जानता। आश्चर्य यह होता है कि आदमी अभी तक स्थूल जगत् को, बाह्य जगत् को भी नहीं जानता। चमड़ी को जानने के लिए भी सूक्ष्मवीक्षण यंत्र का प्रयोग करना होता है।

चमड़ी में कितने तत्त्व भरे पड़े हैं, कौन जानता है ? चमड़ी की करोड़ों-करोड़ों कोशिकाएं कहां दिखाई देती हैं ? प्रत्येक कोशिका क्या-क्या करती है, कहां दिखायी देता है ? स्थूल जगत् की जानकारी भी बहुत कम है। कहा जा सकता है कि एक प्रतिशत के करोड़वें भाग की भी जानकारी नहीं है। जब स्थूल जगत् की यह बात है तो फिर सूक्ष्म जगत् की बात ही क्या है ? यह स्वाभाविक है, आदमी का झुकाव उसी की ओर होगा, जिसको आदमी जानता है। जिसे वह नहीं जानता, उसकी ओर वह कभी नहीं झुकेगा। झुकाव का कारण ही नहीं रहेगा। जिससे आदमी परिचित नहीं है, उसके प्रति झुकाव या अझुकाव की बात ही पैदा नहीं होती। जिसे मैं नहीं जानता, वह न मेरा मित्र बन सकता है और न शत्रु बन सकता है। मित्र भी वही बनता है, जिसे मैं जानता हूं। और शत्रु भी वही बनता है, जिसे मैं जानता हूं। जिसे नहीं जानता, वह कुछ भी नहीं बनता। बात है जानने की।

यह बात सच नहीं लगती कि मनुष्य का झुकाव बाह्य जगत् की ओर है। उसका झुकाव बाह्य जगत् की ओर अधिक नहीं है। उसका बाह्य जगत् की ओर झुकाव है, केवल प्रतिबिम्ब का झुकाव, केवल प्रतिक्रिया का झुकाव। यथार्थ का झुकाव नहीं है। एक आदमी कहता है—'सारी संपत्ति भले ही चली जाए, मेरी मूंछें नीची नहीं होंगी।' किसकी ओर है झुकाव आदमी का ? बाह्य जगत् की ओर झुकाव है या अन्तर् जगत् की ओर ? यदि पदार्थ जगत् की ओर झुकाव होता तो वह कहता—'सम्मान रहे या जाए, प्रतिष्ठा बनी रहे या मिट जाए, मूंछ ऊंची रहे या नीची, मेरा धन-ऐश्वर्य बचना चाहिए।' इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि कुछेक व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जो अपनी आन पर मिटे। उन्होंने सारे राज्य को ठुकरा दिया, खो दिया। वे अपनी आन पर मर मिटे। वे मानते थे, सब कुछ चला जाए, ऐश्वर्य चला जाए, परिवार चला जाए, इज्जत और सम्मान बना रहे। यह भीतरी झुकाव की बात है। अहंकार बाह्य जगत् का तत्त्व नहीं है। यह भीतरी संसार का तत्त्व है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कषाय को 'आध्यात्मिक' कहा है। ये कषाय आत्मा के भीतर होते हैं। बाहर में इनका अस्तित्व नहीं है। क्रोध भीतर से आता है। क्रोध से आविष्ट व्यक्ति बड़ी से बड़ी नौकरी को ठुकरा देता है, वर्षों से चले आ रहे सम्बन्ध को तिनके की भांति तोड़ डालता है। यदि आदमी बाह्य जगत् की ओर ही झुकाव रखता है तो ऐसा नहीं करता। क्रोध, अहंकार और लालच के कारण

आदमी क्या-क्या नहीं छोड़ता, क्या-क्या नहीं ठुकराता।

वास्तव में आदमी का झुकाव होता है अपनी वृत्तियों के प्रति। वृत्तियों से घिरा हुआ है आदमी। वृत्तियों की ओर झुका हुआ है आदमी। वृत्तियां बिम्ब हैं। पदार्थ के प्रति होने वाला झुकाव प्रतिबिम्ब है। वृत्तियां क्रिया है और पदार्थ के प्रति होने वाला झुकाव प्रतिक्रिया है। हम प्रतिक्रिया को देखकर मान लेते हैं कि मनुष्य का झुकाव पदार्थ के प्रति है। किन्तु गहरे में उतरकर देखें तो पता चलेगा कि आदमी का झुकाव वृत्तियों की ओर है। जिस प्रकार आदमी वृत्तियों से संचालित होता है, पदार्थ को पकड़ता है, छोड़ता है, वह द्वयं है, पहली बात नहीं है। झुकाव की पहली शर्त है—वृत्तियां। वृत्तियां बाह्य जगत् में नहीं हैं। संस्कार बाह्य जगत् में नहीं हैं। वे सब भीतरी जगत् में हैं। जहां संस्कार प्रबल होता है, वहां पदार्थ गौण हो जाता है, वह बिलकुल बांधा नहीं डालता। हम इस सचाई को समझें कि हम अनजान में ही अन्तर् जगत् को जान रहे हैं, और उससे प्रभावित होकर ही सब कुछ कर रहे हैं। पदार्थ और बाह्य जगत् का हमारा आकर्षण भी आन्तरिक वृत्तियों के कारण है। यदि ये वृत्तियां ढल जाएं, तो पदार्थ कोरा पदार्थ रह जाए। उसके प्रति होने वाला आकर्षण समाप्त हो जाए। यही साधना की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में पदार्थ कोरा पदार्थ रह जाता। उसके प्रति होने वाला झुकाव समाप्त हो जाता है। भोजन रहता है, पर उसके प्रति होने वाली आसक्ति समाप्त हो जाती है। जब तक साधना का भाव नहीं जागता, आदमी ध्यान में नहीं उतरता, तब तक वह भोजन करता हुआ भी भोजन को नहीं खाता; आसक्ति को खाता है, भोजन की लोलुपता को खाता है। वह नहीं जानता कि भोजन क्या होता है। लोलुपता इतनी गहरी होती है कि भोजन सामने आता है और वह सब कुछ भूल जाता है। आसक्ति भोजन को खाती है और आदमी को उस भोजन के स्वाद का भी पता नहीं लगता। स्वाद का सही पता उस व्यक्ति को चलता है, जिसके मन में भोजन का लोभ नहीं होता, आसक्ति नहीं होती। इस स्थिति में ही आदमी जान सकता है कि वह क्या खा रहा है। अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें याद ही नहीं रहता कि अभी-अभी क्या-क्या खाया था। उनको पूछने पर वे कहते हैं—हमें याद नहीं है कि हमने क्या खाया था? यह कैसे संभव हो सकता है कि खाया और याद नहीं रहा? मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि खाया हुआ याद नहीं रहता। यदि जागरूकता से खाया जाता,

भोजन को भोजन मानकर खाया जाता, पदार्थ मानकर खाया जाता तो अवश्य ही याद रहता। किन्तु मूर्च्छा से खाया, लालच के नशे में खाया, लोलुपता की ज्वाला में जलते हुए खाया तो आदमी को कुछ भी पता नहीं चलेगा। पता चलेगा लोलुपता को, लालच को और मूर्च्छा को।

वास्तव में आदमी बाह्य जगत् से प्रभावित नहीं है। यह केवल एक आरोपण है कि आदमी बाह्य जगत् से प्रभावित है। सचाई यह है कि आदमी अन्तर् जगत् से प्रभावित है और उसका समूचा जीवन अन्तर् जगत् के द्वारा संचालित हो रहा है।

दूसरा प्रश्न है—प्रगति का। प्रगति अतीत में नहीं हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। आज हमारे संसार से अधिक प्रगतिशील संसार अनेक हैं। इस सौरमण्डल में कितने संसार भरे पड़े हैं जो उन्नतशील हैं। जैसे-जैसे अतीत को खोजा जा रहा है, सचाइयां उभरकर सामने आ रही हैं। पिरामिड की खोज ने आश्चर्य में डाल दिया। दिल्ली की कुतुबमीनार और लौह-स्तंभ अनेक वैज्ञानिकों के लिए आश्चर्य का विषय बने हुए हैं। सैकड़ों वर्ष पहले ऐसी वस्तुएं कैसी बनायी गईं। सैकड़ों वर्षों से आतप और वर्षा का आघात सहते हुए भी उस लौह-स्तंभ पर जंग क्यों नहीं जमा ? इंजीनियर स्वयं आश्चर्यचकित हैं। वे इसकी तकनीक को खोजना चाहते हैं। और भी अनेक तथ्य सामने आ रहे हैं। हवाई-पट्टियां सामने आ रही हैं। अनेक प्रकार के यंत्र और शस्त्र मिल रहे हैं। जो प्राचीन जीवाश्म मिल रहे हैं, उन्हें देखकर वैज्ञानिक जगत् सचमूच आश्चर्य में है। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे प्रक्षेपास्त्रों का वर्णन मिलता है, जिनके समक्ष आज के प्रक्षेपास्त्र नगण्य लगते हैं। उनमें एक है—मदन प्रक्षेपास्त्र। उसका प्रक्षेप होते ही सभी आदमियों में वासनाएं जाग उठती हैं, सब कामग्रस्त हो जाते हैं। एक है—निद्रा प्रक्षेपास्त्र। उसका प्रक्षेप होते ही सब निद्राधीन हो जाते हैं। एक है—माया प्रक्षेप। इसके प्रक्षेप से सब व्यक्ति सम्मोहित हो जाते हैं। इसी प्रकार आग्नेय प्रक्षेपास्त्र, वारुणी प्रक्षेपास्त्र आदि अनेक अस्त्रों का निर्माण अतीत में हुआ था और उनका प्रयोग भी होता रहा है, किन्तु सदा ऐसा होता है कि आदमी अतीत को विस्मृत कर वर्तमान से चिपकता है। इस स्थिति में अतीत की सभ्यता भुला दी जाती है, नष्ट हो जाती है, सारा ज्ञान-विज्ञान समाप्त हो जाता है। केवल शब्द अस्तित्व में रहते हैं। उनका अर्थ विलुप्त हो जाता है। ऐसा सदा होता रहा है, आज भी होगा और आने वाला भविष्य वर्तमान

की वैज्ञानिक उपलब्धियों को भूल केवल शब्दों की रटन करता रहेगा । वे शब्द अर्थहीन हो जाएंगे । तब आदमी वायुयान की यात्रा को, रेडियो प्रसारण और वायरलेस आदि को केवल गप्पे मानेगा । वह यह कभी विश्वास नहीं करेगा कि हमारे पूर्वज सुदूर देशों की यात्रा वायुयान में करते थे । दूर-दूर की दुनिया के कोने में बैठे लोग रेडियो के द्वारा समाचार सुन लेते थे । बिना तार के ही हजारों मिलों पर बैठे लोगों से इस प्रकार बातचीत हो जाती थी, मानो वे आमने-सामने बैठे हों । ये बातें कभी समझ में नहीं आएंगी । हजार वर्ष बाद आने वाली पीढ़ी कहेगी, हमारे पूर्वज गप्पें हांकने में अग्रज थे । उन्होंने बहुत मिथ्या बातें लिखी हैं । इस प्रकार विज्ञान की सारी उपलब्धियां माइथोलॉजी बन जाएंगी, पौराणिक कहानियां मात्र रह जाएंगी ।

हमने भी अतीत के साथ यही किया है । अतीत के विकास की बातें, वैज्ञानिक उपलब्धियां, ज्ञान और प्रज्ञा का विकास—ये सब आज हमारे लिए पौराणिक कहानियां मात्र बनकर रह गई है । उनकी यथार्थता में हमारा तनिक भी विश्वास नहीं है । किन्तु साथ-साथ आज का बुद्धिवादी आदमी यह सोचने के लिए बाध्य हो रहा है कि यदि अतीत में प्रगति नहीं होती तो आज जो कल्पनाएं और संभावनाएं हो रही हैं वे शून्य में नहीं होतीं । जो वर्णन प्राप्त हैं, उनका आधार अवश्य ही होना चाहिए । आज वातानुकूलित भवनों की चर्चा है । क्या अतीत में वैसा कुछ नहीं था ? क्या यह नयी कल्पना और नया उद्भव है ? नहीं । अतीत में भी वैसे भवन निर्मित होते थे, जो सब ऋतुओं के लिए सुखदायी होते थे । गर्मी में वे भवन ठंडे और सर्दी में गर्म होते थे । वर्षा ऋतु में वे सीलन से परे होते थे । उन भवनों को 'शीतगृह' कहा जाता था । उन पर किसी भी ऋतु विशेष का प्रभाव नहीं होता था । ऐसे वस्त्रों का निर्माण भी होता था, जो सर्दी में गर्म और गर्मी में ठंडे होते थे । ऐसे भी वस्त्र थे जो अग्नि में नही जलते थे । ऐसे कंबल भी बनाए जाते जो एक अंगूठी के छेद से निकाले जा सकते थे । कितने महीन होते थे वे कंबल ! पर वे भयंकर सर्दी से बचाने में सक्षम होते थे । आज हम इन सबको कल्पनाएं मानकर टाल देते हैं । यह हमारा बुद्धि-दौर्बल्य है ।

प्रत्येक युग में आदमी प्रगति करता है । अतीत में प्रगति हुई थी । आज भी हो रही है । और भविष्य में भी होती रहेगी । प्रगति के अनन्त बिन्दु

होते हैं। सारे बिन्दुओं पर एक साथ विकास नहीं हो सकता। विकास या प्रगति एक-एक बिन्दु को पार करती जाती है और आगे से आगे यह क्रम चलता रहता है।

प्रगति और प्रतिगति का चक्र निरंतर चलता रहता है। कुछेक सौर-मंडलों से विशेष विकिरण होते हैं, ग्रहों का विशेष प्रभाव होता है। कभी-कभी ग्रहों-नक्षत्रों की ऐसी अनुकूल स्थिति बनती है कि विश्व में प्रगति की लहर आ जाती है और कभी-कभी उनकी ऐसी प्रतिकूल स्थिति बनती है कि प्रलय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस समय सारी प्रगतियां समाप्त हो जाती हैं, आदमी आदिम युग का आदमी बन जाता है। आदिम युग का आदमी और विकसित युग का आदमी—ये दो अवस्थाएं हैं आदमी की। ये दोनों अवस्थाएं सौरमंडल से प्रभावित अवस्थाएं हैं, इसलिए यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि अतीत में नहीं हुई और यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि चालू प्रगति का भविष्य में विकास नहीं होगा। निर्माण और नाश—यह चक्र चलता रहता है। इस चक्र की यदि सम्यक् अवगति रहती है तो आदमी कहीं नहीं उलझता।

आज का आदमी असंतुष्ट है। संतोष इस जगत् में कम संभव है, क्योंकि असंतोष को उभारने वाले तत्त्व यहां बहुत अधिक हैं। बाहर के जगत् में संतोष खोजना भ्रान्ति है। संतोष केवल अन्तर् जगत् में प्रवेश पाने पर ही हो सकता है। जिस व्यक्ति ने साधना के द्वारा, ध्यान की आराधना के द्वारा अपने आपको जानने का प्रयत्न नहीं किया, उसके लिए संतोष की संभावनाएं कम रहती हैं। अपने आपको जानने का अर्थ है—चेतन के जगत् में चला जाना। संतोष केवल चेतना के जगत् में है, पदार्थ के जगत् में संतोष नहीं हो सकता। उसमें तृष्णा बढ़ती जाती है, असंतोष उभरता चला जाता है। असंतोष बाहर से भी आता है और भीतर से आता। चेतना में यह नहीं होता है। असंतोष के लिए आने के द्वार अनेक हैं। कहीं रुकावट नहीं है।

आदमी एक होटल में ठहरा। कमरे में गया। सारी खिड़कियां खोले बैठ गया। खिड़की से बन्दर आ गया। आदमी ने उसे निकाला। थोड़े समय पश्चात् वह वापस आ गया। एक नहीं, अनेक बन्दर आने-जाने लगे। वह परेशान हो गया। वह मैनेजर के पास जाकर बोला—बन्दर बहुत परेशान कर रहे हैं। कैसे रहा जा सकता है यहां ? बोला—चिन्ता मत करो।

बिना अनुमति लिये दरवाजे से कोई अन्दर नहीं आ सकता । मैंने दरवाजे पर लिख दिया है ।

कैसी मूर्खतापूर्ण बात है ! बन्दर क्या कोई आदमी है कि वह निषेध को मान लेगा ? दरवाजा बन्द हो तो आदमी अन्दर नहीं आ सकता, किन्तु जो छलांग लगाकर या आकाश मार्ग से आ जाए, उसके लिए दरवाजे पर लिखी हुई आज्ञा कारगर कैसे हो सकती है ?

यह असंतोष एक बन्दर है । वह ऊपर से भी आ सकता है, नीचे से भी आ सकता है । वह भीतर से भी आ सकता है और बाहर से भी आ सकता है । वह पीछे से भी आ सकता है और आगे से भी आ सकता है। वह स्वयं नहीं आता, आदमी उसे बुलाता है । आदमी उसे इसलिए बुलाता है कि वह स्वयं पदार्थ में उलझा हुआ है । उसकी सारी चेतना पदार्थ में अटकी हुई है । वह उलझन और अटकाव वृत्तियों के कारण हो रहा है । जब तक वृत्तियों की ओर ध्यान नहीं किया जाता, तब तक इस समस्या का समाधान नहीं मिल सकता, उलझन से परे नहीं जाया जा सकता । इसलिए वृत्तियों को समझना बहुत बड़ी आवश्यकता है । वृत्तियों को समझे बिना यदि असंतोष को निकालेंगे तो वह पुनः आ जाएगा । कोई एक निमित्त मिला, असंतोष निकल गया । दूसरा निमित्त मिला, असंतोष पुनः उभर आया । वह मिटता रहता है, उभरता रहता है ।

डॉक्टर ने रोगी से कहा—मैंने चिकित्सा की । आपका बुखार उतर गया । अब फीस दे दें । सेठ ने चेक दे दिया । दो दिन बाद डॉक्टर बोला—अरे, उस चेक का भुगतान ही नहीं हुआ । बैंक वालों ने उसे लौटा दिया । वह वापस आ गया । वह बोला—अरे, इसमें क्या बात है ? चेक वापस आ गया तो देखिए, बुखार भी वापस आ गया ।'

चेक वापस आता है, बुखार वापस आता है, असंतोष भी वापस आता है । सारी उलझनों से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है वृत्तियों का ज्ञान । वृत्तियों के मूल घटक हैं विभिन्न रसायन । उन रसायनों के कारण व्यक्ति में एक प्रकार की वृत्ति उभरती है और एक प्रकार का विचार बनता है, कल्पना बनती है । आदमी उस विचार और कल्पना को समाप्त करना चाहता है, किन्तु वृत्ति को समाप्त करना नहीं चाहता । जब तक वृत्ति समाप्त नहीं होती, तब तक रसायन बनते रहते हैं और वे व्यक्ति के विचारों और व्यवहारों को प्रभावित करते रहते हैं । आचरण, व्यवहार और विचार—ये सब प्रतिक्रियाएं हैं । मूल क्रिया

के स्रोत हैं हमारी वृत्तियां या संज्ञाएं। हम प्रतिक्रिया को समाप्त करने की बात न सोचें, क्रिया को समाप्त करने की बात सोचें। छाया को मिटाने से क्या होगा ? आदमी चलेगा तो छाया पड़ेगी ही। यह कैसे हो सकता है कि आदमी चले और छाया न पड़े। प्रत्येक पदार्थ की छाया पड़ती है। आदमी प्रतिबिम्ब को जीता है और प्रतिबिम्ब से लड़ता है। प्रतिबिम्ब से लड़ने का कोई अर्थ नहीं होता। यदि हमें लड़ना है तो बिम्ब से लड़ें। प्रतिबिम्ब से न लड़ें, क्रिया से लड़ें। ध्यान का अर्थ है—क्रिया को समझना, प्रतिक्रिया से मुक्त होना। ध्यान का अर्थ है—बिम्ब को समझना, प्रतिबिम्ब से मुक्त होना। ध्यान में सबसे पहले श्वास को समझा जाता है। श्वास को समझना क्रिया को समझना है। श्वास क्रिया से जुड़ा हुआ है और सारी प्रतिक्रियाएं उसके माध्यम से बाहर आती हैं। श्वास को देखते-देखते एक क्षण ऐसा आ सकता है कि श्वास के माध्यम से उतरने वाली सारी वृत्तियां प्रत्यक्ष हो जाती हैं। ज्ञात हो जाता है कि अब क्रोध उतर रहा है। क्रोध किसके माध्यम से उतरेगा ? वह श्वास के माध्यम से उतरेगा। अहंकार भी श्वास के माध्यम से उतरेगा। यदि श्वास शान्त होता है तो न क्रोध आ सकता है और न अहंकार आ सकता है। वासना भी श्वास के माध्यम से आती है। इसलिए श्वास को समझने का अर्थ है वृत्तियों को समझना। श्वास तक पहुंचने का अर्थ है वृत्तियों तक पहुंचना। यदि पहुंच ठीक होती है सारी बातें ठीक होती हैं। यदि मनुष्य वास्तव में उलझनों को मिटाना चाहता है तो वह उलझन में फंसकर नयी उलझन पैदा न करे। उलझन को मिटाने के लिए उपयुक्त आलंबन ले। ये आलंबन हैं—श्वास शरीर, चैतन्य केन्द्र, जैविक विद्युत्। इनसे रसायनों में परिवर्तन किया जा सकता है। यदि हम तटस्थ भाव से, समभाव से सारे परिवर्तनों और तत्त्वों को देखने लग जाएं तो अनायास ही उलझनें समाप्त होने लगेंगी और ऐसा लगेगा कि सब कुछ सुलझता जा रहा है। हमारे लिए कोई उलझन नहीं है। उलझन को मिटाने के लिए यदि हम अस्वीकार करें भावी जीवन को, अस्वीकार करें सूक्ष्म जगत् को तो कोई अर्थ नहीं होगा। छोड़ दें दो क्षण के लिए भावी जीवन को, छोड़ दें पुनर्जन्म को। हमें परलोक से कोई मोह नहीं, पुनर्जन्म से कोई मोह नहीं। हम वर्तमान को समझें, वर्तमान जन्म को समझ लें। यदि इन्हें सही अर्थ में समझ लिया तो पुनर्जन्म, भावी जन्म कोई उलझन पैदा नहीं करेगा। यदि वर्तमान जीवन को नहीं समझा और बुद्धि के आधार पर केवल पुनर्जन्म की चर्चा करते

रहे, परलोक की चर्चा करते रहे तो वह चर्चा भी भारी उलझन पैदा कर देगी। इसलिए सबसे पहले ऋजु मार्ग है—वर्तमान क्षण को समझना और वर्तमान जीवन को समझना, वर्तमान को धार्मिक बनाना, अध्यात्ममय बनाना। इस सीधे रास्ते पर कोई उलझन नहीं आएगी और इससे बड़ा उलझन-मुक्ति का मार्ग कोई है नहीं।

ध्यान : जीवन की पद्धति

ध्यान एक अजूबा बना हुआ है। ध्यान करने वाले को विशेष माना जाता है। ऐसा लगता है कि ध्यान हमारे जीवन का अभिन्न अंग नहीं है, वह कोई विशेष साधना है। सचाई यह है कि यह जीवन का स्वाभाविक क्रम है। ध्यान कोई बाहर से आया हुआ तत्त्व नहीं है, यह जीवन की पूरी पद्धति है। ध्यान न करने वाले की जीवन-पद्धति में और ध्यान करने वाले की जीवन-पद्धति में अन्तर होगा। दोनों की जीवन-पद्धतियां समान नहीं हो सकतीं।

हम ध्यान को एक जीवन-पद्धति के रूप में स्वीकार करें। ध्यान से हमारे जीवन का समूचा क्रम बदल जाता है। यदि ध्यान करने से जीवन की चर्या न बदले, मान्यताएं और धारणाएं न बदलें, स्वभाव और आदतें न बदलें तो फिर ध्यान करने का कोई विशेष अर्थ समझ में नहीं आता।

हर आदमी बदलता है। दुनिया में एक भी ऐसा आदमी नहीं जो न बदले। जो लोग बहुत रूढ़िवादी हैं, न बदलने की धारणा रखते हैं और यह घोषणा करते हैं कि सारी दुनिया बदल जाए, हम कभी नहीं बदलेंगे, वे भी बदलते हैं। उन्हें भी बदलना पड़ता है।

बदलना दो अवस्थाओं में होता है। एक है परिस्थिति से बदलना और दूसरा है विवेक से बदलना। परिस्थिति से बदलना बाध्यता से बदलना है। विवेक से बदलना सहज भाव से बदलना है। बदलना दोनों है, पर दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

एक नदी के किनारे आतिशबाजी का कार्यक्रम था। हजारों लोग एकत्रित हुए। भयंकर आतिशबाजी हुई। नदी की सारी मछलियां भयभीत हो गईं। उन्होंने सोचा—क्या प्रलय हो रहा है? यह विस्फोट कैसा? सब घबराई हुई मछलियां बड़ी मछली के पास गईं। उसने कहा—यह सब हमारे पापों का परिणाम है। जो प्रलय हो रहा है, आकाश और जमीन फट रही है, नदी में बाढ़ जैसी आ रही है, यह सब हमारे ही पापों का परिणाम है। हम भयंकर पाप करते हैं। बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को खा जाती हैं,

उसी पाप का यह परिपाक है। आज से हम यह संकल्प करें—बड़ी मछली छोटी मछली को नहीं खाएगी। सब मछलियां आकुल-व्याकुल थीं, भयभीत थीं। सबने यह प्रस्ताव मान लिया।

दो घंटे तक आतिशबाजी का कार्यक्रम चला। भयंकर विस्फोट समाप्त हुआ। आकाश में उछलने वाली चिनगारियां बन्द हुईं। प्रलय का दृश्य समाप्त हो गया। सभी मछलियां भयमुक्त हो गईं।

जैसे ही भय मिटा, बड़ी मछलियां छोटी मछलियों पर झपटीं और उन्हें निगल गईं। जिस बड़ी मछली ने यह प्रस्ताव रखा था, उसी ने सबसे पहले छोटी मछलियों को खाना शुरू कर दिया।

यह परिस्थिति के आधार पर होने वाला बदलाव है। यह यथार्थ में बदलना नहीं है। क्या समाज में ऐसा नहीं हो रहा है? जब कोई कठिनाई या परिस्थिति सामने आती है, तब आदमी अपने आपको बदलता है। जैसे ही कठिनाई समाप्त हो जाती है, परिस्थिति बदलती है, तब आदमी मूलरूप में आ जाता है। सारा परिवर्तन समाप्त हो जाता है। जब व्यक्तियों की धर-पकड़ होती है, सरकार का रुख कड़ा होता है, तब आदमी भय से कुछ बदलता है। सारा समाज दूध-धुला-सा हो जाता है। यह भय की परिस्थिति से होने वाला बदलाव है। कुछ वर्षों पूर्व जब 'अष्टग्रह' का आतंक छाया था, तब मृत्यु के भय से हजारों-हजारों व्यक्ति बदले थे। जीवन का सारा क्रम बदल गया था। अष्टग्रह का जब कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं हुआ, भय मिटा और आदमी मूल का बन गया। सारा परिवर्तन मिट गया। यह वास्तविक बदलना नहीं है, परिस्थिति के कारण बदलना है।

ध्यान की प्रक्रिया से जीवन बदलता है। यह परिस्थिति से होने वाला बदलाव नहीं है, विवेक से होने वाला बदलाव है। यह यथार्थ का बदलना है। आदमी बदलता है। उसकी धारणाएं बदलती हैं, मान्यताएं बदल जाती हैं, जीवन की दृष्टि बदल जाती है। जब तक जीवन की दृष्टि नहीं बदलती, तब तक बाध्यता का बदलना होता है। जब जीवन-दृष्टि बदलती है, तब स्थायी बदलना होता है। इस बदलाव के बाद आदमी कभी बुरा आचरण नहीं कर सकता, दूसरों को नहीं सता सकता।

जिस दुनिया में हम जी रहे हैं, उसमें सब प्रकार के लोग हैं। अच्छे लोग भी हैं और बुरे लोग भी हैं। हिंसा में विश्वास करने वाले लोग भी हैं और अहिंसा में विश्वास करने वाले लोग भी हैं। संग्रह में विश्वास करने वाले भी

हैं और असंग्रह में विश्वास करने वाले भी हैं। सभी प्रकार के लोग हैं। किसी भी प्रकार की यहां कमी नहीं है।

एक आदमी, हजारों से संपर्क। प्रत्येक संपर्क से मस्तिष्क प्रभावित होता है। हिंसा के पक्ष में तर्क सुनते ही आदमी का विचार हिंसा का समर्थन करने लग जाता है और अहिंसा के पक्ष में तर्क सुनकर आदमी अहिंसा का समर्थन करने लग जाता है। आदमी आस्तिकता के तर्क सुनकर आस्तिक और नास्तिकता के तर्क सुनकर नास्तिक बन जाता है। बड़ी विकट समस्या है। इस दुनिया में एक ही विचार और एक ही आचार नहीं है। एक ही रुचि और एक ही आकर्षण नहीं है। नाना विचार, नाना आचार, नाना रुचियां और नाना आकर्षण हैं यहां। ऐसी दुनिया में एक आदमी का जीना और उन सब लोगों के बीच रहकर जीना, कितना कठिन होता है, वही जानता है जो उसे भोगता है। जो नहीं भोगता, वह क्या जाने ? परन्तु यह तो प्रत्येक व्यक्ति भोगता ही है।

जब व्यक्ति ध्यान की स्थिति से गुजरता है तब उसमें शक्ति जागती है, प्राणशक्ति का विकास होता है और यह शक्ति उसे स्थिर बनाती है। हजारों प्रभाव आते हैं, पर वह डोलता नहीं। बड़े-बड़े तूफान और बवंडरों से पर्वत नहीं डोलता, वृक्ष डोल जाते हैं, धराशायी हो जाते हैं। पर्वत में इतनी स्थिरता आ गई कि वह डोलता नहीं।

पानी की तीन अवस्थाएं होती हैं—तरल, बर्फ और भाप। तीनों एक ही हैं। इसमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जब पानी गाढ़ा होता है, तब बर्फ बन जाता है और वही पानी जब एक बिन्दु पर पहुंचकर उबलता है, तब भाप बन जाता है। पानी तरल होता है, बर्फ गाढ़ा होता है और भाप उड़नशील होती है। वह आकाश में उड़ जाती है, पता नहीं चलता। पानी से बर्फ का मूल्य ज्यादा है।

एक अध्यापक ने विद्यार्थी से पूछा—पानी और बर्फ में क्या अन्तर है ? विद्यार्थी ने उत्तर दिया—पानी बिना पैसे मिलता है और बर्फ के पैसे लगते हैं—यह अन्तर है।

पानी से बर्फ का मूल्य ज्यादा है और बर्फ से भाप का मूल्य ज्यादा है।

चित्त की भी तीन अवस्थाएं हैं। एक है पानी की तरह तरल, दूसरी है बर्फ की तरह गाढ़ी और तीसरी है भाप की तरह उड़नशील। जब चित्त पानी की तरह तरल होता है, तब उसमें सब कुछ मिल सकता है, मिश्रण हो सकता

है। पानी में जो भी जाएगा, वह उसमें घुल-मिल जाएगा। यही बात तरल चित्त के विषय में होगी। जब चित्त तरल होता है, तब वह प्रत्येक प्रभाव से प्रभावित होता रहता है। जब पानी बर्फ बन जाता है, तब उसमें घुलनशीलता नहीं होती। जो भी डाला जाएगा, वह नीचे लुढ़क जाएगा। उसके साथ आत्मसात् नहीं हो पाएगा। यही बात गाढ़ चित्त के विषय में है।

ध्यान एक प्रक्रिया है चित्त को गाढ़ बनाने की। ध्यान के द्वारा चित्त गाढ़ा बन जाता है, बर्फ जैसा बन जाता है। इस अवस्था में वह किसी भी प्रभाव से प्रभावित नहीं होता। प्रभाव आता है, टकराता है और नीचे लुढ़क जाता है। यह कभी संभव नहीं है कि प्रभाव न आए, पर यह संभव है कि चित्त उसे स्वीकार करे या न करे। जब तक चित्त को ध्यान के द्वारा गाढ़ा नहीं बना दिया जाता, तब तक आने वाले प्रभावों से हमारी मुक्ति नहीं हो सकती।

ध्यान चित्त को स्थिर बनाता है। जब चित्त स्थिर बनता है, तब आदमी प्रभावों से मुक्त हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति मुक्त होना चाहता है, मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। वह मानता है कि मरने के बाद मुक्ति मिलेगी। कहां है मोक्ष की प्राप्ति इस युग में? एक भाई ने पूछा—आज उत्तम संहनन नहीं है, वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं है, फिर यदि मुक्ति की उत्कट अभिलाषा हो तो वह कैसे प्राप्त हो सकती है? मैंने कहा—क्यों कामना करते हो मरने के बाद होने वाली मुक्ति की? वह तो होगी, तब होगी। तुम चाहो तो जीते-जी मुक्ति का अनुभव कर सकते हो और मुक्त हो सकते हो। चित्त को जमा कर गाढ़ा कर लो, अपने आप अनुभव होगा कि हर क्षण मुक्ति का बीत रहा है। जो लोग ध्यान का अभ्यास करते हैं, उन्हें अनुभव होता है कि हम मुक्ति का जीवन जी रहे हैं। हमारी चेतना जब राग-द्वेष से मुक्त होती है, तब मुक्ति का अनुभव होने लग जाता है। बंधन का अनुभव तब होता है, जब चेतना राग-द्वेष से बंधी हुई होती है।

ध्यान जीवन की एक पद्धति है? जीवन-पद्धति में अर्थ-व्यवस्था का बहुत बड़ा स्थान होता है। कोई भी जीवनक्रम अर्थ-व्यवस्था के बिना नहीं चलता। अर्थ-व्यवस्था के दो मुख्य तत्त्व हैं—आय और व्यय। आय और व्यय के आधार पर जीवन का ढांचा चलता है। प्रत्येक व्यक्ति आय भी करता हैं और व्यय भी करता है।

शक्ति की भी आय होती है और व्यय होता है। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता वह शक्ति की आय कम करता है और व्यय अधिक करता है। जब मन चंचल होता है, तब शक्ति का व्यय अधिक होता है, आय होती ही नहीं। जिसने ध्यान नहीं सीखा, कायोत्सर्ग नहीं सीखा, वह शक्ति की आय कैसे कर पाएगा ? जिसने मन को स्थिर करना नहीं सीखा, वह शक्ति की आय कम करता है, व्यय अधिक करता है। जिसने वचन को स्थिर करना नहीं सीखा, मौन नहीं सीखा, वह भी आय कम और व्यय अधिक करता है। जिसने शरीर की चंचलता को छोड़ना नहीं सीखा, कायोत्सर्ग नहीं सीखा, वह भी आय कम और व्यय अधिक करता है।

शरीर का क्रम बड़ा विचित्र है। आदमी बैठा है। सामने रेत है। उसकी अंगुली चलती है। वह रेत में अक्षर या चित्र उभारने लग जाता है। यह लिखना कोई सार्थक नहीं है, काम की बात नहीं है, प्रयोजन कुछ नहीं है। यह केवल चंचलता है। परन्तु क्या आप जानते हैं कि बिना प्रयोजन की इस प्रवृत्ति से शक्ति का कितना व्यय होता है ? केवल एक अंगुली ही नहीं चल रही है, उसके साथ करोड़ों-करोड़ों सेल्स (कोशिकाएं), करोड़ों-करोड़ों न्यूरोन्स सक्रिय होते हैं, तब कहीं एक लकीर खींची जाती है। रूपक की भाषा में कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान के सारे कारखानों के सारे मजदूर जितने नहीं हैं, उनसे अधिक मजदूर लगते हैं, तब कहीं एक छोटी-सी लकीर खींची जाती है। शक्ति का कितना व्यय ? यदि हम कायोत्सर्ग करना सीख जाएं, अनावश्यक प्रवृत्ति को छोड़ दें तो निरर्थक व्यय होने वाली शक्ति को बचा सकते हैं।

एक भाई ने पूछा—आप कहते हैं कि दीर्घ श्वास लेने से फेफड़ों को पूरी हवा मिल जाती है। हर व्यक्ति को छह लीटर हवा चाहिए। वह दीर्घ श्वास से पूरी हो जाती है। यदि श्वास दीर्घ नहीं होता है तो फेफड़ों को कम हवा मिलती है। यह ठीक है परन्तु जब हम कायोत्सर्ग करते हैं, तब श्वास दीर्घ नहीं रहता, छोटा हो जाता है, मंद पड़ जाता है, उससे हवा पूरी नहीं मिलती। तो क्या कायोत्सर्ग इस दृष्टि से अप्रोजनीय नहीं है ?

यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि हवा की, ऑक्सीजन की जरूरत तब अधिक होती है, जब हम प्रवृत्ति अधिक करते हैं। जो व्यक्ति कायोत्सर्ग में स्थिर हो जाता है, उसकी मानसिक, वाचिक या कायिक प्रवृत्तियां स्वतः कम हो जाती हैं और इसलिए ऑक्सीजन की खपत

भी कम हो जाती है। जितना गहरा कायोत्सर्ग, उतनी ही प्राणवायु की खपत कम। उसकी अधिक जरूरत ही नहीं होती। ऐसी स्थिति वे प्राणवायु भले ही कम जाए फेफड़ों में, कोई चिन्ता नहीं है। चिन्ता तब होती है, जब व्यक्ति कार्य में अधिक प्रवृत्त होता है और श्वास मंद लेता है। इससे असन्तुलन पैदा होता है, अनेक गड़बड़ियां पैदा होती हैं। असंतुलन मिटाने का उपाय है—जितना काम करें, प्राणवायु भी उतनी ही मात्रा में खींचें, जिससे कि फेफड़ों को शक्ति मिले, रक्त की पूरी सफाई हो और कार्बन पूरा निकल जाए।

आज का युग मानसिक विकृतियों का युग है। विकृतियां क्यों पैदा होती हैं? आज का आदमी प्रवृत्ति-बहुल हो गया है। वह इतना व्यस्त रहने लगा है कि एक क्षण की भी उसे फुर्सत नहीं है। इस व्यस्तता ने मानसिक उद्वेगों को प्रोत्साहन दिया है, मानसिक बीमारियों को जन्म दिया है। ये बीमारियां बढ़ती चली जा रही हैं। मानसिक बीमारी मस्तिष्क से ही जन्म नहीं लेती, फेफड़ों से शुरू होती है। जिस व्यक्ति के फुफ्फुस में कार्बन अधिक संचित होता है, उसके बैचेनी प्रारम्भ हो जाती है, शरीर टूटने लग जाता है, भार का अनुभव होने लगता है। यह कैसे नहीं होगा? इनका मूल है—दूषित गैस का संचय, कार्बन का संचय। बोल-चाल की भाषा में कहते हैं—घुटनों में दर्द है, कमर और कंधे में दर्द है। दर्द कहां पैदा नहीं होता? जिसे हमने पाल रखा है, वह समय-समय पर प्रकट होता है। यह प्रकट इसलिए होता है कि व्यक्तियों का अपानवायु दूषित है। जिसका अपानवायु दूषित है, उसके अनेक दर्द पलेंगे। यह दूषित वायु दर्द पैदा करता है, अवरोध उत्पन्न करता है। इस अपान की अशुद्धि के कारण ही नयी-नयी बीमारियां पैदा होती हैं। एक है प्राणवायु और एक है अपानवायु। नाक के द्वारा जो वायु भीतर जाती है, वह है प्राणवायु और नाभि के नीचे जो वायु है, वह है अपानवायु। अपानवायु के दूषित होने का एक बड़ा कारण है भोजन। आदमी चाहता है—खूब खाया जाए, गरिष्ठ पदार्थ खाए जाएं। वे पचें या नहीं, उसकी उसे चिन्ता नहीं है। वह अपनी जीभ को संतुष्ट करना चाहता है। वह यह चाहता हैं कि उसे प्रत्येक भोजन में स्वाद की अनुभूति हो। भोजन की इस गलत धारणा के कारण अपानवायु दूषित होता है और वह अनेक बीमारियों को जन्म देता है।

शक्ति की सुरक्षा का एकमात्र उपाय है—प्राण की शुद्धि और अपान की

शुद्धि । ध्यान करने वाला व्यक्ति बदलता है । उसमें केवल यही बदलाव नहीं आता कि वह पचास मिनट या साठ मिनट तक ध्यान करता है । उसकी सारी जीवन-चर्या बदल जाती है । खान-पान बदल जाता है । रहन-सहन बदल जाता है । व्यवहार और आचरण बदल जाता है । वह फिर हर प्रवृत्ति को आय और व्यय की कसौटी पर कसता है ।

आज हिंसा की समस्या बहुत उग्र रूप धारण कर रही है । युद्ध छिड़ते रहते हैं, लड़ाइयां भड़कती रहती हैं । एक ही मानव-समाज में जीने वाले लोग परस्पर एक-दूसरे को मारने लग जाते हैं । एक आदमी किसी दूसरे की हत्या करता है और अपराध प्रमाणित होने पर उसे न्यायालय से आजीवन कारावास या फांसी का दण्ड मिलता है । एक आदमी को मारने पर यह सजा और उधर युद्ध के मैदान में एक सैनिक यदि अनेक सैनिकों को मौत के घाट उतार देता है तो उसे 'महावीर चक्र' जैसे पुरस्कार मिलते हैं और वह सम्मानित किया जाता है । खुले में मारने वाला अपराधी नहीं माना जाता और छिपे-छिपे मारने वाला अपराधी माना जाता है ।

जीवन की यह पद्धति इसलिए विकसित हुई कि आदमी ध्यान करना नहीं जानता । जब तक आदमी ध्यान करना नहीं जानता, तब तक वह समता को नहीं जानता । समता को जाने बिना इस जीवन-पद्धति से छुटकारा नहीं हो सकता । इससे छुटकारा तब मिल सकता है जब आदमी ध्यान करना सीखे । ध्यान के द्वारा जीवन में समता का विकास होगा, समता से राग-द्वेष-मुक्त चेतना जागेगी ।

ध्यान का मूल अर्थ है—राग-द्वेष-मुक्त चेतना का अनुभव । जब तक राग-द्वेष-मुक्त चेतना का अनुभव नहीं होता, तब तक समता का अवतरण नहीं होता और जब तक समता का अवतरण नहीं होता तब तक सामायिक नहीं होती । जब तक सामायिक नहीं होती, तब तक जीवन की पद्धति नहीं बदल सकती ।

गुलाब का पौधा कुछ समाधान चाहता था । उसे एक राजनीतिज्ञ मिला । उससे परामर्श किया । गुलाब ने पूछा—मुझे अपनी सुरक्षा के लिए क्या करना चाहिए ? राजनीतिज्ञ बोला—जैसे के साथ तैसा व्यवहार करना चाहिए । हमारी दुनिया बड़ी भयंकर है । यदि तुम अपनी सुरक्षा चाहते हो तो शस्त्रों का निर्माण करो । राजनीतिज्ञ और क्या सलाह दे सकता था ? गुलाब ने सोचा—परामर्श बहुत अच्छा है । वह प्रभाव में आ गया । उसने

अपने चारों ओर कांटों का जाल बिछा लिया। शस्त्र खड़े कर दिए। वे कांटे उसे दुःख देने लगे, कष्ट देने लगे।

वह गुलाब का पौधा फिर एक साधक के पास गया और बोला—मैंने अपनी सुरक्षा के लिए कांटे ही कांटे खड़े कर दिए। उनकी चुभन मेरे कलेवर को बींध न डाले, इसलिए मैं क्या करूं ? मुझे कोई उपाय बताओ।

साधक बोला—तुमने कांटों का जाल बिछाकर उचित काम नहीं किया। जीवन की यह पद्धति खतरनाक होती है। कांटों से न तुम्हारा भला है और न तुम्हारे पास आने वाले का भला है। तुम्हें जीवन-पद्धति को बदलना होगा। तुम अब सुगंध बिखेरो।

गुलाब को यह बात पसन्द आ गई। उसने फूल उगाए। फूल उगे, बड़े ही सुन्दर और आकर्षक। चारों ओर सुरभि बिखरने लगी। लोग आने लगे। भीनी-भीनी और मधुर सुगन्ध में खो गए। गुलाब ने देखा। जीवन के दोनों कोण उसके सामने थे। वह दोनों को भोग चुका था।

जीवन-पद्धति भी दो प्रकार की होती है। एक जीवन-पद्धति है कांटों वाली और दूसरी जीवन-पद्धति है फूलों वाली। जो लोग राग-द्वेष-मुक्त चेतना को नहीं जगाते, समता का अभ्यास नहीं करते, सामायिक की उपासना नहीं करते, वे अपनी सुरक्षा के लिए कांटे लगाते हैं। वे चारों ओर शस्त्रों का अंबार लगाते हैं और उन्हें सुरक्षा का साधन और भय-मुक्ति का कारण मानते हैं।

शस्त्रों से सुरक्षा होती नहीं। एक के पास कांटा है तो दूसरे के पास उस कांटे को तोड़ने वाला दूसरा बड़ा कांटा है। इस कांटों की दुनियां में कोई कांटा सबसे बड़ा नहीं है। हर कांटा छोटा होता है, जब उसके सामने बड़ा कांटा आकर खड़ा हो जाता है। इन कांटों को समाप्त किया जाता है, फूलों के विस्तार के द्वारा। हमारी जीवन-पद्धति फूलों की पद्धति बने। वह ध्यान, समता और राग-द्वेष-मुक्त चेतना के द्वारा ही संभव हो सकती है।

ध्यान का अभ्यास करने वाले यह कभी न मानें कि ध्यान का मार्ग कठिनाई से मुक्त है। बड़ी कठिन है ध्यान की साधना। किन्तु यह जीवन की पद्धति को बदलने का उपक्रम है। जीवन की पद्धति को बदलना, विकास करना खतरे से खाली नहीं होता। कठिनाइयां आती हैं। जोखिम लेनी पड़ती है। इस दुनिया में ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी आदमी ने विकास किया हो और खतरा मोल न लिया हो। ऐसा कभी होता नहीं।

आचार्य तुलसी ने तेरापंथ का बहुत विकास किया, पर हम जानते हैं कि प्रत्येक विकास के उपक्रम के साथ खतरे की संभावना बनी रहती थी, जोखिम उठानी पड़ती थी। जो खतरे और जोखिम से डरता है, वह फकीर का फकीर रह सकता है, जहां बैठा है, वहीं बैठा रह सकता है, पर विकास नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति में साहस होता है, धैर्य होता है, कठिनाइयों को झेलने की क्षमता होती है, वह खतरों को मोल लेता है और आगे बढ़ता जाता है। वैसे व्यक्तियों का उपादान पाकर ही ऐसी सृष्टि का निर्माण होता है, जहां कांटे नीचे रह जाते हैं और फूलों की सुरभि से सारा वायुमण्डल सुरभित हो जाता है।

ध्यान : कठिन या सरल

ध्यान वर्तमान विश्व का सबसे अधिक चर्चित विषय है। विज्ञान भी बहुत चर्चित रहा है। किन्तु ध्यान उससे भी महत्त्वपूर्ण चर्चा का विषय बन गया। विज्ञान के परिणामों को जान लेने और देख लेने के बाद मनुष्य को लगा कि जो चाहिए था, वह अब तक नहीं मिला। विज्ञान की बहुत उपलब्धियां सामने आयीं, सुख-सुविधाओं के साधन बढ़े, प्रचुर विकास हुआ, प्रगति शिखर को चूमने लगी। इतना होने पर भी मनुष्य की प्यास बुझी नहीं। वह प्यासा ही रह गया। उसकी भूख मिटी नहीं। वह भूखा ही रह गया। उसे यह अनुभव हो रहा है कि प्यास से कंठ सूखता जा रहा है और जठराग्नि अधिक प्रज्वलित हो रही है। कुछ ऐसा उपाय हो, जिससे प्यास शांत हो, भूख मिटे। उपाय की खोज प्रारम्भ हुई। प्रबुद्ध लोग अध्यात्म की ओर मुड़े और विशेषतः वे लोग मुड़े जो भौतिकता के अन्तिम बिन्दु पर पहुंच चुके थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि मनुष्य की प्यास अध्यात्म के द्वारा ही बुझ सकती है। विज्ञान के पास इसका कोई उपाय नहीं है। इस निरुपायता से फिर अध्यात्म की ज्योति जली है, फिर ध्यान का मूल्यांकन हुआ और उसका महत्त्व बढ़ा है। इसलिए आज समूचे विश्व में विज्ञान से भी ज्यादा चर्चित विषय है ध्यान।

ध्यान अध्यात्म का प्राण है। ध्यान के बिना अध्यात्म का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, उसे समझा और परखा नहीं जा सकता। व्यक्ति के मन में एक प्रश्न निरन्तर उभरता रहता है कि ध्यान का महत्त्व है किन्तु उसकी आराधना कठिन है। उसकी साधना सरल नहीं है। प्रश्न है कठिनता का और सरलता का। वह कठिन इसलिए लगता है कि उसके साथ कुछ पूर्व धारणाएं जुड़ी हुई हैं। उसके साथ भय की भावना जुडी हुई है। जैसे ही आदमी ध्यान करने आंखें मूंदकर बैठता है, विकल्पों का जाल-सा बिछ जाता है। जो विकल्प सामान्यतः नहीं आते, चलते-फिरते या काम करते हुए नहीं आते, अन्यान्य की चर्चा करते समय नहीं आते, वे सारे विकल्प, जानी-अनजानी स्मृतियां ध्यान में बैठते ही आने लग जाती हैं। ध्यान से पूर्व यह प्रतीत होता

है कि चेतना का आकाश शून्य है, खाली है। आंखें बन्द करते ही विकल्प के बादल मंडराने लग जाते हैं। वे गरजते हैं, बरसने की तैयारी करते हैं और उनमें बिजलियां कौंधने लगती हैं। विकल्पों का तांता टूटता ही नहीं। एक के बाद दूसरा विकल्प उठता रहता है और वह अन्तहीन बन जाता है। साधक घबरा जाता है। वह सोचता है, यह क्या हो गया ? इससे तो अच्छा होता कि ध्यान ही नहीं करते। उस समय विकल्प कहां थे ? ध्यान में इतने विकल्प कि जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ध्यान बड़ी कठिन साधना है।

एक भाई आकर बोला—मैंने ध्यान की साधना शुरू की थी, पर अब छोड़ दी है। मैंने माला जपना और सामायिक करना भी प्रारम्भ किया था, पर उन्हें भी छोड़ देना पड़ा। मैंने पूछा—क्यों ? ऐसी क्या स्थिति आ गई थी ? वह बोला—जब मैं ध्यान नहीं करता, माला नहीं जपता और सामायिक नहीं करता तब अच्छा बना रहता हूं और जब ये क्रियाएं करता हूं तब गन्दा बन जाता हूं। इसलिए मैंने यह निर्णय किया है कि न करना ही अच्छा है।

उस भाई की बात सही है, गलत नहीं है। पर हम उस सचाई को नहीं जानते कि ऐसा क्यों होता है ? आदमी ने बहुत गंदगी एकत्रित कर रखी है। वह बाहर की सफाई बहुत करता है, पर भीतर की सफाई वह करता ही नहीं। उसे वह जरूरी भी नहीं लगती। वह बाहर से चंगा और भीतर से गंदा है। कितना गंदा !

एक अमेरिकन महिला डॉक्टर जे० सी० ट्रस्ट ने हाई फ्रीक्वेन्सी के कैमरों से फोटो लिए। वह अपनी पुस्तक 'एटम एण्ड ओरा' में लिखती है—मैंने साफ-सुथरे और सुन्दर शरीर वाले व्यक्तियों के फोटो लिए, किन्तु उनका आभामण्डल बहुत मैला, घिनौना, भद्दा, देखते ही घृणा उत्पन्न करने वाला था। यह उनके मनोभाव का प्रतीक था। ऐसे लोगों के भी फोटो लिए जो दीखने में भद्दे, मैले-कुचैले, गंदे वस्त्र पहने हुए थे, किन्तु उनका आभा-मंडल उज्ज्वल, निर्मल पवित्र था। मैं यह देखकर हैरान रह गई। मैंने सोचा—यह क्यों ? इसका समाधान यह मिला कि जिस व्यक्ति की भावना निर्मल होती है, उसका आचार पवित्र होता है, जिसका विचार शुद्ध होता है, जिसका व्यवहार करुण और अहिंसा से परिपूर्ण होता है, उस व्यक्ति का आभामंडल अत्यन्त पवित्र, निर्मल और सुन्दर चमकीलें रंगों वाला होता है, फिर भले ही

वह व्यक्ति भद्दे शरीर वाला हो या गंदे कपड़े पहने हुए हो। जिस व्यक्ति का आचार और विचार निर्मल नहीं है, व्यवहार क्रूरतापूर्ण है, वह कितने ही साफ-सुथरे कपड़ों में रहे, उसका आभामंडल गंदा होगा, काले रंगों वाला होगा, भद्दा होगा।

आज के आदमी का विश्वास बाहरी शुद्धि में अधिक है, भीतरी शुद्धि में कम है। वह प्रतिदिन अपने भीतर अपवित्र विचारों, वासनाओं और बुरे संस्कारों का संग्रह करता है, कितना बड़ा भण्डार भरा हुआ है। उसे खाली करना भी संभव नहीं है। परत पर परत जमती चली जाती है। इतनी परतें जम गई हैं कि उनको उखाड़ना भी सहज नहीं है। आदमी जब प्रवृत्ति में होता है तब चंचल होता है। चंचलता अपने आप में बुराई है। उस स्थिति में उसे भीतरी संस्कारों का बोध नहीं होता। जैसे ही वह स्थिर होता है, आंखें बन्द कर बैठता है, तब भीतरी संस्कार विरोध करना प्रारम्भ कर देते हैं। भीतर में प्रतिक्रिया होती है और तब विकल्प एक-एक कर उखड़ने लगते हैं। कूड़ा-कर्कट का ढेर जब जमा हुआ होता है, तब उससे उतनी बदबू नहीं आती, जितनी बदबू उखेड़ते समय आती है। ध्यान में मन जब एकाग्र होता है, तब भीतर में स्थित वासनाएं उभरती हैं, क्रोध और हिंसा की भावना जागती है, किसी की हत्या कर डालने या चोरी करने का विचार उभरता है, और न जाने कितनी भावनाएं, कितने विचार जागते हैं और बाहर आते हैं। इन्हें देख आदमी घबरा जाता है। वह सोचता है—इतने विचार तो पहले कभी नहीं सताते थे। जब से मैंने ध्यान शुरू किया है, तब से बुरी-बुरी छायाएं, आकृतियां सताने लग गईं।

ध्यान सताने की प्रक्रिया नहीं है। यह जमे हुए खजाने को बाहर निकालने की प्रक्रिया है। जो जमा पड़ा है, वह ध्यान के द्वारा उखड़ता है और बाहर जाना चाहता। आदमी इसे गलत समझ लेता है। यहीं ऐसी स्थिति में गुरु की आवश्यकता होती है। यदि कोई उपयुक्त गुरु नहीं मिलता तो साधक स्थिति से घबराकर जो करता है, उसे भी छोड़ देता है और यदि उपयुक्त गुरु का योग मिल जाता है, सही मार्गदर्शन मिलता है तो वह घबराता नहीं, सोचता है—बीमारी पाल रखी है, दवाई लेनी शुरू की है, रिएक्शन तो होगा ही। दवा का काम है—बीमारी को जड़ से उखाड़ना। जब जड़ें उखड़ेंगी तो सामने वाला भी प्रतिरोध करेगा, प्रतिक्रिया जताएगा। यह प्रतिक्रिया कोई बुरी बात नहीं है। उसे संभालने की जरूरत है। उसे संभालने वाला चाहिए

और ठीक व्यवस्था देने वाला चाहिए। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि ध्यान-साधना बहुत कठिन साधना है।

दूसरा पहलू यह है कि ध्यान करना बहुत सरल साधना है। इसमें कुछ करना नहीं पड़ता। इसमें केवल स्थिर होकर बैठना पड़ता है। न चलना-फिरना, न बोलना, न सोचना, कुछ भी नहीं करना पड़ता। यह कठिन कैसे है? कठिन तब होता जब इसमें भार उठाना होता, लम्बी यात्रा करनी होती। दुनिया में पैदल चलना, यात्रा करना, बोझ उठाना, दूकानदारी करना, खेती करना, लड़ाई करना, गृहस्थी चलाना—ये सारे कठिन कार्य हैं। ध्यान बहुत सीधा कार्य है। उसमें कुछ भी नहीं करना पड़ता। न खाना-पीना, न चलना-बोलना, कुछ भी नहीं। केवल शांत होकर बैठे रहना। कितना सरल और सीधा कार्य है यह! ध्यान से अधिक सरल कार्य है ही नहीं दुनिया में।

कठिन और सरल कुछ भी नहीं होता संसार में। यह केवल सापेक्ष कथन है। जिसकी उपयोगिता समझ में न आए, वह काम कठिन मान लिया जाता है। किसान खेती करता है। उससे पूछा जाए—क्या खेती करना कठिन काम है? वह कहेगा—नहीं, खेती करना सबसे सरल काम है। न इसमें खाते-बही की जरूरत होती है और न सरकारी कागजात बनाने की आवश्यकता होती है। इससे अधिक सरल काम कोई भी नहीं संसार में। चार मास परिश्रम करो और आठ मास घर बैठे मौज करो। खेती की उपयोगिता बहुत स्पष्ट है। जिसकी उपयोगिता का स्पष्ट अनुभव होता है, उसमें आदमी को किसी भी प्रकार की कठिनाई महसूस नहीं होती। यदि खेती की कोई उपयोगिता न हो, अनाज कोई काम न आता हो, उस स्थिति में किसान से कहा जाए कि तुम खेती करो तो वह एक ही दिन में घबरा जाएगा। वह कहेगा—इतनी तेज धूप में हल चलाना, बीज बोना, कितना कठिन काम है। वह खेती नहीं कर पाएगा। किन्तु जिसकी उपयोगिता को आदमी मान लेता है, उस कार्य में उसे कठिनाई का अनुभव नहीं होता। कठिनता और सरलता के निर्णय का एकमात्र सूत्र है—उपयोगिता और अनुपयोगिता। उपयोगी होता है वह सरल और अनुपयोगी होता है वह कठिन।

ध्यान कठिन होता है उसके लिए जिसको ध्यान करने की सही विधि हस्तगत नहीं हुई है। ध्यान की तकनीक, पद्धति का बोध होना चाहिए। करने की पद्धति का बोध नहीं होता, तब प्रत्येक कार्य कठिन हो जाता है।

करने की पद्धति का बोध होता है, तब वही कार्य सरल बन जाता है। आदमी अवधि या बिना पद्धति से वर्षों तक ध्यान करता रहे, उसे मिलेगा कुछ भी नहीं। तब उसकी धारणा बन जाएगी कि ध्यान-साधना कठिन है। जब पद्धति हाथ में आ जाएगी, तब ध्यान-साधना सरल प्रतीत होने लगेगी। उन्हें लगेगा कि ध्यान-साधना आनन्द प्राप्ति का सरलतम उपाय है। आनन्द की अनुभूति है तो वह काम कठिन कैसे ? पद्धति का ज्ञान होना चाहिए।

सास ने बहू से कहा—'बहूरानी ! बाहर जा रही हूं। खयाल रखना, घर में अंधेरा न घुस जाए।' सास चली गई। सूर्यास्त हुआ। बहू भोली थी। उसने सोचा—'अब अंधेरे के आने का समय है।' उसने सबसे पहले सारे दरवाजे और खिड़कियां बन्द कर दीं। सारे रास्ते बन्द कर दिए। अंधेरे के आने के लिए कोई रास्ता खुला नहीं छोड़ा। फिर भी धीरे-धीरे अंधेरा छाने लगा। सारा घर अंधेरे से भर गया। बहू ने हाथ में लाठी ली और अंधेरे को पीटना शुरू किया। हाथ छिल गए। लहूलुहान हो गए। अंधेरा सघन होता गया। सास आयी। बहू की स्थिति देखकर बोली—'बहूरानी, अंधेरा लाठियों से नहीं मिटता। वह दीपक जलाने से मिटता है।' सास गई, दियासलाई ली, दीपक जलाया, अंधेरा मिट गया।

अंधेरे को मिटाने की पद्धति होती है, तकनीक होती है।

ध्यान की भी एक पद्धति है, तकनीक है। दस-बीस वर्ष तक भी ध्यान करते रहो, यदि विधि हस्तगत नहीं है तो अंधेरा गायब नहीं होगा, यह चैत का सूर्य प्रकाशित नहीं होगा, माया और मूर्च्छा का तिमिर मिटेगा नहीं। यदि विधि हस्तगत हो जाए, चेतना की रश्मि प्राप्त हो जाए तो अन्धेरा गायब हो जाएगा, अन्यथा भटकाव के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। जब व्यवस्थित पद्धति से ध्यान किया जाता है, तब आदमी को अनेक अनुभव होते हैं और वह ध्यान को निरर्थक नहीं मानता। जब तक कोई निजी अनुभव नहीं होता, तब ध्यान उसके लिए निरर्थक होता है।

इसलिए ध्यान सरल है या कठिन, इसका कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। ध्यान कठिन भी है और सरल भी है। उपयोगिता का बोध हो गया और पद्धति हस्तगत हो गई तो ध्यान सरल है। उपयोगिता का बोध नहीं हुआ और पद्धति पकड़ में नहीं आयी तो ध्यान कठिन है।

आज के जन-जीवन में ध्यान की अत्यधिक उपयोगिता है। आज के लोग कहते हैं—अब धर्म उपयोगी नहीं रहा। इतनी भौतिक प्रगति और वैज्ञानिक

शोध हो जाने के पश्चात् धर्म अनुपयोगी हो गया, पुराना बन गया। वह अतीत की स्मृतिमात्र बन गया। इस इक्कीसवीं सदी में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रही यह कथन भ्रमपूर्ण है। क्या हम शाश्वत तत्त्व को अनुपयोगी सिद्ध कर सकेंगे ? जो शाश्वत है, त्रैकालिक है, वह अनुपयोगी कैसे हो सकता है ? धर्म यदि सचाई है, त्रैकालिक है तो कभी अनुपयोगी नहीं हो सकता। आज के युग में धर्म की और अधिक उपयोगिता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। भौतिक शरीर के लिए सारी सुविधाएं जुटा लेने के बाद भी हमारा मानव शरीर और भावनात्मक शरीर आज ज्यादा व्यथित है। हम तीन आयामों में जीते हैं—

१. भौतिक शरीर का आयाम,

२. मन का आयाम,

३. भावना का आयाम।

भौतिक शरीर स्थूल है। मन उससे सूक्ष्म है और भावना उससे भी सूक्ष्म है। भावना मन को प्रभावित करती है और मन शरीर को प्रभावित करता है। ये तीनो जुड़े हुए हैं। यदि हम केवल इस भौतिक शरीर को ही पकड़ते हैं, समूचा ध्यान इसी पर केन्द्रित करते हैं तो समस्या का समाधान नहीं होता। यही कारण है कि आज का आदमी अधिक पागल होता जा रहा है, मानसिक विकृतियों से अधिक ग्रस्त होता जा रहा है। आदमी ने अपनी सारी शक्ति इस स्थूल शरीर पर केन्द्रित कर रखी है। इस शरीर को आराम मिले, इसे सुख-सुविधा मिले, यही उसका लक्ष्य बन गया है। किन्तु सचाई यह है कि जब तक आदमी मन पर ध्यान नहीं देता, भावना पर ध्यान नहीं देता, वह समस्या से कभी मुक्त नहीं हो सकता। आदमी समस्या को सुलझाता ही कहां है ? वह एक समस्या को इस जेब से उस जेब में डाल देता है और अनूभव करता है कि वह उस समस्या से मुक्त हो गया। यह कैसी मुक्ति ?

एक आदमी बस में यात्रा करता था। वह बस में केले खाता और छिलके को खिड़की से सड़क पर फेंक देता। एक दिन एक भाई ने कहा—भाई ! सड़क पर छिलके डालना उचित नहीं है। दूसरे फिसलकर गिर पड़ते हैं। छिलकों को एकान्त में डालना चाहिए। उसने कहा—अच्छी बात है।

दूसरे दिन की बात है। पूर्व दिन वाले दोनों यात्री एक ही बस में बैठे हुए थे। एक ने केले छीले, खाए और छिलके डाल दिये। सड़क पर नहीं,

अन्यत्र कहीं। साथी ने कहा—धन्यवाद ! कल मैंने कहा, उसे तुमने मान लिया। आज छिलके सड़क पर नहीं फेंके। उसने कहा—सड़क पर तो नहीं फेंके पर मेरे पास में जो दूसरा यात्री बैठा था, उसकी जेब में चुपके से छिलके डाल दिये। सड़क पर उन्हें डालने की नौबत ही नहीं आयी।

संभव है, हर आदमी ऐसा ही करता है। वह समस्या को दूसरों के जेब में डालता जाता है और यह मान लेता है कि समस्या का समाधान हो गया। समस्या सुलझती नहीं। एक समस्या सुलझती है तो दूसरी उलझ जाती है।

समस्या समाधान का सही मार्ग है—मन पर ध्यान देना, भावनाओं पर ध्यान देना। शरीर के लिये जो भी काम किया जाता है, उसको करने से पूर्व यह सोचना होगा कि मैं यह काम शरीर की सुविधा के लिये कर रहा हूं, पर इससे कहीं मन की समस्या उलझ तो नहीं रही है ? कहीं भावना की समस्या गहरी तो नहीं होती जा रही है ? हम तीनों समस्याओं पर एक साथ ध्यान दें। जब तक शरीर की समस्या, मन की समस्या और भावना की समस्या पर समवेत रूप में ध्यान नहीं देंगे, तब तक समाधान नहीं मिलेगा।

भावना की समस्या होती है। भावना में राग-द्वेष होता है। राग की भी समस्या होती है और द्वेष की भी समस्या है। वह सोचे, मैं ऐसा काम तो नहीं कर रहा हूं, जिससे की राग-द्वेष बढ़े, भावनाएं मलिन हों। ये आगे बहुत सताएंगी।

शरीर को कौन सताता है ? शरीर तो बेचारा जड़ है, उसे सताता कौन है ? ये भावनाएं शरीर को सताती हैं। भावनाएं बहुत सूक्ष्म होती हैं। जब ये अपने परमाणुओं का विकिरण करती हैं, तब ये मन को सताती हैं। मन जब सताया जाता है, तब वह सोचता है—मैं अकेला ही क्यों भोगूं ? शरीर भी तो मेरा साथी है। मन परमाणुओं का विकिरण करता है और तब बेचारा शरीर भी सताया जाता है। सबसे अधिक दंड शरीर को भोगना पड़ता है। हम शरीर के लिए जो कुछ करें, उसके साथ-साथ यह भी सोच लें कि इस क्रिया का प्रभाव मन पर क्या होगा, भावना पर क्या होगा ? किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मन को देखने वाली आंख भी आदमी की बंद है और भावना को देखने वाली आंख भी बंद है। उसके सामने शरीर को देखने की एक ही आंख खुली है। दो आंख होते हुए भी आदमी 'काना' (एक आंख वाला) बन रहा है। एक नहीं, सभी आदमी काने हैं, काने व्यक्ति का-सा व्यवहार कर रहे हैं। वे केवल शरीर को ही देखते हैं, इसलिए काने हैं। वे न मन को

देखते हैं और न भावना को।

जिस व्यक्ति ने ध्यान किया है, जिसने चित्त को निर्मल बनाने की साधना की है, उसकी तीनों आंखें खुल जाती हैं। कितना बड़ा लाभ होता है। तीनों आंखें बराबर काम करने लग जाती हैं। वह प्रत्येक कार्य को करते समय शरीर को देखता है, मन को देखता है और भावना को देखता है, तीनों को देखता है। फिर यह निर्णय करता है कि यह कार्य लाभप्रद है या नहीं ? यह कार्य करूं या नहीं ? कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय पुस्तकों के आधार पर नहीं हो सकता। वह निर्णय हो सकता है अपनी निर्मल चेतना के आधार पर। निर्मल चेतना का जागरण होता है, ध्यान के द्वारा। जब आदमी ज्ञाता है और द्रष्टा बनता है, तब उसकी निर्मल चेतना जागती है। जब निर्मल चेतना का जागरण होता है, तब भोक्ता बनना कठिन होता है, ज्ञाता-द्रष्टा बनना सरल होता है। जब तक निर्मल चेतना नहीं जागती, जब तक भोक्ता बनना सरल होता है, ज्ञाता-द्रष्टा बनना कठिन होता है। ध्यान का उपयोग है ज्ञाता-द्रष्टा बनना। इसका तात्पर्य है, हर घटना को जानना-देखना किन्तु उसको भोगना नहीं। यह स्थिति ध्यान-साधक के लिए सहज बन जाती है। जब ध्यान की चेतना नहीं जागती, एकाग्रता और निर्मलता का अभ्यास नहीं होता, उस स्थिति में भोगना सरल होता है। कोई भी घटना घटती है और वह उसे भोगने लग जाता है। उसके प्रभाव से प्रभावित हो जाता है।

इस सारे सन्दर्भ में जब हम धर्म या ध्यान पर विचार करते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज के युग को इनकी अपरिहार्य आवश्यकता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। आज का आदमी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक बीमारियों से ग्रस्त है क्योंकि वह शारीरिक (फिजिकल), मानसिक (मेंटल) और भावनात्मक (इमोशनल)—इन तीनों प्रकार के तनावों से पीड़ित है। आज ये तीनों जितनी प्रचुर मात्रा में हैं, उतनी मात्रा में पहले नहीं थे। ध्यान के द्वारा ही इनसे छुटकारा पाया जा सकता है। इस सन्दर्भ को ध्यान में रखकर ही हम कह सकेंगे कि ध्यान कितना कठिन है और कितना सरल है ?

नमस्कार महामंत्र : प्रयोग और सिद्धि

पौष का समय शारीरिक वृद्धि के लिए होता है और लोग अकसर शरीर पर बहुत ध्यान देते हैं। वे शरीर को स्वस्थ रखना चाहते हैं पुष्ट रखना चाहते हैं, मांसल बनाना चाहते हैं। वह सुन्दर दीखे, यही कामना रहती है। इस भ्रम को तोड़ना है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि शरीर स्वस्थ न हो या शरीर सुन्दर न हो। पर हमारा ध्यान केवल शरीर के सौन्दर्य पर, शरीर के स्वास्थ्य पर ही केन्द्रित हो जाता है तो हम बहुत बड़ी उपलब्धि से वंचित रह जाते हैं। वास्तव में सौन्दर्य होना चाहिए मस्तिष्क का। जिसका मस्तिष्क सुन्दर है, वह सुन्दर होता है और जिसका मस्तिष्क सुन्दर नहीं होता, वह भद्दा है। फिर चाहे वह दीखने में कितना ही गोरा हो या कितना ही सुगठित हो, पुट्ठे कितने ही मजबूत हों। सारी शक्तियों का जो मूल स्रोत है, वह है मस्तिष्क। मस्तिष्क से सारा कंट्रोल होता है। जब मस्तिष्क के सेल्स लड़खड़ा जाते हैं तो जीवन की सारी यात्रा लड़खड़ा जाती है।

आवश्यक है मस्तिष्क को स्वस्थ और सुन्दर रखना। जिस व्यक्ति ने अपनी शक्ति को, चाहे सर्दी का समय हो, चाहे गर्मी का समय हो, मस्तिष्क के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए और मस्तिष्क को स्वस्थ रखने के लिए लगाई है, वह वास्तव में समझदार आदमी है।

स्वास्थ्य जरूरी होता है। एक व्यक्ति को देखा, उसका शरीर कांप रहा है, न पैर टिकते हैं, न हाथ टिकता है और न कंधे टिकते हैं। इसका क्या कारण बना ? जो शरीर का संतुलन रखने वाला, हमारी कनपटियों के पास केन्द्र है, उसमें गड़बड़ी हो गई और सारा शरीर लड़खड़ा गया। उससे सारा शरीर लड़खड़ा जाता है, पूरा व्यक्तित्व लड़खड़ा जाता है।

हम ऐसा उपाय करें, जिससे कि मस्तिष्क स्वस्थ रहे। मस्तिष्क स्वस्थ रहेगा तो शरीर अपने आप स्वस्थ रहेगा। शरीर का स्वास्थ्य और मन का स्वास्थ्य—दोनों जुड़े हैं। इन्हें अलग करना बहुत कठिन काम है। आपको ज्ञात है कि बहुत सारी बीमारियां शरीर की बीमारियां नहीं होतीं, मन की

बीमारियां होती हैं। स्वास्थ्य भी शरीर का नहीं, ज्यादा मन का होता है। आज कायिक बीमारियां कम हैं, मनोकायिक बीमारियां ज्यादा हैं। वे ही ज्यादा परेशान करती हैं। हार्ट ट्रबल बहुत है। कैंसर की बीमारी बहुत है। अल्सर बहुत है। ये सारी बीमारियां और इस प्रकार की अन्य भयंकर बीमारियां मनोकायिक बीमारियां हैं।

हमारे सामने दो बातें आती हैं—शरीर का स्वास्थ्य और मन का स्वास्थ्य। शरीर का बल और मन का बल। इन दोनों में भी एक सम्बन्ध है। हम सोचें वास्तविक स्वास्थ्य क्या है ?

एक लेखक ने कविता लिखी और संपादक के पास प्रकाशनार्थ भेज दी। उसमें लिखा—'संपादक महोदय ! आपके पत्र में आजकल बहुत सारी कविताएं छपती हैं। मैं पढ़ता हूं और मेरी धारणा बनी है कि उन कविताओं में सिर-पैर नहीं होते। मैं जो आपको कविता भेज रहा हूं, उसमें सिर भी है, पैर भी हैं। आप पढ़कर स्वयं जान लेंगे।' कुछ दिनों बाद संपादक ने कविता को लौटाते हुए लिखा—'तुम्हारी कविता में सिर और पैर मिले, पर प्राण नहीं मिला, इसलिए लौटा रहा हूं।'

कोरा सिर और पैर काम नहीं देता, जब प्राण नहीं होता। हमारी सारी शक्ति का, हमारे स्वास्थ्य का आधार प्राणशक्ति होती है। प्राण नहीं होता तो सिर पड़ा रहे, पैर पड़े रहें, सारे शरीर का ढांचा पड़ा रहे तो कुछ नहीं होता। प्राण चला गया तो सब कुछ चला गया। प्राण है तो सब कुछ है। हमारी स्वास्थ्य की धारणा बदलनी चाहिए। शरीर का स्थूल होना, मांसल होना, यह कोई स्वास्थ्य की अवधारणा नहीं है। स्वास्थ्य का अर्थ होता है प्राणशक्ति की प्रचुरता। जिस व्यक्ति में प्राणशक्ति की प्रचुरता होती है, वह स्वस्थ होता है और जिसकी प्राणशक्ति दुर्बल बन जाती है, वह अस्वस्थ बन जाता है।

चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से हर व्यक्ति के चारों ओर बीमारी के कीटाणु, नाना प्रकार के वायरस परिक्रमा करते रहते हैं, शरीर के भीतर प्रवेश करते रहते हैं। किन्तु तब तक वे आक्रमण नहीं कर सकते जब तक हमारी प्रतिरोधात्मक शक्ति अच्छी होती है। जब तक शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति अच्छी होती है तब तक उनका वश नहीं चलता। जब शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति कम हो जाती है, लाल अणुओं के साथ श्वेत अणु कम हो जाते हैं और उनके लड़ने की क्षमता कम होती है तो वे कीटाणु और जीवाणु

आक्रमण करना शुरू कर देते हैं। यह रजिस्टेंस पॉवर क्या है? यह उसी प्राणशक्ति की एक धारा है जो हमारे शरीर के भीतर प्रवाहित होती है। इस सन्दर्भ में नमस्कार महामंत्र को समझा जा सकता है।

प्राण-विकास का बहुत बड़ा साधन है—शब्द। शब्द की तरंगें हमें बहुत प्रभावित करती हैं। दो तरंगें हैं। एक शब्द की तरंग और एक रंग की तरंग। ये व्यक्ति को बहुत ज्यादा प्रभावित करती हैं। दोनों तरंगें हैं और दोनों हैं प्रकाश की तरंगें। रंग प्रकाश का उनंचासवां प्रकम्पन है। शब्द भी एक प्रकम्पन है। ये दोनों प्रकम्पन व्यक्ति को बहुत प्रभावित करते हैं। जितने शब्द हैं, वे अपनी तरंग पैदा करते हैं। यह तो आपने देखा है कि तालाब में एक ढेला फेंका और एक लहर बन गई। यह शायद नहीं देखा हो कि बोलते हैं और एक लहर बन जाती है। हमने तो देखा है। पूना के डक्कन कॉलेज में हम गए। वहां देखा कि यंत्र लगा हुआ है। जैसे ही हम बोलते हैं, उस यंत्र पर एक लहर-सी दौड़ जाती है। कभी ऐसा लगता कि कोई सांप दौड़ रहा है। कभी ऐसा लगता कि कोई बिजली की धारा प्रवाहित हो रही है। नाना प्रकार की आकृतियां उसमें बन जाती हैं। हम जो भी बोलते हैं, उसकी तरंगें बन जाती हैं। मंत्र की शक्ति का एक अर्थ होता है, शब्दों का वह चयन जो शक्तिशाली प्रकंपन पैदा कर सके। वे पूरे वायुमंडल को, पूरे आकाश-मंडल को प्रकंपित कर सकें। यह मंत्रशक्ति का एक अंग होता है।

मंत्र में शब्द होता है, अर्थ होता है, उच्चारण होता है और भावना होती है। शब्द, अर्थ, उच्चारण और भावना—मंत्र-शक्ति के ये चार अवयव हैं। पहली बात है कि मंत्र की साधना करने वाला व्यक्ति इस बात को जानता है कि किन शब्दों का चयन करना है। थोड़ा-सा गलत होता हैं तो मन्त्र हानि भी बहुत पहुंचाता है। शब्दों का चयन गलत हो गया, बहुत नुकसान कर देगा और शब्दों का चयन ठीक हुआ तो बहुत कल्याणकारी बन जाएगा। अर्थ का बोध भी होना चाहिए कि मन्त्र का अर्थ क्या है? तीसरी बात है उसका उच्चारण सही होना चाहिए। उच्चारण में गड़बड़ी भी बहुत कठिनाई पैदा करती है। अगर एक ही प्रकार के प्रकम्पन पैदा नहीं होते, बीच में धार टूट जाती है, तरंग की जितनी लम्बाई होनी चाहिए वह नहीं होती, बीच में टूट जाती है तो वह शक्ति पैदा नहीं होती। चौथी बात है उसके साथ श्रद्धा और भावना का योग होना चाहिए। प्राथमिकता की दृष्टि से

देखें तो पहली बात है श्रद्धा। जितना श्रद्धा का योग होगा, मन्त्र उतना ही फलदायी बनेगा। फिर उसके बाद उच्चारण की बात को भी गौण नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि श्रद्धा है और गलत उच्चारण में काम बन जाता है पर जितना काम बनना चाहिए, उतना नहीं बनता। अगर चारों बातें ठीक होती हैं तो लाभ हो सकता है, वह लाभ त्रुटि रहने पर नहीं हो सकता। ये चारों बातें ठीक होनी चाहिए—श्रद्धा, सम्यक् उच्चारण, अर्थ का बोध और शब्दों का सम्यक् चयन।

नमस्कार महामन्त्र ऐसा मन्त्र है कि जिसमें शब्दों का शक्तिशाली चयन हुआ है। कहा जा सकता है कि दुनिया में जितने मन्त्र उपलब्ध हैं, उन मन्त्रों से अधिक शक्तिशाली कहूं तो आप स्वीकार करें या न करें पर किसी भी मन्त्र से यह काम शक्तिशाली नहीं है, यह कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं लगती।

केवल जैन परंपरा के ही नहीं, दूसरे विद्वान्, दूसरे मन्त्रविद् इस बात को स्वीकार करते हैं कि नमस्कार महामन्त्र बहुत शक्तिशाली मन्त्र है। अभी-अभी सरदार शहर में इस विषय को जानने वाले एक अजैन व्यक्ति ने कहा—मैंने अनेक मन्त्रों का जप किया, पर इतना शक्तिशाली मन्त्र मुझे कोई नहीं लगा। यह पुस्तक की नहीं किन्तु अपने अनुभव की बात बता रहा हूं।

एक मुसलमान भाई था जो नमस्कार महामन्त्र का बहुत प्रयोग करता था। वह कहता कि जैन लोग क्यों जगह-जगह भटकते हैं। उनके पास नमस्कार महामन्त्र जैसा शक्तिशाली मन्त्र है, फिर स्थान-स्थान पर क्यो जाते हैं? आवश्यकता क्या है?

शक्तिशाली क्यों है? इस गहराई में अभी मैं नहीं जाऊंगा क्योंकि मेरे सामने जो परिषद् है, वह इस गहराई को नहीं पकड़ पाएगी। अग्नितत्त्व, वायुतत्त्व, आकाशतत्त्व आदि तत्त्व हैं। किस अक्षर में कौन-सा तत्त्व है और किस प्रकार के परमाणुओं की संघटना होती है, कौन-सा कोण बनता है, यह गहरा विषय बन जाएगा, पर इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि जिस मन्त्र में 'णम्' होता है, वह बहुत शक्तिशाली मन्त्र बन जाता है। 'ण' और 'ण' पर अनुस्वार होता है वह बहुत शक्तिशाली मन्त्र बन जाता है। जिस मन्त्र में 'अ' और 'र' होता है, वह मन्त्र बहुत शक्तिशाली मन्त्र बन जाता है और जिस मन्त्र में 'सिद्ध' शब्द होता है, वह मन्त्र बहुत शक्तिशाली बन जाता है। जिस मन्त्र में 'हू' होता है, 'ण' होता है, वह मन्त्र बहुत शक्तिशाली बन

जाता है। 'सव्वसाहूणं', इसमें 'ण' है 'हू' है। अरहंताणं में 'अ' है और 'र' है। अग्नि तत्त्व 'र' और आकाश तत्त्व 'ह'—ये सारे मिलकर मन्त्र को बहुत शक्तिशाली बना देते है।

श्रद्धा इस मन्त्र का मूल हार्द है। यह मन्त्र प्रारम्भ होता है 'णमो' से। 'णमो' अहंकार का विसर्जन है। अहंकार के विसर्जन से ही मन्त्र प्रारम्भ होता है, नमस्कार से ही मन्त्र प्रारम्भ होता है। जो व्यक्ति नमन करता है, नमस्कार करता है, समर्पण करता है, वहां अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं होता।

साधना के क्षेत्र में जिस व्यक्ति ने अहंकार और ममकार पर विजय नहीं पायी, उसकी साधना एक सांसारिक बन जाती है, मात्र लौकिकता बन जाती है। वह साधना में दो कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। साधना का रहस्य होता है—समर्पण और समर्पण का अर्थ होता है—अहंकार और ममकार का विसर्जन। बहुत सारे लोग समर्पण में उलझ जाते हैं। समर्पण है क्या? अपने अहंकार का और अपने ममकार का विसर्जन करने का नाम ही समर्पण है। जब तक अहंकार और ममकार होता है, तब तक समर्पण नहीं आता।

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु है मैं नांहि।
'प्रेमगली अति सांकरी, तां में दो न समाहि।'

कबीर ने लिखा है—जब मैं (अहंकार) था तब गुरु नहीं मिला। चाहे आप आचार्य तुलसी को, आचार्य भिक्षु को गुरु मानें या चाहे और किसी को गुरु मानें, न आपने आचार्य तुलसी को पहचाना, न आचार्य भिक्षु को पहचाना, न किसी अन्य को पहचाना। तब तक गुरु आपके पास भटकेगा ही नहीं, पास में आएगा ही नहीं। 'पाव कोस पर गांव'—गांव तो पाव कोस पर ही था, पर वह उसे ही ढूंढ़ता रहा। पता ही नहीं चला। गुरु तो पास में बैठा है पर मिलता ही नहीं। मिलता कैसे, क्योंकि अहंकार और गुरु दोनों आग और पानी की भांति विरोधी हैं, जो कभी एक नहीं हो सकते। या तो आग होगी या पानी होगा। यदि अहंकार है तो गुरु नहीं मिलेगा। गुरु आ गया तो मैं (अहंकार) चला गया। वह कैसे टिकेगा? यह समर्पण की गली इतनी संकरी है, यह पगडंडी इतनी संकरी है कि इसमें दो एक साथ नहीं चल सकते। मैं और गुरु—दोनों को एक साथ चलाना चाहे तो दोनों एक साथ नहीं चल सकते। या तो गुरु को छोड़ना होगा या मैं को छोड़ना होगा।

नमस्कार महामन्त्र में सबसे पहले 'मैं' को छोड़ने की बात आती है।

'णमो अरहंताणं'—आप जब एक बार नमस्कार कर लेते हैं अर्हत् को, सिद्ध को, आचार्य को या उपाध्याय को तो उनके प्रति समर्पण का भाव बन जाता है और समर्पण का भाव बना कि गुरु आपको मिल गया और मन्त्र आपके लिए फलदायी होना शुरू हो गया। आप जानना चाहेंगे कि इसका स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है ?

प्राणशक्ति का विकास, तैजस शक्ति का विकास ही स्वास्थ्य का मूल स्रोत होता है। हमारा एक शरीर है स्थूल शरीर, जिसे परिभाषा की शब्दावली में कहते हैं—औदारिक शरीर। यह हाड़-मांस या कुछ धातुओं का बना हुआ शरीर है। क्या इतना ही है हमारा व्यक्तित्व ? क्या इतना ही है हमारा अस्तित्व ? इतना ही नहीं है। इससे और आगे है। हमारे इस शरीर के भीतर एक दूसरा शरीर है। उस शरीर का नाम है तैजस शरीर, जिसे प्राणिक शरीर, विद्युत् शरीर कहते हैं। हमारे शरीर में, आज शरीरशास्त्र की दृष्टि से, दो चीजें मुख्य होती हैं—एक विद्युत् और एक रसायन। ये दो ही हमारे सारे व्यक्तित्व का संचालन कर रहे हैं। हमारे शरीर में बिजली है। हमारे मस्तिष्क को काफी बिजली चाहिए। वह बिजली फेल हो जाए, बस मस्तिष्क भी फेल हो जाएगा। सभी तंत्र फेल हो जाएंगे। हमारे शरीर को बिजली की जरूरत होती है। यह बिजली हमारी प्राणधारा है। आज की साइंस की भाषा में उसका नाम है बिजली और जैन दर्शन की भाषा में उसका नाम है—प्राण, प्राणशक्ति। प्राणशक्ति के बारे में आज के परामनोवैज्ञानिक भी बहुत आगे बढ़ गए हैं। बहुत खोजें हो रही हैं 'वाइटल फोर्स' और 'वाइटल एनर्जी' के विषय में। वाइटल एनर्जी जब कम हो जाती है तो व्यक्ति का सारा जीवन बीमार होने लगता है। एक डॉक्टर कितनी ही दवाइयां दें, अगर प्राणशक्ति के कमजोर होने पर दवाई काम करे तो कोई आदमी मरेगा हीं नहीं। हर आदमी को अमर बना दिया जाएगा। किन्तु दवाई तब तक ही काम करती है, जब तक भीतर में प्राणशक्ति प्रबल होती है। प्राणशक्ति के मन्द होने पर कोई काम नहीं होता। हमारे इस शरीर के भीतर दूसरा सूक्ष्म शरीर है—प्राणशक्ति का। वह है तैजस शरीर यानी बिजली का शरीर, प्रकाश का शरीर। मन्त्र का सम्बन्ध इस स्थूल शरीर से शुरू होता है और मन्त्र की शक्ति पहुंचती है उस तैजस शरीर तक। तैजस शक्ति को सक्रिय बनाना, प्राणशक्ति को सक्रिय बनाना, बिजली को शक्तिशाली बनाना यह मंत्र का मुख्य काम होता है।

हम 'णमो सिद्धाणं' का उच्चारण करते हैं। यह 'सिद्धाणं' सूर्य का सूचक है। हमारे शरीर के भीतर सूरज है, चांद भी है, बुद्ध, गुरु, शुक्र, शनि और राहु-केतु भी हैं। हमारे शरीर के भीतर पूरा सौरमंडल है। इस सौरमंडल को पुराने हठयोग के आचार्यों ने चक्र कहा। आज के शरीरशास्त्री इसे प्लेक्सस् कहते हैं। जितने ग्लैण्डस् हैं, अन्तःस्रावी ग्रन्थियां हैं,—पीनियल, पिच्यूटरी, थाइराइड आदि-आदि और एड्रीनल—ये सारे के सारे सौरमंडल हैं। प्रेक्षाध्यान की परिभाषा में इन्हें चैतन्य-केन्द्र कहते हैं। ये चैतन्य केन्द्र हैं। यह हमारे भीतर का सौरमंडल है। जिस व्यक्ति का सूरज कमजोर बन गया तो उसकी बुद्धि कमजोर बन जाएगी। जिस व्यक्ति का बुद्ध और बृहस्पति कमजोर बन गया तो उस व्यक्ति की विवेकशक्ति और चिन्तनशक्ति कमजोर बन जाएगी। जिस व्यक्ति का चन्द्रमा कमजोर बन गया तो उस व्यक्ति का मन दुर्बल बन जाएगा, स्वास्थ्य भी कमजोर बन जाएगा। अब भीतर का सौरमंडल कमजोर बनता है, किसी ज्योतिषी से दिखाओ कुंडली, तो कहेगा—'इस ग्रह का प्रभाव ठीक नहीं हो रहा है और ये गड़बड़ियां पैदा हो रही हैं।'

नमस्कार महामंत्र के द्वारा अपने भीतर के सौरमण्डल को शक्तिशाली बनाया जा सकता है, शारीरिक और मानसिक बल को अधिक विकसित किया जा सकता है। हम जब नमस्कार महामंत्र का भावना के साथ उच्चारण करते हैं तो उस उच्चारण के पांच चैतन्यकेन्द्र होते हैं। 'णमो अरहंताणं'—इसका ध्यान किया जाता है मस्तिष्क पर। यह ज्ञानकेन्द्र है हमारा। 'णमो सिद्धाणं'—इसका ध्यान किया जाता है दर्शनकेन्द्र पर। दोनों भृकुटि और दोनों आंखों के बीच। 'णमो आयरियाणं'—इसका ध्यान किया जाता है विशुद्धिकेन्द्र पर, यानी थाइराइड पर, कंठ का मध्य भाग—कंठमणि पर। 'णमो उवज्झायणं' का ध्यान किया जाता है आनन्दकेन्द्र पर। हृदय के पास जो गड्ढा है उसे आनन्दकेन्द्र या अनाहतचक्र कहते हैं। 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान किया जाता है शक्तिकेन्द्र पर, जो रीढ़ की हड्डी के निचले सिरे में है और ऐसा लगता है कि असंख्य चांदी के चमकते हुए तार विभक्त हो रहे हैं। वहां इसका ध्यान किया जाता है।

ये पांच चैतन्य-केन्द्र हैं, पांच पद हैं और पांच रंग हैं। 'णमो अरहंताणं'—का सफेद रंग के साथ, 'णमो सिद्धाणं' का लाल रंग के साथ, बाल सूर्य के रंग जैसा, 'णमो आयरियाणं' का पीले रंग के साथ, 'णमो उवज्झायणं' का

हरे रंग के साथ और 'णमो लोए सव्वसाहूणं का नीले रंग के साथ। जैन ध्वज में पांचों रंग हैं। इसमें थोड़ा-सा एक भ्रम हो गया, शायद हमारी भूल के कारण ही हुआ। जब महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी मनाई जा रही थी, उस समय चार सम्प्रदाय के हम चार मुनि बैठे और यह निर्णय लिया कि जैनों का एक ध्वज होना चाहिए। जैन-ध्वज के लिए हमने नमस्कार के महामंत्र के पांच पदों के आधार पर पांच रंग चुने। सफेद है—अर्हन्त का। लाल रंग है—सिद्ध का। पीला है—आचार्य का। हरा है—उपाध्याय का। मुनि का होना चाहिए था नीला, किन्तु यहां शब्द था श्याम। श्याम का अर्थ उस समय काला ही कर लिया, वास्तव में श्याम का अर्थ काला नहीं होता। कृष्ण को श्याम वर्ण कहा जाता है। वासुदेव कृष्ण का श्याम वर्ण है। पर श्याम का अर्थ काला नहीं है। श्याम का अर्थ नीला होता है। अरिष्टनेमि का वर्ण श्याम था, पर वह काला नहीं है। यह काले और श्याम के चिंतन में उस समय थोड़ा अन्तर रह गया और यह काला रंग आ गया। वास्तव में यह नीला होना चाहिए। यह ध्वज 'नमस्कार महामन्त्र' का प्रतीक है। पांचों रंग इसके साथ हैं। ये पांच रंग, पांच चैतन्य केन्द्र और नमस्कार महामंत्र के पांच पद—इनका परिणाम क्या होता है? वैदिक लोग संध्या करते हैं। संध्या में विष्णु, शिव और ब्रह्म—तीनों की उपासना की जाती है। आज तो शायद वे लोग भी भूल गए मूल बात को। तीनों की तीन रंगों के साथ पूजा की जाती है। वे तीन रंग हैं—नील, पीत और काला या श्वेत। इन रंगों में पूजा की जाती थी संध्या के समय। क्योंकि हमारे स्वास्थ्य पर रंगों का बहुत अधिक प्रभाव होता है। कारण कि रंग हमारे रसायनों को बदलते हैं, शरीर की विद्युत् को बदलते हैं। ग्रन्थियों के जो स्राव होते हैं, वे स्राव ही वास्तव में हमारे जीवन को संचालित करते हैं। जिस व्यक्ति का थाइराइड ग्लैण्ड ठीक काम नहीं कर रहा है या ज्यादा काम कर रहा है, या तो वह नाटा हो जाएगा या फिर लंबा हो जाएगा। शरीर में मुख्य क्रिया होती है—चयापचय की। वह बिगड़ जाएगी, खराब हो जाएगी। जिसका एड्रीनल ग्लैण्ड ठीक काम नहीं करता, उसकी बहुत सारी क्रियाएं बिगड़ जाएंगी। ये स्राव संतुलित होती हैं—प्राणशक्ति के द्वारा। ये मंत्र उसको संतुलित करते हैं। थाइराइड को संतुलित करते हैं।

हरा रंग आध्यात्मिक रंग है और साथ-साथ में स्वास्थ्य के लिए बहुत अनुकूल होता है। यह शरीर में जमा होने वाले सारे विजातीय तत्त्वों को नष्ट

करता है। एलोपैथी में जितनी एंटीबायोटिक्स हैं, हरा रंग सबसे अच्छा एंटोबायोटिक्स है। उसमें बहुत विषनाशक शक्ति है। कुछ लोग प्रयोग तो करते हैं। आंख थोड़ी-सी दुःखती है और हरे रंग की पट्टी लग जाती है। जानकार लोग सांप काटे पर भी हरे रंग का प्रयोग करते हैं, हरे रंग की पट्टी लगा देते हैं। हरे रंग का कपड़ा पहन लेते हैं। हरा रंग विष-नाशक होता है। स्वास्थ्य बिगड़ता है, शरीर में जमा होने वाले विषों के कारण। हम लोग विष तो बहुत जमा करते ही हैं, किन्तु उसे निकालना नहीं जानते। आप कोई भी चीज चुन लें खाने के लिए—चाहे दूध या और कुछ। आप तो यही जानते हैं कि दूध अमृत है, पर क्या दूध के साथ-साथ विष नहीं जाता? दूध में भी विष होता है। लोग कहते हैं कि पालक का साग बहुत गुणकारी होता है, पर उसमें भी तो बहुत विष होता है। कोई भी भोजन ऐसा नहीं है कि जिसमें जहर न हो। हर वस्तु में जहर होता है। हर वस्तु मात्रा-भेद से हमारे शरीर में विष पैदा करती है। प्राकृतिक चिकित्सा का तो यह सिद्धांत है कि बीमारी का मतलब है शरीर में विजातीय तत्त्वों का इकट्ठा होना, जहर का इकट्ठा होना। उनके पास एक ही दवा है—एनीमा लो, मिट्टी की पट्टी लगाओ। शरीर में जो विष जमा है, उसे निकाल दो, अपने आप ही ठीक हो जाओगे। बस स्वस्थ होने का यही एक सूत्र है।

'नमस्कार महामंत्र' विष को नाश करने वाला है। 'णमो उवज्झायाणं' का आनन्द केन्द्र पर हरे रंग के साथ ध्यान किया जाता है तो हमारे शरीर में और मन में जमे हुए विजातीय तत्त्व और विषैले परमाणुओं का उत्सर्जन होता है। वे बाहर निकल जाते हैं।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' यह बहुत शक्तिशाली मंत्र है। इसका रंग है नीला। नीला रंग बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। नीला रंग अनेक प्रकार की बीमारियां और मानसिक उलझनों के लिए शायद सबसे शक्तिशाली दवा है। गर्मी बढ़ गई, रक्तचाप बढ़ गया, रंग-चिकित्सा चलती है। किसी रंग चिकित्सा के पास जाएं और पूछें कि रक्तचाप बहुत बढ़ गया तो सीधा सुझाव देगा कि नीले रंग की बोतल में पानी भरो, सूरज की धूप में रखो, चार-पांच घंटे बाद उस पानी की एक औंस मात्रा ले लो, रक्तचाप कम हो जाएगा, गर्मी कम हो जाएगी, यह बीमारी कम हो जाएगी।

जैन आचार्यों ने स्वास्थ्य के लिए दो मंत्रों का चुनाव किया—'णमो लोए सव्वसाहूणं' और उसका दूसरा रूप किया—'सव्वसाहूणं'। इन दोनों का

स्थान है—शक्तिकेन्द्र । हमारे शरीर में शक्ति के तीन विशेष केन्द्र हैं—(१) रीढ़ की हड्डी का निचला हिस्सा, (२) नाभि का भाग और (३) कंठ का भाग । ये शक्ति के तीन बड़े केन्द्र हैं । 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के स्थान का चुनाव भी वह केन्द्र किया गया है, जो शक्ति का सबसे बड़ा भण्डार है । हम भोजन करते हैं, उससे प्राणशक्ति का निर्माण होता है । लीवर, तिल्ली, पेन्क्रियाज, आमाशय, पक्वाशय, छोटी-बड़ी आंतें, नाभिकेन्द्र के आसपास—यहां शक्ति का निर्माण होता है और इसका भंडार होता है रीढ़ की हड्डी के निचले सिर में । वहां उसका स्टोर रहता है और फिर उसका वितरण होता है, उपयोग होता है ।

पीला रंग मनोबल के लिए बहुत जरूरी है । आज के छोटे-छोटे विद्यार्थी आते हैं और कहते हैं कि स्मृति बहुत कमजोर है । बड़ा आश्चर्य होता है कि अभी दुधमुंहे बच्चे और अभी स्मृति बहुत कमजोर ! पर ऐसा होता है । पीला रंग-ज्ञानतंतुओं को, मनोबल को मजबूत बनाने वाला होता है । शरीर-बल के रहने पर भी, बुद्धिबल के रहने पर भी मनोबल कमजोर होता है तो वास्तव में मस्तिष्क स्वस्थ नहीं रहता, बहुत दुर्बल होता है ।

लाल रंग शक्ति का प्रतीक है, स्वास्थ्य का प्रतीक है । लाल रंग टॉनिक होता है । बहुत शक्तिशाली होता है ।

सिद्ध वे होते हैं जो परम शक्ति को उपलब्ध हो गए हैं । 'णमो अरहंताणं' का ध्यान सफेद रंग के साथ हो । स्पैक्ट्रम में सूर्य की किरण के साथ सफेद रंग दिखाई देता है तो वहां सातों रंग रहते हैं, सारी शक्ति समाई हुई रहती है । सफेद रंग में सारी शक्तियां समाई हुई होती हैं । 'णमो अरहंताणं' में वे सारी शक्तियां हैं । इससे मस्तिष्क का संतुलन, मस्तिष्क का विकास होता है । यह सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । आज की नयी वैज्ञानिक खोजों ने कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण बातें बतलाईं । मस्तिष्क के दो हिस्से होते हैं—एक दायां हिस्सा और एक बायां हिस्सा और तीसरा भाग करें तो पीछे का हिस्सा । आज का आदमी शरीर से बीमार क्यों है ज्यादा ? आज का आदमी मन से बीमार क्यों है ? आज का आदमी चरित्र से बीमार क्यों है ? इसका कारण आज का शरीर-शास्त्री, आज के साइकोलॉजिस्ट बतलाते हैं कि जब आदमी का बायां हिस्सा ज्यादा विकसित होता है तो वह ज्यादा भौतिक बनता है, भौतिक आस्थावाला बनता है । उसमें चरित्र की आस्था नहीं होती । उसमें चरित्र का बल नहीं होता । अच्छाइयां आएंगी और अच्छाइयों को

वापस कर देगा। छोटी-सी कहानी है या व्यंग्य है—

सेठ को बुखार आ गया। डॉक्टर को बुलाया, बुखार ठीक कर दी। सेठ ने एक चेक दे दिया। तीन दिन बाद डॉक्टर आया और बोला—'सेठ साहब ! आपका चेक तो बैंक से वापस आ गया। सेठ ने कहा—भई, चिन्ता की कोई बात नहीं है, हमारा बुखार भी वापस आ गया।

अच्छाइयां आती हैं पर वह उन्हें लौटा देता है। हमारे पास शक्तियां भी आती हैं, शक्तियों का अवतरण भी होता है किन्तु हम लौटा देते हैं। उन्हें रखने के लिए हमारे पास ऐसी कोई ताकत नहीं, कोई ऐसी शक्ति नहीं, जिससे आने वाली शक्तियों को हम रिजर्व कर सकें, कोई भंडार भर सकें, सुरक्षित रख सकें। ऐसा कोई साधन नहीं है। 'णमो अरहंताणं' इस शब्द की तरंगों के द्वारा जब ज्ञानकेन्द्र सक्रिय होता है, मस्तिष्क की कोशिकाएं शक्तिशाली होती हैं, और उसमें सफेद रंग सुरक्षित रहता है तो भंडार भरने की ताकत भी बढ़ जाती है।

नमस्कार महामंत्र के पदों, उनके चैतन्यकेन्द्रों और रंगों के बारे में थोड़ी-सी जानकारी दी और उसका किस प्रकार हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के साथ संबंध है, इस विषय में थोड़ा-सा जाना। मैं समझता हूं कि इतना भी बहुत पर्याप्त है। प्रारम्भ में इतना-सा जान लिया जाए तो बहुत सारा जान लिया जाता है। अब उनका कैसे उपयोग किया जाए और स्वास्थ्य के साथ कैसे जोड़ा जाए, यह बताना शेष रहता है। अगर स्वास्थ्य के साथ नहीं जुड़ता तो प्राण के साथ भी नहीं जुड़ता और प्राण के साथ जुड़े बिना कोई भी मंत्र प्रभावी नहीं बनता, शक्तिशाली नहीं बनता। मूल बात है—मंत्र के साथ प्राण को स्थापित कर देना। यह मंत्रशास्त्र का महान रहस्य है। इसे जानने वाला बहुत लाभ उठा सकता है। जो इस बात को नहीं जानता, वह इतना लाभ नहीं उठा सकता। इन छोटी-छोटी बातों को अगर आप जान लें तो बहुत लाभान्वित हो सकते हैं।

इन सारे रहस्यों को आप संकेत मात्र जान सकें तो इस महामंत्र के द्वारा शरीरबल, बुद्धिबल, मनोबल और आत्मबल को अतिरिक्त मात्रा में विकसित करने में सफल हो सकते हैं।

तनाव क्यों ? निवारण कैसे ?

आर्थिक जगत् में साम्यवादी धारा में आस्था रखने वाला व्यक्ति भी अध्यात्म के साथ जुड़ता है तो कोई विरोधाभास जैसा प्रतीत नहीं होता। आज हमारी यही समस्या है कि जीवन में विसंगतियां बहुत हैं, विरोधाभास बहुत हैं।

जीवन-यात्रा के तीन स्तर हैं—विचार, भावना और प्रवृत्ति। इन तीनों के साथ बहुत विसंगतियां हैं और इतनी गहरी विसंगतियां कि जहां संगत जैसा कुछ लगता ही नहीं है। कभी-कभी प्रवृत्तियों में विसंगतियां आती हैं।

एक घटना है छोटी-सी। इसके द्वारा हम मूल्यांकन कर सकते हैं।

गृह मंत्रालय से जेल अधिकारी के पास निर्देश आया कि पुरानी जेल छोटी पड़ रही है। कारावास का नया भवन बनाना है। कुछ ही दिन बीते, दूसरा आदेश आया कि नये भवन बनने में सामग्री लगेगी। अतः पुरानी जेल की जितनी सामग्री है, उसे काम में लेना है। थोड़े दिन बाद तीसरा आदेश आया कि जब तक नया भवन न बन जाए, पुराना भवन नहीं तोड़ना है।

यह कैसी विसंगति है ! नया भवन बनाना है। पुराने भवन की सामग्री काम में लेनी है। नया भवन न बन जाए, तब तक पुराना भवन तोड़ना नहीं है। तो यह केवल आदेश की विसंगति ही नहीं है, हमारे जीवन-यात्रा में पग-पग पर ऐसी विसंगतियां आती हैं। इन विरोधाभासों और विसंगतियों का कारण है तनाव। मानसिक तनाव से भी बड़ा तनाव होता है भावनात्मक तनाव। प्रेक्षा ध्यान की भाषा में हमारा फार्मूला है—उपाधि, आधि और व्याधि। उपाधि का अर्थ है—भावनात्मक तनाव। भावनात्मक तनाव होता है, तब मानसिक तनाव होता है। आधि का अर्थ है—मानसिक उलझनें, मानसिक बीमारियां और जब आधि होती है तो व्याधियां होती हैं, बीमारियां होती हैं। आजकल तो मेडिकल साइंस में भी यह मान लिया गया कि बहुत सारी बीमारियां मनोकायिक होती हैं। हमारी दुनिया में जहां हम स्थूल के आधार पर चलते हैं, वहां अधिकांश चिकित्सा कायिक बीमारियों की होती है। अधिकांश हॉस्पिटल, अधिकांश डिस्पेंसरियां और जो चिकित्सा-गृह हैं, वहां शरीर की बीमारियों का निदान और चिकित्सा ज्यादा होती है।

व्याधियों को मिटाने का प्रयत्न होता है। किन्तु हम इस बात को भी जानते हैं कि जितना प्रयास शारीरिक बीमारियों को मिटाने के लिए हो रहा है, उतनी ही शायद बीमारियां बढ़ती जा रही हैं। इसका कारण बहुत साफ है कि दवा दी जा रही है शारीरिक बीमारी की और दवा दी जा रही है जर्म या कीटाणु के आधार पर, किन्तु यथार्थ में बीमारी भीतर से आ रही है। केवल बाहर की चिकित्सा हो रही है। उसका जो मूल कारण है, उसकी चिकित्सा नहीं हो रही है इसलिए एक बीमारी मिटती नहीं है, दूसरी बीमारी पैदा हो जाती है।

हम व्याधि पर अटकें नहीं। शारीरिक तनाव पर अटकें नहीं। शारीरिक तनाव होता है तो उसके निकालने के बहुत सीधे उपाय हैं। किन्तु तनाव केवल शरीर में ही नहीं है। तनाव मन में भी हो जाता है, मन से परे भावना में भी हो जाता है। तनाव का मूल कारण है भावना। हम चाहते हैं व्यवहार अच्छा हो। एक विद्यार्थी से सब कोई चाहते हैं कि उसका व्यवहार अच्छा हो। अनुशासन हो, चरित्र हो। सब चाहते हैं, सब अध्यापक भी चाहते हैं, परिवार वाले भी चाहते हैं और दूसरे बड़े-बूढ़े सब लोग चाहते हैं। चाहना एक बात है और होना बिलकुल दूसरी बात है। चाहते हैं पर उस चाह के पीछे यथार्थ कितना है, वास्तविकता कितनी है, इस बात पर हम ध्यान नहीं देते। किन्तु मनुष्य का व्यवहार और आचरण दो स्थितियों से प्रभावित होता है। एक है निमित्त, परिस्थितियां, बाहरी वातावरण और उससे भी ज्यादा प्रभावित करते हैं हमारे आन्तरिक कारण। हमारे भीतर कुछ ऐसे कारण हैं और उनमें मुख्य कारण हैं—ग्लैण्ड के स्राव। शरीरशास्त्र की भाषा में जो एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स सिस्टम है, उनके स्राव हमारे व्यवहार और आचरण को ज्यादा प्रभावित करते हैं। सहज ही एक दार्शनिक के मन में, एक विचारक के मन में प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे आचरण का कंट्रोल कौन कर रहा है? तो शायद ईश्वर की भाषा में सोचने वाले इसका उत्तर दे सकते हैं कि इसका नियंत्रण ईश्वर कर रहा है। कर्मशास्त्र की भाषा में सोचने वाले इसका उत्तर दे सकते हैं कि पुराने किए हुए कर्म कंट्रोल कर रहे हैं। ये दोनों बहुत परोक्ष की बातें हैं। परोक्ष की बात में हमारा विश्वास कम बनता है। तो कोई प्रत्यक्ष कारण ढूंढ़ना चाहिए। प्रत्यक्ष कारण खोजें तो हमारे शरीर में ही वह कारण खोजना होगा। और शरीर में उसका कारण है पिच्यूटरी और एड्रीनल ग्लैण्ड। सबसे

ज्यादा हमें प्रभावित करने वाली तीन ग्रन्थियां हैं—एक पिच्यूटरी और दो एड्रीनल । उनके स्राव हमारे व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं ।

जितना भय, जितनी वृत्तियां, अहंकार, लोभ, उत्तेजना, सारे आवेग आवेश, वे पैदा होते हैं एड्रीनल ग्लैण्ड के द्वारा । काम-वासना पैदा होती है गोनार्ड ग्लैण्ड के द्वारा, यानी नाभि के आस-पास । यहां हमारी सारी वृत्तियां जन्म लेती हैं । और उन पर कंट्रोल करने वाला है—मास्टर ग्लैण्ड । पिच्यूटरी का संबंध जुड़ा है पिनियल ग्लैण्ड और हाईपोथेलेमस से । सिर का फ्रन्टल लाब सारा नियंत्रण कर रहा है और सारी अभिव्यक्तियां, जो वृत्तियों की हो रही हैं, वह इसके आस-पास हो रही है । यह नियंत्रण की बात वैज्ञानिक स्तर पर आज का प्रमुख चिंतक या विद्यार्थी ही समझ सकता है । अब दूर जाएं परोक्ष में, तो परोक्ष बड़ा वादविवाद का विषय है । परोक्ष में जहां साक्षात्कार नहीं होता, प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, वहां तर्क और प्रतिपक्ष का चक्र चलता है । पूरा भारतीय दर्शन इस चक्र से भरा पड़ा है । एक ने स्थापना की तो दूसरे ने उसकी उत्थापना की, या दूसरे ने खण्डन किया । यह मंडन-खंडन, स्थापना-उत्थापना, तर्क और प्रतितर्क, वाद और विवाद का पूरा चक्र है । यह एक व्यूह जैसा लगता है । इसका पार पाना भी सामान्य आदमी के लिए कठिन बन जाता है ।

दर्शन का अर्थ था प्रत्यक्ष देखना, जानना, स्वीकार करना । आज तो दर्शन का अर्थ ही बदल गया । विद्यार्थी को विद्यालयों में और विश्वविद्यालयों में जो दर्शन पढ़ाया जाता है, उसे फिलॉसफी कहते हैं, दर्शन नहीं कहते । यदि दर्शन कहा जाए तो शायद उसके साथ न्याय नहीं होगा, क्योंकि वह तो मात्र बौद्धिक है, अनुमान और तर्क की परिकल्पना जैसा । दर्शन वाली बात तो छूट गई ।

प्राचीन काल में ऋषि को द्रष्टा माना जाता था । 'दर्शनात् ऋषिः'—ऋषि वह होता है, जो देखता है । अनुमान करने वाला ऋषि नहीं होता । तर्क करने वाला ऋषि नहीं होता । साक्षात्कार करने वाला ऋषि होता है । उपनिषद् में बहुत सुन्दर कहा गया है कि जब ऋषि समाप्त होने लगे, तब कहा कि ऋषि तो जा रहे हैं, प्रस्थान कर रहे हैं, पीछे से काम कैसे चलेगा ? वे नहीं रहेंगे तो काम कैसे चलेगा ? तब ऋषि के स्थान पर तर्क की स्थापना की और कहा गया कि इस तर्क से तुम्हारा काम चलेगा । यह स्थानापन्न है, मूल नहीं । मूल व्यक्ति से जो काम होता है, वह स्थानापन्न से नहीं होता । आज दर्शन का सारा अवधारण ही बदल गया । हम मात्र बुद्धि के व्यायाम

को दर्शन मानते चले जा रहे हैं। और सबसे बड़ा तनाव का यही कारण बन गया। यथार्थ में जब दर्शन होता है, तब तनाव नहीं होता। जो जानता है, देखता है, वह तनाव से नहीं भरता। जो नहीं जानता, नहीं देखता, वह तनाव से भरता है। विचार के स्तर पर भी कम तनाव नहीं होता। आज वैचारिक स्तर पर कितने तनाव हैं? पारिवारिक जीवन में भी आप अनुभव करें, विचार के स्तर पर कितने तनाव हैं? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति सन्देह करता है, तनाव से भर जाता है। दूसरे व्यक्ति के प्रति संशय, अनास्था करता है, तनाव से भर जाता है। कारण साफ है, मन में सन्देह जन्मा और तनाव पैदा हो गया। जहां परोक्ष हैं, वहां सन्देह होना अनिवार्य है। परोक्ष का मतलब ही है—सन्देह को जन्म देना। प्रत्यक्ष में कोई सन्देह नहीं होता। जानना और देखना—ज्ञाता और द्रष्टा होना, यह तनावमुक्ति का सबसे अच्छा उपाय है।

प्रेक्षा का अर्थ होता है—जानना और देखना। जो जानता है, जो देखता है, वह तनाव से नहीं भरता। तनाव का सबसे बड़ा कारण है अप्रिय-संवेदन। दो प्रकार के संवेदन हैं—एक है प्रियता का संवेदन और दूसरा है अप्रियता का संवेदन। उन दोनों में मूल बात है प्रिय संवेदन। हमारे सारे जीवन के संचालन के केन्द्र में जो तत्त्व है, वह है लोभ। मनोविज्ञान के अनुसार हर व्यक्ति में कुछ मौलिक मनोवृत्तियां होती हैं। जीने की इच्छा एक मौलिक मनोवृत्ति है। काम एक मौलिक मनोवृत्ति है। झगड़ा करना, संघर्ष करना एक मौलिक मनोवृत्ति है। सबमें मूल बात है जिजीविषा—जीने की इच्छा। अब जब जीने का मोह होता है तो सारी वृत्तियां भी जन्म लेती हैं। प्रियता का संवेदन तनाव का संवेदन है। जब प्रियता का संवेदन होता है तो अप्रियता का संवेदन होगा। प्रियता होगी तो अप्रियता होनी जरूरी बात है। हमारे सारे तनाव इस परिधि में हो रहे हैं कि प्रियता का संवेदन हो, प्रिय मिले, प्रिय का वियोग न हो और अप्रियता का योग न हो। बस, सारी तनाव की यह सीमा है। इसी सीमा में सारे तनाव जन्म ले रहे हैं, तनाव प्रकट हो रहे हैं। पर मूल में जो छिपा हुआ कारण कार्य कर रहा है, वह मात्र एक ही है—प्रियता का संवेदन, अप्रियता का संवेदन। अब यह संवेदन है तो भय भी पैदा होगा।

एक आदमी बहुत डरता था। वह समझदार आदमी के पास गया जो मंत्र को जानता था। उसके पास जाकर बोला—मुझे डर बहुत लगता है।

उसने ताबीज बना दिया और बोला—इसको बांध लो। तुम्हारा डर समाप्त हो जाएगा। ताबीज बांध लिया। डर लगना कम हो गया। आया कुछ दिन बाद, पूछा—भई ! अब डर तो नहीं लगता ? उसने कहा—जो काल्पनिक था, वह तो नहीं लगता, किन्तु एक डर और पैदा हो गया। यह निरन्तर मन में भय बना रहता है कि कहीं ताबीज गुम न हो जाए। एक भय तो समाप्त हुआ, दूसरा भय और आ गया।

जब यह दृष्टि मूल में बनी रहती है कि प्रिय का वियोग न हो जाए, अप्रिय का योग न हो जाए, तब भय अनिवार्य है। उस मूल कारण से तनाव पैदा होता है। जब प्रिय संवेदन की भावना है, उसका तनाव भी पैदा होता है। जितने इन्द्रियों के सुख, काम-लोलुपता है, सारे के सारे संयोग हैं, वे न मिलें तब तक मन में चाह बनी की बनी रहती है, तनाव रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आज यह माना गया है कि काम का तनाव सबसे ज्यादा रहता है। जितने तनाव हैं वे अधिक नहीं टिकते। जैसे क्रोध का तनाव, क्रोध आया और दस मिनट के बाद क्रोध शान्त हो गया। तनाव भी शान्त हो गया। किन्तु काम का तनाव तो चौबीस घंटे वर्तमान रहता है। हर मनुष्य में काम का तनाव विद्यमान है और सबसे भयंकर यह तनाव होता है। प्रियता का संवेदन है, इसलिए अहंकार होता है। यह एक बड़ा रस है, कम रस नहीं है। जब अपने वैभव पर, शक्ति पर, अपनी सत्ता और अधिकार पर अहंकार की चेतना जागती है तो आदमी को इतना रस मिलता है कि शायद किसी वस्तु में नहीं मिलता, इतना प्रिय संवेदन होता है। ये सारे तनाव, सारे कषाय, सारे आवेग जन्म ले रहे हैं प्रियता और अप्रियता के संवेदन के द्वारा।

भगवान् महावीर का एक छोटा-सा वाक्य है। उनसे पूछा गया कि इन सारी समस्याओं का बीज क्या ? सारे दुःखों का मूल कारण क्या है ? उन्होंने बहुत संक्षिप्त-सा उत्तर दिया कि 'रागो य दोसो....।' राग और द्वेष, यह कर्म का बीज है। राग है प्रियता का संवेदन, द्वेष है अप्रियता का संवेदन। ये कर्म के बीज हैं और सारे कर्म यहां से जन्म ले रहे हैं।

ये संवेदन प्रभावित करते हैं हमारी ग्रन्थियों को। आज का शरीरशास्त्री इस बात को जानता है कि शरीर का कंट्रोल ग्रन्थियों का स्राव कर रहा है, किन्तु स्राव किस प्रकार होता है और क्यों होता है, इसका कारण अभी तक शरीरशास्त्री भी पूरा नहीं जान पाए हैं। इसीलिए मैं इस भाषा में सोचता

हूं कि आज के विद्यार्थी को कम से कम छह शाखाओं का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। एनेटोमी, फिजियोलॉजी और साइकोलॉजी—ये तीन तो आज भी विद्या की शाखाएं हैं और तीन प्राचीन शाखाएं ये हैं—कर्मशास्त्र, योगशास्त्र और धर्मशास्त्र। इन छह विद्याओं का ज्ञान हो तो एक विद्यार्थी प्रबुद्ध और सफल विद्यार्थी बन सकता है।

शिक्षा के बारे में आज कहा जाता है कि आज की शिक्षा प्रणाली गलत है, विद्यार्थी अच्छे नहीं निकलते। किन्तु हमारा ऐसा सोचता नहीं है। हम इसे स्वीकार नहीं करते। अभी दिल्ली में एक संगोष्ठी हुई। उसमें केन्द्रीय शिक्षा मंत्री, शिक्षा सचिव, यू० जी० सी० के चेयरमैन, एन० टी० आर० सी० के चेयरमैन आदि-आदि संबंधित लोग उपस्थित थे। गोष्ठी चली तो हमने बताया कि सब लोग जो यह कहते हैं कि शिक्षा प्रणाली गलत है, हम इस बात को स्वीकार नहीं करते। अगर शिक्षा प्रणाली गलत है तो आज अच्छे वकील, अच्छे डॉक्टर, अच्छे प्रोफेसर, बोटनी के अच्छे विशेषज्ञ, बायोलॉजी के विशेषज्ञ अपनी-अपनी कला में दक्ष कहां से आए? अगर शिक्षा प्रणाली गलत है तो अच्छे आदमी कहां से आएंगे? यह कहना भ्रान्ति है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि शिक्षा प्रणाली अपना ठीक काम कर रही है। जो तत्त्व दिया गया है, उसका काम तो ठीक हो रहा है किन्तु जिसका बीज बोया ही नहीं और फल की आशा करें और दोष थोपें वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर, यह बहुत गलत बात है। हम आशा करते हैं कि विद्यार्थी में अनुशासन आए, चरित्र आए तो अनुशासन और चरित्र का तत्त्व तो कोई विद्या की प्रणाली में है ही नहीं। और जो पढ़ाया जा रहा है वनस्पतिशास्त्र, पढ़ाई जा रही है केमिस्ट्री, पढ़ाई जा रही है भूगर्भ विद्या और हम आशा करें कि चरित्र आए, अनुशासन आए, कभी नहीं आएगा। विषय ही नहीं है। जीवन विज्ञान की शाखा होती है और विद्यार्थी में चरित्र नहीं आता तो हमें आश्चर्य होता और विद्या प्रणाली को दोषपूर्ण मान लेते। किन्तु वह तत्त्व तो है ही नहीं। हमने बीज ही नहीं बोया और हम आशा करें कि फल लग जाएगा, बड़ी निराशा होगी। हमें इस दृष्टि से विचार करना जरूरी है कि विद्यार्थी को जो पढ़ाया जा रहा है, उसमें तनाव मिटाने की प्रक्रिया जरूरी है। तनाव मिटाए बिना अच्छे व्यवहार और अच्छे आचरण की आशा करना हमारी भ्रान्ति है। हम तनाव को कैसे मिटा सकते हैं? यह धर्मग्रंथों का काम था और पूरा धर्मशास्त्र का विकास इस तनाव-विसर्जन

की प्रक्रिया के लिए ही हुआ था। उसमें भी आज कठिनाई आ गई। ये सारे के सारे धर्मशास्त्र लगभग उपासना-प्रधान बन गए। उपासना पर बहुत बल दिया जा रहा है। धर्मस्थानों में जाना, नमस्कार करना, प्रार्थना कर लेना इस पर तो अतिरिक्त बल दिया जा रहा है। किन्तु अपनी चेतना का रूपान्तरण करना, इस पर कोई ध्यान नहीं और जब तक हमारी चेतना का रूपान्तरण नहीं होता, भीतर में चेतना नहीं बदलती तब कैसे होगा अच्छा व्यवहार और कैसे होगा आत्मानुशासन ? कैसे होगा अच्छा आचरण ? क्योंकि भीतर में जो स्राव आ रहा है और बाहर से जो प्रभाव आ रहा है, वह सारा का सारा एड्रीनल ग्रन्थि से संबंधित ग्रोनार्ड्स से संबंधित ही आ रहा है।

एक प्रश्न पूछा गया भारतीय दर्शन में कि—मैं कौन हूं ? बहुत पूछा जाता रहा है। महर्षि रमण भी कहते, और भी बहुत सारे अध्यात्म के आचार्य कहते रहे हैं। एक बौद्ध साधक अपने गुरु के पास गया और बोला कि मैं जानना चाहता हूं कि मैं कौन हूं। तो गुरु ने चांटा मार दिया। फिर गया अपने बड़े गुरु के पास और जाकर बोला कि मैं गया था गुरु के पास और जाकर बोला कि मैं कौन हूं ? उन्होंने एक चांटा जमा दिया। तो गुरु ने डंडा उठाया और बोले, उन्होंने तो चांटा ही मारा, मुझसे पूछता तो मैं डंडा मारता। यह भी कोई पूछने की बात है कि मैं कौन हूं ? स्वयं खोजो मैं कौन हूं ?

'मैं कौन हूं,' इसकी यहां बहुत चर्चा हो रही है। मैं इसे दूसरी दृष्टि से सोचता हूं। 'मैं कौन हूं,' यह नम्बर दो का प्रश्न है। पहले नहीं होना चाहिए। पहले यह होना चाहिए कि 'मैं कहां हूं ?' यह सबसे पहला प्रश्न है और सबसे महत्त्व का प्रश्न है। प्रश्न होना चाहिए—मेरी चेतना कहां है ? अगर हमारी चेतना नाभि के आसपास परिक्रमा कर रही है तो कितना ही कोई पढ़ जाए, पढ़ने का अर्थ कम होगा।

अभी दिल्ली में एक दिन डॉ० डी० एस० कोठारी, जो हिन्दुस्तान के बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं, उनके साथ फिजिक्स के कई प्रोफेसर और दूसरे लोग आ गए। बातचीत हो रही थी, आचार्यश्री के सामने। मैंने डॉ० कोठारी से पूछा—यह बात समझ में नहीं आ रही कि आजकल वैज्ञानिक आत्महत्या बहुत करने लग गए हैं। वे पदोन्नति को लेकर या ऐसे ही सामान्य कारण से आत्महत्या कर लेते हैं। इतने बड़े विद्वान् वैज्ञानिक आत्महत्या कर लेते हैं,

इसका कारण क्या है ? उन्होंने कहा—कर तो रहे हैं, कारण आप ही बताएं। मैंने कहा—मुझे लगता है कि बौद्धिक विकास का और आचरण का कोई संबंध नहीं है। बड़े से बड़ा विद्वान् और बड़े से बड़ा बौद्धिक व्यक्ति आचरण के मामले में जीरो हो सकता है और एक बिलकुल अनपढ़ आदमी आचरण के मामले में पारगामी हो सकता है। आचरण का बौद्धिकता से कोई सम्बन्ध नहीं लगता। बुद्धि का ऐसा खेल है कि समस्या पैदा करना और समस्या का समाधान देना। नयी समस्याएं पैदा करना और नये समाधान देना।

बुद्धि का काम है—समस्याओं को जन्म देना और फिर समस्याओं का समाधान खोजना। समस्या और समाधान। फिर समस्या और समाधान। यह चक्र चलता रहता है। आज का जगत् बौद्धिक जगत् है, वैज्ञानिक जगत् है। मैं कोई कटाक्ष नहीं कर रहा हूं, क्योंकि मेरा भी यह विषय रहा है और आचार्य के अनुग्रह से मुझे इस बौद्धिकता के क्षेत्र में, शास्त्रों के अध्ययन के क्षेत्र में बहुत अवसर मिला है। अध्ययन के बाद मैंने अनुभव किया कि हम बुद्धि की सीमा में ही अटक जाते हैं। यह सबसे बड़ा दुर्भिक्ष है, दारिद्र्य है।

गीता में कहा—इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

इन्द्रियां पर हैं और इन्द्रियों से पर है—मन। मन से परे है—बुद्धि। और बुद्धि से परे है परमात्मा। इन्द्रिय-चेतना, मनःचेतना और बुद्धि की चेतना—इन तीनों स्तरों में हम लोग जी रहे हैं। और चौथा स्तर जो बुद्धि से परे है, वह है महान्। वह है परमात्मा, परमेश्वर। चाहे कुछ भी कहें, सारी जो अतीन्द्रिय चेतना है, वह बुद्धि से परे है। हमने तो सीमा मान ली है, इस सीमा से आगे बुद्धि नहीं है। इस सीमा-बोध ने युगबोध को बदल दिया। सीमा-बोध के कारण सारी अवधारणा बदल गई, इसलिए हम तनाव से भरते चले जा रहे हैं।

हम रुकें नहीं, सीमा न मानें। सीमा मानना बड़ा खतरनाक होता है। हम संभावना को मानकर चलें।

मुझे जिस आचार्य का अनुग्रह मिला और जिससे विद्यादान मिला, वे हैं आचार्य तुलसी। उनसे एक बात बचपन से ही सीखी कि संभावना की स्वीकृति होनी चाहिए। संभावना को कभी समाप्त नहीं करना चाहिए। हम

लोग बहुत जल्दी संभावना को समाप्त कर देते हैं और नकारने में बहुत रस लेते हैं। यह निषेध ओर नकार दोनों ही नहीं चाहिए। हमारी स्वीकृति आगे से आगे चली जाए। अगर हम संभावना को स्वीकार करते हैं तो कहीं अवरोध नहीं आता। यह बुद्धि की सीमा और उससे आगे नकारने की बात, इससे सारे भारत का दर्शन ही बदल गया। आत्मा नहीं है, कोई सामने नहीं है। परमात्मा नहीं है, कोई सामने नहीं है। न तो आत्मा से मिलने वाली शक्तियां मिल रही है और न परमात्मा से मिलने वाली शक्तियां मिल रही हैं, क्योंकि जब नकारते हैं तो फिर शक्तियां कहां से मिलेंगी ? स्वीकृति का जो नियंत्रण था, वह भी हमारे हाथ से चला गया।

आज के युग के विद्यार्थी के सामने विज्ञान ने इतने सूक्ष्म तथ्य प्रस्तुत कर दिए कि अब केवल स्थूल तथ्यों को सोचने-समझने से काम नहीं चलेगा। आज 'माइक्रोफिल्म' की बात हो रही है। अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र में स्थान नहीं है कि जहां करोड़ों पुस्तकें रख सकें, सारी लाइब्रेरियां भर गईं और अब भी पुस्तकें आ रही हैं तो अब क्या करें ? माइक्रोफिल्म की बात सोची गई। इतनी सूक्ष्म प्रतिलिपियां जिनसे जगह कम रुके, अवगाहन ज्यादा हो जाए। सूक्ष्म जगत् की इतनी घटनाएं हमारे सामने आ रही हैं, वहां हम स्थूल जगत् में ही न सोचें। यह निश्चित मानकर चलें कि बुद्धि से परे अनन्त सचाइयां हैं। हमारी बुद्धि उन्हें नहीं पकड़ सकती। आस्था पर हम आ जाते हैं तो तनाव को कम करने की बहुत सहज सामग्री हमें उपलब्ध हो जाती है, विचार के स्तर पर भी, भावना के स्तर पर भी और शारीरिक स्तर पर भी और यदि हम सीमा मानकर बैठ जाएं कि बुद्धि के परे कुछ भी नहीं है, 'मैं सोचता हूं', वही सत्य है, तो तनाव को विकसित होने का बहुत अवसर मिलेगा।

तनाव-विसर्जन के कुछ वैचारिक कारण हैं, कुछ भावनात्मक कारण हैं और उनके साथ जुड़ा हुआ है सूक्ष्म सत्य का स्वीकार। भारतीय विद्यार्थी में एक नयी आस्था का निर्माण होना चाहिए। यह कोई अंधविश्वास नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। अंधश्रद्धा को तो मैं स्वीकार नहीं करता। कुछ लोग कहते हैं कि पहले श्रद्धा होती है, बाद में ज्ञान होता है। मैंने इसका खंडन किया है कि पहले ज्ञान होता है और ज्ञान के बाद श्रद्धा होती है। पहले श्रद्धा होती नहीं। श्रद्धा कैसे होगी ? नयी आस्था का निर्माण होना चाहिए और वह यह है कि सत्य बुद्धि तक सीमित नहीं है। उससे परे बहुत है। बुद्धि में समाने

वाला सत्य पांच प्रतिशत है तो पिचानवे प्रतिशत सत्य बुद्धि से परे है। इस एक आस्था का निर्माण हो जाए और वैज्ञानिक स्तर पर हो जाए तो बहुत सारे वैचारिक तनाव भी समाप्त होंगे। भावनात्मक तनावों को समाप्त करने की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि भी निर्मित हो जाएगी।

तनाव क्यों होता है? उसके कारण क्या हैं? और उन कारणों को कैसे मिटाया जा सकता है? इसकी संक्षिप्त चर्चा मैंने प्रस्तुत की है। आदमी जैसे-जैसे तनाव से मुक्त होता जाएगा, उसमें व्यवहार और आचरण की पवित्रता आती जाएगी।